Gurumandal Series...No. X.

# NIRUKTAM

## ( NIGHANTU )

BY


Maharshi Yaskacharya


WITH A
COMMENTARY BY


Pandit Devaraja Yajvan


Volume I.


FIRST EDITION 5000

5, Clive Row,
Calcutta.

Vikram Era. 2009 Christian E 1952

# PREFACE.

Language had become an object of wonder and ditation with the Aryans in India at a very early iod. Only two nations of the world viz., India d Greece are credited by Max Muller with having nceived the science of Grammar independently each other. The facts of language were culled these Aryan forefathers of ours and used for guistic generalisations were recorded in NIRUKTA Yaska who deals with Vedic etymologies. The GHANTUKA is the first part of the NIRUKTA, in hich synonymous words are taught. This part gins with GAUH and ends with DEVAPATNIS y friend Shri B D. Trivedi has published this GHANTU in the present booklet for the use of. ung students, who may desire to commit it to emory to facilitate a deeper study of NIRUKTA at later age. As NIRUKTA is one of the six VEDANGAS study is necessary for the understanding of the eda seven from the modern point of view. Shri rivedi, therefore, deserves our best thanks for the ublication of the present booklet which besides elping all students of Vedic literature, aims at opularising our Sacred Books. A close study of hich will not fail to inspire the younger generation Indians to noble ways of thought and life most eeded for the regeneration of our Bharatavarsa.

handarkar Oriental
Research Institute
Poona 4
1st July, 1952.

P. K. GODE

पहले ज्ञान प्राप्त कर लेना परमावश्यक है। मुण्डकोपनिषद्
है :—"द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति
परा च। तत्र अपरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शि
व्याकरणं छन्दो ज्योतिषं निरुक्तः। अथ परा यया तदक्षरम्
धर्मज्ञान के साधन षडंग सहित वेद अपरा वि
परमपुरुषार्थ ब्रह्मज्ञान के विकासक उपनिषद् भाग को
ही माने।

# प्राक्कथन



—:o:—

"ब्राह्मणेन निष्कारणं षडङ्गोवेदोऽध्येयोज्ञेयश्च"

—(::)—

भारतीय अध्ययन-क्रम सबसे प्रथम वेद को पढ़ना जानना बताता है। यथा, "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" वेद पढ़ना चाहिए। यह पाठ्यविधि है। मानवीय धर्मशास्त्र में कहा है "योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्। स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥" जो द्विजाति वेद न पढ़ कर केवल अन्य साहित्यों का अध्ययन करता है वह सकुटुम्ब शूद्रत्व प्राप्त करता है अर्थात् वेद विहित कर्म करने का अधिकारी नहीं होता है। वेद विद्या के अध्ययन से दैवीबल विकास होकर सम्पूर्ण शास्त्र, विज्ञान, साहित्य, कला आदि के प्रचुर विज्ञान की क्षमता और विद्वज्जीवनी की पात्रता हो जाती है। भारतवर्ष की शिक्षणप्रणाली वेदाध्ययन से प्रारम्भ होती है। वेदार्थ का ज्ञान अति गम्भीर होने से "शिक्षा कल्पोऽथ व्याकरणं निरुक्तं छन्दोज्योतिषं" इन छे अङ्गों का

पहले ज्ञान प्राप्त कर लेना परमावश्यक है। मुण्डकोपनिषद् में कहा है :—"द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च। तत्र अपरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।" धर्मज्ञान के साधन षडंग सहित वेद अपरा विद्या बताये गये हैं। परमपुरुषार्थ ब्रह्मज्ञान के विकासक उपनिषद् भाग को 'पराविद्या' संज्ञा दी गई।

शिक्षाः—"आत्मबुद्ध्या समेत्यार्थान्" इत्यादि से वर्णों के उच्चारण क्रम जिसमें बताया गया है उस को शिक्षा कहा है। तैत्तिरीय में "अथ शिक्षां व्याख्यास्यामः" इस शिक्षाध्याय में वर्ण स्वर का उच्चारण बताया है। सबसे प्रथम किसी मन्त्र के पूर्ण ज्ञान के लिये वर्ण स्वर का उच्चारण-क्रम भलीभांति जानलेना चाहिये। ... व्याकरण पर हमारे एक मित्र ने लिखा है कि उन्होंने ४० वर्षों ... में समय लगाया और उन्होंने मुख के किस स्थान को कितना ... कितना विकास कर तथा जिव्हा का आकुञ्चन संकोचन तत्स्थान स्पर्श ... विधान दिखा कर प्रत्येक वर्ण के सचाररूप से उच्चारण प्रकारकी प्रक्रिया बताई है। वस्तुतः वर्ण और शब्द का उच्चारण का ... और मन्त्र की मौलिक मर्यादा है "मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्।" अशुद्ध उच्चारण कियागया मन्त्र प्रयोगकर्ता के लिये हानिकर सिद्ध हुआ है। यहां यह भी ध्यान रखना चाहिए कि आज्ञा के देनेवाले महानुभाव पूर्ण विद्वान् सर्वतन्त्रस्वतन्त्र और निःस्वार्थ

ें जिससे किसी प्रकार की हानि न हो। जैसे वृत्राछर में "इन्द्र त्रुर्वधस्व" में अपने लिये ही पूर्ववद् प्रकृति स्वरतत्र रख कर घातकता ना ली। सबसे प्रथम स्वरवर्ण का उच्चारण समझना परमावश्यक : शिक्षा का मुख्य अर्थ वर्णस्वर का उच्चारण है।

कल्प :—किस मन्त्र को किस कार्य में कल्पना की जाती है इस वेधि का ज्ञान जिससे होता है उसे कल्प कहते हैं। जैसे, आश्वलायन हल्प, बौधायन कल्प, आपस्तम्ब आदि ये कल्प हैं। इन में जिस यज्ञ में जस कर्म में जो मन्त्र लगाया जाता है, उसका वर्णन है।

व्याकरण :—शब्द की प्रकृति और प्रत्यय के संयोग का उपदेश पद का स्वरूप, पदार्थ का निश्चय व्याकरण से प्राप्त होता है। आज तक भी पाणिनीयादि व्याकरण के आविर्भावकों की शैली पदार्थ निरूपण में प्रयोग की जाती है। कहा भी है :—

"छन्दःपादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥
शिक्षाघ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात्साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥

इस श्लोक में वेद की मूर्त्ति का वर्णन है। साङ्गवेदाध्ययन से ब्रह्मलोक की प्राप्ति शास्त्र ने बतलाई है।

निरुक्त :—"वर्णागमो वर्ण विपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ। धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्।" उक्त परिभाषा निरुक्त को पञ्चलक्षणात्मक बताती है जिसका आगे विशदीकरण करेंगे। गो शब्द से देवपत्नी शब्द तक निघण्टु का क्रियाकलाप है। किसी

शब्द के अर्थज्ञान में दूसरे व्याकरणादि की अपेक्षा के बिना स्वयं
के प्रकट करने को निरुक्त कहा है। गो शब्द से प्रारम्भ कर दे
शब्द तक जो समाम्नाय है उसे यास्क ने निरुक्त संज्ञा दी
जैसे, इतने पृथ्वी के नाम इतने हिरण्यादि के नाम आदि। यास्काचा
निरुक्त तीन काण्डों में बताया है। निरुक्त :—(१) निघण्टु, (२) नै
(३) देवता यह पञ्चाध्यायी निरुक्त है।

छन्द :—इस में अक्षरों से छन्द बने हैं। किस देवता की स्
प्रधानतया किस छन्द में हो यह विधान है "छन्दश्छादनात्" छन्द
ज्ञान वेदार्थज्ञान का अविभाज्य अंग है जिसका ज्ञान न होने से मनु
को अज्ञानी लिखा है।

ज्योतिष—"वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत" यज्ञ का काल, उपयु
उचित अनुचित समय का ज्ञान और ग्रहगति से भौमान्तरिक्ष उत्पात
तन ज्योतिष से होता है। ज्योतिष ही प्रकाश रूप महाज्योति है।

सम्पूर्ण शब्दराशि नाम, आख्यात, निपात और उपसर्ग इन चा
भागों में रहती है। नाम संज्ञा को कहते हैं। निरुक्त प्रत्येक नाम
निर्वचन करता है। यास्काचार्य "नामान्याख्यातजानि" कह
निर्वचनक्रम निर्देश करते हैं। जैसे, अग्नि शब्द है इसका आख्यातज
वचन है "अग्निः अग्रणी भवति" आदि है। संज्ञा आख्यात (क्रिया)
होते हैं। इससे यह निष्कर्ष आया कि अर्थ के ज्ञान में निरपेक्षतया
... यह निरुक्त का लक्षण है "अर्थावबोधे निरपेक्षतया
...पदजातम्" छान्दोग्य उपनिषद् में आया है "स वा एष
...ष निरुक्तं हृद्ययमिति तस्माद् हृदयम्" ८।३।३।

अर्थ के ज्ञान में दूसरे की सहायता बिना जो अर्थ को प्रगट करना होता है उसे निरुक्त कहते हैं। इसी तरह ओङ्कार का निर्वचन किया गया। "आप् धातु" से ओङ्कार बना सर्वमाप्नोतीती ओङ्कारः। स्मृतियों में भी बहुत ऐसे शब्द हैं जिनका अर्थ बिना निरुक्त के नहीं हो सकता। जैसे, "मांस भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम्। एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः" इति मांसस्य निर्वचनम्। मांस का निर्वचन कौत्स ने किया है, मांसम्-माननं वा मानसम् वा मनोऽस्मिन् सीदति वा। दूसरे स्थान पर मनु में आया है :— "श्राद्धभुक् वृषलीकल्पम्" इस में वृषली शब्द स्त्री का वाचक है। यास्क ने इस शब्द का यह निर्वचन किया है :—"वृषली वृषशीलो भवति वा वृषाशीलो वा" इसलिये वृषली का अर्थ व्यभिचारिणी हुआ। इसी प्रकार महाभारत में भी आया है "महत्त्वाद् भारतत्वाच्च महाभारत-मुच्यते" निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते"। महाभारत काल में भी स्वतत्र अर्थ में निरुक्त का ही आश्रय लिया है वहीं मोक्षधर्म में अर्जुन ने पूछा है :—

"भगवन्! भूतभव्येश सर्वभूतसृगव्यय!
लोकधाम जगन्नाथ लोकानामभयप्रद ॥
यानि नामानि ते देव! कीर्त्तितानि मनीषिभिः।
वेदेषु सपुराणेषु यानि गुह्यानि कर्मभिः ॥
तेषां निरुक्तं तत्त्वेन श्रोतुमिच्छामि केशव!
नह्यन्यो नाम्नां निरुक्तं त्वामृतेप्रभो ॥"

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा "गौणानि तत्र नामानि

शब्द के अर्थज्ञान में दूसरे व्याकरणादि की अपेक्षा के बिना स्वयं अर्थ के प्रकट करने को निरुक्त कहा है। गो शब्द से प्रारम्भ कर देवपत्नी शब्द तक जो समाम्नाय है उसे यास्क ने निरुक्त संज्ञा दी है। जैसे, इसमें पृथ्वी के नाम इसके हिरण्यादि के नाम आदि। यास्काचार्य ने निरुक्त तीन काण्डों में बताया है। निरुक्त :—(१) निघण्टु, (२) नैगम, (३) दैवत यह पञ्चाध्यायी निरुक्त है।

छन्द :—इस में अक्षरों से छन्द बने हैं। किस देवता की स्तुति प्रधानतया किस छन्द में हो यह विधान है 'छन्दश्छादनात्' छन्द का ज्ञान वेदार्थज्ञान का अविभाज्य अंग है जिसका ज्ञान न होने से मनुष्य को अज्ञानी लिखा है।

ज्योतिष—"यमग्ने पाप्मनां-प्रोपार्जयति" यज्ञ का काल, पुण्यकाल, उचित अनुचित समय का ज्ञान और ग्रहगान से भौमान्तरिक्ष उत्पात का ज्ञान ज्योतिष से होता है। ज्योतिष ही प्रकाश रूप महज्ज्योति है।

सम्पूर्ण शब्दराशि नाम, आख्यात, निपात और उपसर्ग इन चार भागों में रहती है। नाम संज्ञा को कहते हैं। निरुक्त प्रत्येक नाम का निर्वचन करता है। यास्काचार्य "नामान्याख्यातजानि" कह कर निर्वचनक्रम निर्देश करते हैं, जैसे, अग्नि शब्द है इसका आख्यातज निर्वचनक्रम है 'अग्नि अग्रणी भवति' आदि है। संज्ञा आख्यात (क्रिया) से बनी है। इससे यह निष्कर्ष आया कि अर्थ के ज्ञान में निरपेक्षतया पद जहाँ कहा गया यह निरुक्त का लक्षण है "अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्" छान्दोग्य उपनिषद् में आया है "स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तं हृद्ययमिति तस्माद् हृदयम्" ८।३।३।

अर्थ के ज्ञान में दूसरे की सहायता बिना जो अर्थ को प्रगट करना होता है उसे निरुक्त कहते हैं। इसी तरह ओङ्कार का निर्वचन किया गया। "आप्ॡ धातु" से ओङ्कार बना सर्वमाप्नोतीती ओङ्कारः। स्मृतियों में भी बहुत ऐसे शब्द हैं जिनका अर्थ बिना निरुक्त के नहीं हो सकता। जैसे, "मांस भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यम्। एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः" इति मांसस्य निर्वचनम्। मांस का निर्वचन कौत्स ने किया है, मांसम्-मानन वा मानसम् वा मनोऽस्मिन् सीदति वा। दूसरे स्थान पर मनु में आया है :— "श्राद्धभुक् वृषलीकल्पम्" इस में वृषली शब्द स्त्री का वाचक है। यास्क ने इस शब्द का यह निर्वचन किया है :—"वृषलो वृषशीलो भवति वा वृषाशीलो वा" इसलिये वृषली का अर्थ व्यभिचारिणी हुआ। इसी प्रकार महाभारत में भी आया है "महत्त्वाद् भारतत्वाच्च महाभारत-मुच्यते" निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते"। महाभारत काल में भी स्वतंत्र अर्थ में निरुक्त का ही आश्रय लिया है यही मोक्षधर्म में अर्जुन ने पूछा है :—

"भगवन्! भूतभव्येश सर्वभूतसृगव्यय!<br>
लोकधाम जगन्नाथ लोकानामभयप्रद॥<br>
यानि नामानि ते देव! कीर्तितानि महर्षिभिः।<br>
वेदेषु सपुराणेषु यानि गुह्यानि कर्मभिः॥<br>
तेषां निरुक्तं त्वत्तोऽहं श्रोतुमिच्छामि केशव!<br>
नह्यन्यो वर्णयेन्नाम्नां निरुक्तं त्वामृते प्रभो॥"

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा "गौणानि तत्र नामानि

कर्मज्ञानिच यानि सत्! निरुक्तं कर्मजानां त्वं शृणुष्व प्रयतोऽनघ!" कहते हैं हे निष्पाप! कर्म से जो नाम उत्पन्न हुए हैं उन्हें तुम सुनो। यथा; यास्क के मत में नाम आख्यातज हैं इस से आगे कहते हैं :—

> "नराणामयन ख्यात मिद् मेकः सनातनः।
> आपो नारा इति प्रोक्ता आपोवैनरसूनवः।
> अयनं तस्य तत्पूर्वमतो नारायणोह्यहम्।"

कात्यायन के मत में "नाम धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे।" नाम और आख्यात उपसर्ग और निपात यह जिस में होते हैं उसे निरुक्त कहते हैं। निरुक्त पञ्चाध्यायी है। यह गवादि शब्द से देवपत्नी तक पांच अध्यायों में विस्तृत है। यह पहले बता दिया गया है। वैदिक मन्त्र पदों के अर्थज्ञान के हेतु यास्क ने समाम्नायः समाम्नातः सव्याख्यातव्यः इत्यादि त्रयोदशाध्यायात्मक निरुक्त की रचना की है।

निरुक्त के बिना वेदार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। पञ्चाध्यायी निघण्टु भागत्रय भवाध्याय निरुक्त के आश्रय से वेद के मन्त्रों का ज्ञान होता है। समाम्नाय को निघण्टु कहते हैं। आगे लिखा है, "निगमाः इमे भवन्ति छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य" निगमा अर्थात् निश्चय से वे निगूढार्थक हैं "तानि गवादिदेव पत्न्यन्त नामानि छन्दोभ्यः समाहृत्य" मन्त्रों से लेकर चयन किया है जैसे, महर्षि यास्क ने कहा है :— साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्यः असाक्षात्कृतधर्मभ्यो उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादु. उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरेभ्योविल्मग्रहणाय इमं ग्रन्थं समाम्नासिषु वेदं च वेदाङ्गानि च"। उपरोक्त उपदेश से यह ज्ञान हुआकि प्रत्येक कल्प में वेद मन्त्र आकाश में बिखरे हुए थे अर्थात् ईश्वर के अनादि

निःश्वासरूप यह वेदराशि नादात्मक वीचि तरङ्गों में दिव्य आकाशमण्डल में लहरा रही थी इनको कृतधर्मा ऋषियों ने पाया। इन विकीर्ण मन्त्रों को एकत्र कर निघण्टु बना कर अध्ययनाध्यापन द्वारा विस्तार किया गया। पहले इनको ब्राह्मणग्रन्थों में समाम्नान किया। ब्राह्मणग्रन्थ भी जब वेदार्थ ज्ञान में पर्याप्त न हुए तब इनको निरुक्तादिग्रन्थों में समाम्नान किया। निरुक्तादि कहने से वेद के छे अङ्गों के बीजभूत षडङ्ग हुए। जैसा पहले कह चुके हैं शिक्षा से स्वरवर्ण का ज्ञान कल्प से मन्त्रों का विनियोग, व्याकरण से विभक्ति आदि का ज्ञान, वेदबोधित कर्म करने का काल का परिज्ञान ज्योतिष से तथा मनुष्यों के शुभाशुभ कर्म विपाकादि अध्ययन विधि को जानने के लिये छन्द और इसी प्रकार शब्द निर्वचन के लिये निरुक्त है "ना निरुक्तविद्ध्याकुर्यात्"। साथ ही शब्द लक्षण परिज्ञान का मूल व्याकरण ही है। यह शब्दार्थपरिज्ञान आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक धर्मार्थ काम मोक्ष रूप पुरुषार्थ बिना निरुक्त के नहीं हो सकता है। इस से स्पष्ट हुआ कि अर्थ परिज्ञान के लिये निरुक्त ही प्रधान है। इस तरह सम्पूर्ण शब्दराशि नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात लक्षणात्मक है। नाम जो हैं आख्यातज हैं कोई कोई अनेक धातुओं से भी बने हैं। आख्यातज में भावप्रधान होता है। नाम में सत्त्व की प्रधानता होती है। नाम का उपदेश जैसे निरुक्त में कहा है गौ इत्यादि २१ पृथ्वी के नाम१५ हिरण्य के नाम बताये हैं। उसके आगे १२ धातु गमनार्थक हैं इस तरह बतलाया है कि यह नाम है और यह आख्यात है इस लिये नाम और आख्यात के लक्षण निरुक्तकार ने बतलाये हैं। कहा है "सुपयां ह् सुपदेशस्य भान्तं यान्ति पृथक्त्वशः। लक्षणेन तु सिद्धाना यन्तं यान्ति विपश्चितः॥"

"भावप्रधानमाख्यातं सत्त्वप्रधानानि नामानि" यास्काचार्य ने शब्द के निर्वचन करने में शब्दों को तीन वृत्तियों में रखा है; परोक्ष, अति परोक्ष और प्रत्यक्ष। "परोक्ष प्रिया हि वै देवाः।" इसलिये जितने नाम हैं उनका निर्वचन निरुक्त से ही होगा। "तदाख्याभी निघण्टोरपि निरुक्तमुदाहरिष्याम्"। तो प्रत्येक शब्द का निर्वचन निरुक्त से ही होता है। यद्यपि निरुक्त का प्रथम काण्ड नैघण्टुक काण्ड लिखा है परन्तु उस में निघण्टु के एक दो शब्द का निर्वचन कहा गया है। आरम्भ में, "समाम्नायं निघण्टव इत्याचक्षते, निघण्टवः कस्मान्निगमा इमे भवन्ति, छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नातास्ते निगन्तव एव सन्तो निगमना-न्निघण्टव उच्यन्त इत्यौपमन्यवः अपि वाऽऽहननादेव स्युः समाहृता भवन्ति।"

अर्थात् नामाख्यात उपसर्ग निपातात्मक शब्दराशिको मन्त्रों से एकत्र कर निघण्टु की रचना की गई है। निघण्टु शब्द अति परोक्षवृत्ति का है। शब्द की तीन प्रकार की वृत्ति होती है—(१) अतिपरोक्ष, (२) परोक्ष और (३) प्रत्यक्ष। यह ज्ञान निरुक्त शास्त्रगम्य है। शब्द को अतिपरोक्ष वृत्ति से प्रथम परोक्षवृत्ति में लाया जाता है तब प्रत्यक्षवृत्ति में लाकर निर्वचन अर्थात् निरोक्य वचन निर्वचन उसे भली प्रकार देखकर अर्थाकारवृत्ति में लाना होता है। कहा भी है "परोक्षप्रियाः हि देवाः" वेदों में देवताओं का संस्तवन प्रायः परोक्षवृत्ति में हुआ है। उदाहरणार्थ, निघण्टु, अतिपरोक्षवृत्ति में इसका परोक्षवृत्ति में निगमाः यह स्वरूप होता है प्रत्यक्षवृत्ति में निगमयितारः अर्थात् प्रत्यक्षवृत्ति में क्रिया उसके अन्तर्गत रहती है। परोक्ष एवं अतिपरोक्षवृत्ति में निर्वचन से ही अर्थ प्राप्ति होती है इस कारण वेदार्थ परिज्ञान बिना निरुक्त के

अप्राप्य है जैसे, निघण्टवः यह अतिपरोक्षवृत्तिगत अर्थ है। इसी शब्द को निगन्तव यह परोक्षवृत्ति हुई और "निगमयितारः" यह प्रत्यक्षवृत्ति है। निरुक्त के लक्षण में ऊपर लिखा है "वर्णागमो वर्ण विपर्यय" इत्यादि व्याकरणशास्त्र में उणादि प्रकरणगत शब्द परोक्षवृत्ति कह कर "अव्ययाला उणादयः" यह बताया भी है। अनेक क्रिया होने पर भी किसी एक क्रिया को लेकर शब्द का निर्वचन केवल निरुक्त शास्त्रगम्य है यहाँ समाहृता प्रत्यक्षवृत्ति में "समाहृताः" एकत्र करने के अर्थ में गौ आदि से देवपत्न्यन्त का संकेत है। शब्दराशि आकाश में अनन्त है। उन में से कुछ शब्द मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने एकत्र कर निघण्टु बनाया है। एक अभिधान में अनेक धातुओं का निर्वचन किस प्रकार हुआ इस पर कहा है :—"नामान्याख्यातजानि" नाम सब आख्यात से बने हैं यह निरुक्त का सिद्धान्त है जो उसका क्रियापद है उससे परोक्षवृत्ति से लेकर निर्वचन प्रकार बताया है। जो रूढ़ शब्द हैं वहां भी जो रूढ़िप्रयुक्त शब्द हैं उन्हें जो धातु रूढ़िपद के अर्थ को बताती है उसे लेकर निर्वचन करना बताया है।

निघण्टु के शब्दों का निर्वचन निरुक्त में किया है। वेद में जिन शब्दों का समाम्नान हुआ उनका निर्वचन वेदार्थ के अति निगूढ़ होने से किया गया। वेद शब्द किस का वाचक है समास से प्रथम उसका निर्देश यह है "विद्यन्ते ज्ञायन्ते प्राप्यन्ते धर्मादिपुरुषार्थाः इति वेदाः।"

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते। एनं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता"। प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणों से जिस वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता उस अव्यक्त ब्रह्म का ज्ञान जिससे होता है वह

द शब्दवाच्य है। शास्त्र शब्द का भी प्रधान अर्थ वेद शब्द से ी है।

"अनेक संशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम्। सर्वस्यलोचनं शास्त्रं स्यनास्त्यन्ध एव सः" सम्पूर्ण प्रकार के संशय को छेदन कर परोक्ष न्द्रियातीत तत्त्वका ज्ञान जिस से होता है वही शास्त्र है। इसी को गवद्गीता में "दिव्यं ददामि ते चक्षुः" दिव्य चक्षु वेद को कहा है। पौरुषेय वाक्य भी वेद को बताया है अर्थात् परमेश्वर के नि:श्वासरूप से ाविर्भूत शब्दराशि वेद है।"स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" स्वाध्याय भी वेद को कहा है। श्रुति शब्द भी वेद का ही वाचक है "श्रुति स्तु वेदो विज्ञेयो धर्म-ास्त्रं तु वै स्मृतिः" श्रुति का अर्थ है वह नाद रूप अव्यक्तशब्द जिन्हें दिव्याकाश में सनातन सम्प्रदृष्टा ऋषियों ने सुने हैं। "श्रुतिस्मृत्युदितकर्मसमनुतिष्ठन्ति ानवाः" श्रुति से वेदप्रतिपाद्य यज्ञादि कर्मका अनुष्ठान से तात्पर्य है, तः जैमिनि ने भी बताया है "आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्" वेदमन्त्र ादिक्रिया के बोधक हैं जिन से देवता शक्ति का साक्षात्कार होता है याय "उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं दिकी श्रुतिः।"

वेद के स्वरूप निर्णय में बौधायन ने मन्त्र ब्राह्मण को वेद द से बोधित किया है "मन्त्रब्राह्मणमित्याहुर्वेदशब्दं महर्षयः। "नियोगस्यकर्तव्य समन्त्र इति कथ्यते॥ विधिस्तुतिकरं शेषं ब्राह्मणं प्रचक्षते हि।" मन्त्रभाग और ब्राह्मणभाग दोनों को वेद कह कर जिन न्त्रों को कर्म (यज्ञादि) में विनियोग किया गया है वे मन्त्र कहे गये र देवताओं की स्तुति आदि भाग ब्राह्मण कहा गया है। निरुक्त में तो

कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे" अन्य भाग को [illegible] निर्वचन का कारण कहा है। वेद चार भागों में कहा गया है—"ऋक्पादबद्धो गीति स्तु सामगद्यं यजुर्मय। एवं चतुर्वेदेषु त्रिवेत्र विनियुज्यते।" पद्यात्मक ऋक् और गद्यात्मक यजुर्वेद कहा गया है ज्ञानात्मक साम कहा गया है। मनुसंहिता में आया है "अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रय ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्धर्थ्यमृग्यजुः सामलक्षणम्"—इन तीनों के अन्तर्गत अथर्ववेद भी है। बृहदारण्यक में आया है "अरे अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतत् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वणः।" महाभारत में आया है "एकतश्चतुरो वेदान् भारतश्चैतदेकतः। पुरा किल सुरैः सर्वैः समेत्य तुलया धृतम्। चतुर्भ्यः सरहस्येभ्यो वेदेभ्यो ह्यधिक यदा। तदा प्रभृति लोकेऽस्मिन्म-हाभारतमुच्यते"॥ अथ च इति के आगे प्रथम स्कन्ध में प्रतिपादन किया गया है "यो विद्याच्चतुरोवेदान्" इस कथन से भी चार वेदों की सिद्धि होती है। त्रयी शब्द यों कहा गया है कि यह रचना पद्य, गद्य और गीति इन तीनों विषयपरक है। क्योंकि छान्दोग्योपनिषद् में भी चार वेद ही बताये गये हैं। सनत्कुमार के प्रश्न के उत्तर में "ऋग्वेदोऽध्येमि यजुर्वेदोऽध्येमि सामवेदोऽध्येमि अथर्ववेदोऽध्येमि॥ [illegible] चार वेदों का वर्णन है।

"चत्वारि शृङ्गास्त्रयोऽअस्य पादा द्वेशीर्षे सप्तहस्तासो अस्य। त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्यांऽआविवेश" इस से चार वेद सिद्ध होते हैं। मनुने भी चार वेद का निरूपण कहा है। जहां कहींत्रयो विद्या पद आया है वहां सर्वत्र त्रयीशब्द चारों वेदोंका वाचक है। ऋग्वेद की २१ शाखा यजुर्वेद की १०० शाखा सामकी १००० शाखा और अथर्व वेद की ६

जाता है। यथा, शाकल्यादिशाखाओं को ऋग्वेद नाम से यजुरादि शाखाओं को सामवेद नाम से शौनकादि शाखाओं को अथर्व वेद नाम से कहा गया है। आथर्वणिक मन्त्र त्रयी विद्या से पृथक कहा है। अथर्वा ऋषि के द्वारा जो मन्त्र प्रकट हुए हैं वे अथर्ववेद में संगृहीत हैं। वस्तुतः एक ही वेद विभिन्न रचना ( पद्य, गद्य और गीति ) के रूप में त्रयी कहा गया है। ऋक् संहिता, यजु संहिता, साम संहिता और अथर्व संहिता, यहाँ संहिता का अर्थ है पदों का एक साथ योग करना। पाणिनि ने कहा है "परः संनिकर्षः संहिता"। ऋक् का लक्षण पद्यात्मक मन्त्र चारों संहिताओं में विद्यमान रहने पर भी जहाँ इसकी अधिकता हो उसको ऋक् तथा गद्यात्मक मन्त्र की अधिकता को यजु कहेंगे। जहाँ स्तोम और गायन के मूलभूत लक्षण हो उसे सामवेद कहते हैं। अर्थात् पद्य, गद्य और गीति वेद में तीन प्रकार की रचना हुई एतदर्थ वेद त्रयीविद्या शब्द से प्रसिद्ध हुआ। अथर्वा नामक ऋषि यज्ञ की प्रक्रिया को सर्वप्रथम चलानेवाले हुए उन्होंने यज्ञादि प्रक्रिया को ऋग्वेदादि नाम दिये। ऋग्वेदसंहिता के १-६-४५ में आता है "यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते" अर्थात् अथर्वा ने यज्ञ का मार्ग दिखलाया। ऋग्वेदसंहिता के सप्तम मंडल में अग्नि जातः अथर्वाः। ऋग् के ४-५-२३ सं० में "त्वामग्निः पुष्करात्-अथर्वाग्नि रमन्थत इत्यादि इन मन्त्रों से स्पष्ट है कि यज्ञ विस्तार अथर्वा से हुआ है। जैसे, प्रधान ऋत्विजों के सम्बन्ध में कहा गया 'होता ऋग्वेदी हो' अध्वर्यु यजुर्वेदी हो और उद्गाता सामवेदी हो। ऐतरेय ब्राह्मण में प्रपाठक। (५-५-८) में आया है, "ब्रह्मत्वं केन क्रियते" इसका यह तात्पर्य है कि होता, अध्वर्यु

और उद्गाता भिन्न भिन्न वेदों से वृणीत हो गये परन्तु ब्रह्मा सारे यज्ञ का नियन्त्रण करता है उस की किस विद्या से नियुक्ति की जाय? "त्रय्याविद्यया" तात्पर्य यह है कि चतुर्वेदज्ञ जो हो वही ब्रह्मा का पद ग्रहण कर सकता है। इससे यह स्पष्ट प्रतीत है कि यज्ञकार्य निर्वाहार्थ संहिता विभाजित की गई। ब्रह्मत्वं केन क्रियते? इसका उत्तर जब "त्रय्या विद्यया" यह आया है तो इसका यह अर्थ निकलता है कि "अथर्व संहिता" के ज्ञान के बिना ब्रह्मा नहीं हो सकता। अतः होता, अध्वर्यु और उद्गाता इन में क्रमशः ऋग्, यजु और साम का ज्ञान तो था ही परन्तु ब्रह्मा में तीन विद्याओं के अतिरिक्त अथर्ववेद की योग्यता का होना परमावश्यक है इसी से यह भी अपेक्षित है कि राक्षसादिकृत विघ्न निवारण कर वह यज्ञ की रक्षा करे। अतः ब्रह्मा का अथर्ववेद ज्ञाता होना आवश्यक है। ऋक्संहिता में "ऋचां त्वः पोष मास्ते पुपुष्वान् गायत्रन्त्वो गायति शक्वरीषु। ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्याम् यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उत्वः।" इस वचन से ब्रह्मा सर्ववित् एवं अथर्ववेदविद् हुआ क्योंकि "त्रयाणामप्यधन्तु ब्रह्मा परिहरेत्सदा" इसका अभिप्राय यही है। यज्ञ सम्पादन के लिये चार संहिताओं का नाम आता है। इसीलिये ऋग्वेद का दूसरा नाम होतृवेद, यजुर्वेद का अध्वर्यु वेद, अथर्व वेद का उद्गातृवेद और सामवेद का गानवेद। इससे चत्वारिशृङ्गा इत्यादि पूर्वोक्त कथन सिद्ध हो गये। छन्द भी वेद का वाचक है छन्द से वायु आदि देवताओंका ग्रहण होता है। "प्रीणि छन्दांसि वायोवाता ओषधयः" छन्द का अर्थ बांधना है अक्षर समाम्नाय का नाम छन्द है। इसलिये छादनात् छन्द अर्थात् जो वर्ण आकाश में आच्छादित थे वह "छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाताः

इनको एकत्र करके ग्रथित किया गया है। निरुक्त में आया है छादन करने से ही यह मन्त्र "छन्दोभ्य मन्त्रेभ्यः। तैत्तिरीय में आया है "यश्छन्दसां छन्दसां ऋषभः" इत्यादि प्रकार सम्पूर्ण वेदों में श्रेष्ठ है। छान्दोग्य ब्राह्मण में आया है "देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशंस्ते छन्दोभिरच्छादयन्" देवता मृत्यु से भयभीत होकर वेदों के शरण में गये और इनकी रक्षा के लिये छन्द से ढका गया। पुरुष सूक्त में भी है "छन्दांसि जज्ञिरे" गायत्र्यादि का भी छन्द में व्यवहार हुआ है। ऋग्वेद अष्टम मण्डल में "छन्दांसि च दधतो अध्वरेषु" यहाँ भी "शब्दानां छादनम्" शब्दों का छादन गायत्र्यादि छन्दों से होता है। छन्द एक अक्षरवाले से लेकर बहुत अक्षरोंवाले तक होते हैं। पिङ्गलशास्त्र में इनका विस्तृत वर्णन किया गया है। पाणिनि ने भी "छन्दोऽस्मृत्यादि भवन्ति" कहा है। स्वाध्याय और आगम भी वेद को कहते हैं जैसे, पातञ्जल महाभाष्य में "रक्षोहागमलघ्वसंदेहाः प्रयोजनम्" कह कर आगम को वेदसिद्ध किया है। निगम वेद को ही कहते हैं। यास्कने निगमनात् निगम कहा है। मनु ने भी निगमाख्याम् कह कर वेदवाचकता कही है। भागवत में भी वेदवाचक निगम पद है। यथा :—"निगम कल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्। पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः"। निगम-वेदरूपी कल्पवृक्ष से निकला हुआ भागवत है। मन्त्र भी वेद को कहते हैं "मन्त्रब्राह्मणयो वेदनामधेयम्" मन्त्र किसे कहते है तो "ऋषयोऽपिपदार्थानां नान्तं यान्ति पृथक् त्वशः। न तु सिद्धानामन्तं यान्ति विपश्चितः॥" मन्त्रः मननात् मनन इस से सिद्ध होता है कि मन्त्र के बिना आध्यात्मिक,

आधिदैविक और आधिभौतिक ज्ञान नहीं होता है। "यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति" जिस कामना से जिस देवता में अपनी अभिलाषा की इच्छा करता हुआ स्तुति करता है उस देवता का वह मन्त्र होता है। मन्त्रों के निम्नलिखित वेदशास्त्र में वर्णित हैं—"द्वौ विध्यर्थवादौ याच्ञाशीः स्तुतिप्रैष-प्रवाह्लिकाः। प्रश्नो व्याकरणं तर्कः पूर्ववृत्तानुकीर्तनम्॥ अवधारणं चोपनिषद् वाक्यार्थस्तु प्रयोजनम्। मन्त्रेषु ये प्रदृश्यन्ते व्याख्यानुश्रुतिचोदिताः।" ये मन्त्र जिस में रहते हैं उसको संहिता कहते हैं। संहिता के पाठ में आठ विकृति हैं यथा : "जटा, माला, शिखा, रेखा, ध्वजो, दण्डो, रथो, घन इति अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा मनीषिभिः" इस प्रकार समग्र वेदों का अध्ययन करना विधि है। वेद स्वरूपतः अधिगन्तव्य हैं अर्थात् समग्र वेद पढ़ना चाहिए। मनु ने कहा है :—"षट् त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम्। वेदानधीत्य वेदान्वा वेदम्वाऽपि कथञ्चन" इत्यादि।

वेदार्थ में ज्ञापनात्मक होने से निरुक्त कहा गया है। निरुक्त का प्रयोजन वेदार्थ को स्पष्ट करना है। यह निरुक्त शास्त्र वेदरूपी सागर में व्याप्त था वहीं से आनुभविक हुआ। ब्राह्मणग्रन्थों में यह अङ्कुरित हुआ है, निदानसूत्रों में पल्लवित हुआ है। इसी को यास्काचार्य ने काण्डत्रयात्मक निरुक्त और पञ्चाध्यायात्मक निघण्टु में ग्रथन कर प्रवचन किया है। निरुक्त के प्रथमाध्याय में ग्रन्थ की भूमिका निघण्टु निर्वचनादि का दूसरे तीसरे अध्याय में निर्वचन का प्रकार आदि कह कर नैघण्टुक काण्ड बतलाया है। चौथे अध्याय में एक पदी

आख्यान कर नैगमकाण्ड और पीछे के छै अध्यायों में देवताओं का वर्णन कर दैवतकाण्ड बताया है। आगे देवस्तुति को लेकर आत्मतत्त्वों का उपदेश किया है। निरुक्त एक प्रकार निघण्टु का ही भाष्य है। किन्तु उसमें सब नामों का निर्वचन नहीं किया गया है। जैसे; निघण्टु में आया है, पृथ्वी के २१ नाम है किन्तु उसमें एक गोशब्द का ही निर्वचन बताया है अन्यान्य नामों का कोई निर्वचन के लिये उल्लेख नहीं किया है। अन्य नाम निघण्टु में विशदीकरण किये गये हैं वहां गो शब्द एक निरुक्त के प्रकार का सूचक है। निरुक्त में वेद के तत्त्वों का प्रतिपादन किया गया है, जैसे; " पुरुष विद्या नित्यत्वात्कर्म सम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे" मनुष्यों में ज्ञान की अनित्यता के कारण कर्म की सम्पत्ति वेद में केवल मन्त्रों का ही निर्वचन नहीं किया गया है अपितु, धर्मशास्त्रों में भी जो शब्द आये हैं उनका भी निर्वचन किया गया है। गो शब्द के निर्वचन में पयः और क्षीर शब्द का भी निर्वचन है लोक और वेद में शब्दों की सामान्यता दिखाई गई है, जैसे "चत्वारि पद जातानि नामाख्यातोपसर्गनिपातानि"।

नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात ये लोक और वेद दोनों में आते हैं। विरुद्धार्थ प्रतीत होनेवाले मन्त्रों का तात्पर्य बतलाया गया है। जहां पर वेद के अर्थ में आशंका होती है वहां पर सिद्धान्त करके बतलाया है। जहां जहां संहिता के भेद से मन्त्रों में भेद आया है, वहां वहां निर्वचन की विधि से ठीक कर दिया गया है। पद संहिता में शब्दों का निर्वचन है। जैसे, सूर्नः सू+ऊर्नः, जिसका अर्थ संगति नहीं होती है अर्थ बताया है। "मित्रं प्रमीयते त्रायते समिन्धानो मवीतीति

वा मित्रं", मित्रमिति अनवगृहितं मित्रम्। इसी प्रकार पुत्र दो शब्दों को एकत्रित करके बनाया गया है। "पुरु त्रायते निपर्णाद्वा पुं नरकात्त्रायते इति पुत्रः"। वेद की व्याख्या में प्रामाणिक ऋषियों के मतमतान्तर से जहां व्याख्या हुई है वहां पर विनिगमन करके व्याख्या देखना निरुक्त का ध्येय है। जैसे, ऋक् संहिता का पदकार शाकल्य, सामवेदीय संहिता का गार्ग्य ये दोनों वेदव्याख्यान करने में प्रमाणभूत माने गये हैं, यथा ऋक्संहिता में आया है "यदिन्द्र चित्र मेहनाऽस्ति" यहां दो पद बताये हैं; मेहनं, महनीय धन, अस्ति या तीन पद ो किये हैं म इह नास्ति। एक ही मन्त्र दो संहिताओं में आने । संहिता भेद से पाठ भेद किया गया है अतः पाठ भेद होने पर भी ामानता ही माननी चाहिए। जहां पर एक ही नाम कालभेद और देशभेद से कुछ विभिन्न प्रतीत होता है उसका भी निर्वचन से समाधान निरुक्त में किया गया है :—जैसे, आर्जिकायां विपाट् ·········· पूर्व समय के उत्तशिरा विपाप्मोता आदिशब्द मन्त्रों के बीज भी भलीप्रकार दिखाये हैं। जैसे, शपथ और अभिशाप तथा किसी भाव की परिदेवना, निन्दा और प्रशंसा। [illegible] प्रकार उच्चावच प्रकरण से ऋषियों ने मन्त्रों को देखा है। निरुक्त में यह भी स्पष्ट किया है कि मनुष्यों ने तपः प्रभाव से आर्षत्व प्राप्त किया है। वेद मन्त्रों की गूढार्थता का परिज्ञान तपस्या से होता है। इसकी योजना इन प्रदर्शित मन्त्रों से होती है "ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधिविश्वे निषेदुः यस्तन्न वेदकिम् ऋचाकरिष्यति" इसी प्रकार मन्त्रों से देवता का निर्णय करना भी दुष्कर है किस मन्त्रका कौन

देवता है ? यथा, "शाकपूणिः सङ्कल्पयाञ्चक्रे सर्वा देवता जानामीति" शाकपूणि ने सङ्कल्प किया कि मैं सब देवताओं को जानता हूँ। इस पर उसके समक्ष उभय लिङ्ग देवता प्रगट हुए वह उन्हें पहचान न सका। तब एक मन्त्र से उसे उपदेश किया गया। निरुक्त शास्त्र ने देवता के विशदीकरण को दैवत काण्ड में बताया है। निरुक्त ने वेदों में विज्ञान भी प्रदर्शित किया है। यथा "त्रिर्वं जिग्यत्स्यामः" यास्काचार्य ने इस मन्त्र की वैज्ञानिक व्याख्या की है कुछ प्रचलित व्यवहार भी दिखाये हैं। "देवरः कस्मात् द्वितीयो वर उच्यते" और सपुत्र की प्रधानता भी दिखाई है "नान्योदर्यो मनसा मन्तवायुः" दूसरे गर्भ से उत्पन्न हुए पुत्र को मन से भी अपना पुत्र न समझे। पुण्य एवं पाप भी दिखाया है "अस्त्यस्मात् ब्रह्मचर्यमध्ययनं तपः कर्म च" हम पर पाप नहीं लग सकता है उसका कारण है हमारा ब्रह्मचर्य्य, तप, दानशीलता एवं वेदाध्ययन यह निर्देश किया है। देवताओं की पुरुषाकार चिन्तना भी निरुक्त में दिखाई गई है। ईश्वर का भी ज्ञान हम में बताया है। ईश्वर सब भूतों की रक्षा और इन्द्रियों की भी रक्षा करनेवाला है "तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" इस पुरुष शब्द के निर्वचन में ब्रह्मज्ञान बताया है।

निरुक्त तीन काण्डों में विभक्त किया गया है। प्रथम काण्ड नैघण्टुक काण्ड है; इस में ३ अध्याय है इसको पूर्वषट्क कहा है। इस में पहला प्रकरण "समाम्नायः समाम्नातः" आया है; गवादिशब्द से देवपत्नी पर्यन्त शब्द समुदाय को समाम्नाय कहा है उसका व्याख्यान अर्थात् यह नाम; आख्यात, उपसर्ग निपात, सामान्य लक्षण, विशेष

लक्षण, एकार्थबोधक अनवगत संस्कारबोधक अभिधान, अभिधेय मर्यादा का व्याख्यान इस में हुआ है। इस में यह बताया गया है कि यह महान् प्रबल एक अभिधान अनेक धातु के निर्वचन के [illegible] में कहा गया है। निरुक्त का सिद्धान्त है कि नाम सब आख्यातज है निगमन, समाहनन और समाहरण यह तीन प्रकार की क्रिया निघण्टु में है। चार पद की जाति (नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात) में नाम और आख्यात अन्य निरपेक्षता से अपने अपने अर्थ को प्रगट कर सकते हैं। उपसर्ग-निपात दूसरे शब्द के मिले बिना सार्थक नहीं हो सकते हैं। भाव की प्रधानता नाम में और सत्व की प्रधानता आख्यात में है। भावप्रधान आख्यात क्यों कहा है? क्रिया की कोई मूर्ति नहीं है। वह क्रियाकारकों के साथ अभिव्यक्त होकर दीख पड़ती है बिना कारकों के सहयोग के क्रिया नहीं दीखती। जैसे, 'ओदनं पचति देवदत्तः' यहां ओदन क्रिया का व्यापार है, कहा भी है :—"क्रियावाचकमाख्यातं लिङ्गतो न विशिष्यते त्रीनप्युरुषान् विप्रास्कालस्तु विशिष्यते" गौरश्वः पुरुषो हस्ती" आदि से सत्वों को उपदिष्ट किया है। "आस्ते शेते व्रजति" आदि से भाव बतलाया है। उस में "मनुष्यवद् देवताभिधानं", देवताओं के नाम भी मनुष्यों की तरह होते हैं परन्तु "पुरुषविधानित्यत्वात्कर्म सम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे"। भाव का निर्वचन है "भवतीति भावः। भावविकार छै बताये गये हैं जायते अस्ति विपरिणमते, वर्धते, अपक्षीयते विनश्यति आदि। इस प्रकार नाम और आख्यात की व्याख्या की गई है।

निपात तथा उपसर्ग ऊंचे नीचे अर्थ में, उपमा में और पादपूर्ति में

भी आते हैं। और शब्द शोभा के अर्थ में, त्व विभिन्नार्थ में और त्व को कहीं अर्धनाम और कहीं सर्वनाम कहा है जैसे, "ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु। ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः" ॥ यहाँ पर त्व शब्द एक का वाचक है। ऋत्विक् के कर्म में इसका विनियोग कहा है। दूसरा मन्त्र है निपात के उ और त्व का प्रयोग बताया है। इसी सूक्त में एक मन्त्र आया है "अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः। आदघ्नासः उपकक्षासः उ त्वेह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे" यहाँ पर तु और त्व का प्रयोग बताया है। मन्त्रार्थ इसका यह है :—

समान इन्द्रियोंवाले अर्थात् समान शास्त्र को पढ़े हुए मनुष्य अपने मन की कल्पना करने में एक सिद्धान्त पर नहीं आसकते हैं। इस में सरोवर का दृष्टान्त देते हैं, सरोवरमें जैसे जो जितनी गहराई में स्नान करने गया वह उतना ही पहुंच सका और उसी का ही उसने वर्णन किया। निरुक्त में आता है :—

"स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्। योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञान विधूत पाप्मा"। यद् गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्।

वेद पढ़ कर उसके अर्थ जानने की बहुत ही आवश्यकता है क्यों कि अर्थज्ञान न होने से केवल भारवाही ही होता है वेदार्थ जानने से ही तज्जन्य श्रेय का मनुष्य अधिकारी होता है।

तीसरे पाद में बहुनाम और ह्रस्वनाम का निर्वचन किया है। चतुर्थ पाद में एकार्थ में अनेक शब्द और अनेकार्थ में एक शब्द का

वितरण किया है। अनवगत संस्कार हुए शब्दों का भी इस वर्णन किया है जैसे अहा, जघान, उनके यह लक्षण है "तत्त्वं पर्याय शब्देन व्युत्पत्तिश्चद्वयोरपि"।

चतुर्थपाद में "अर्चतिकर्माणो उत्तरेधातवः" पूजा के कर्म में, इस मेधावियों के नाम की भी गणना की गई है "त्रि प्रथीमेंधावी" उनका निर्वचन भी बतला दिया "मतौ धीयते इति मेधा"।

दूसरा नैगमकाण्ड :—

इस में एकार्थ में अनेक शब्द और अनेकार्थ में एक शब्द बताया गया है। जैसे, विस्तीर्ण हि तमज्ञानमृषिः संक्षेपतोऽब्रवीत् इत्थं हि विदुषां लोके समासव्यासधारणम्" जैसे ; एकार्थ में अनेक शब्द, एक अर्थ पृथिवी है और इस में अनेक गवादि शब्द आये हैं साथ ही अनेक जो गवादि शब्द हैं वह एक पृथिवी के अर्थ में आये हैं। यथोक्तम्— "तत्त्वपर्यायशब्देन व्युत्पत्तिश्च द्वयोरपि। निगमो निर्णयश्चेति व्याख्येयं नैगमेपदे। अर्थात् नैगम में एक पदादि और अनवगत संस्कार पदों का वर्णन किया गया है। इस प्रकरण में अनवगत संस्कार पदों का निर्देश किया गया है। यथा, "शब्दरूपः पदार्थश्च व्युत्पत्तिः प्रकृतेर्गुणः" कहीं पर एक पद के भी दो पद किये गये। जैसे ; पुरुयाद:, एक शब्द और 'पुरुयामदनाय', जैसे ; नितउ शब्द का नैगम परिवर्तन हुआ पुनरद्रा, पुन्यद्रा, तुभ्यद्रा।

"सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसावाचमक्रत ; सन्तुः कः सचतेर्वा सदिलस्थानि भी ततः दुर्धावो भवति। जैसे, एनीते यह अनवगत है अनेकार्थ होने से इसका अर्थ सूते या "सूयते" एक

जगह अर्थ हुआ सूयते अच्छी गति में और दूसरी जगह अर्थ हुआ देवदत्तः पुत्रं सूयते" । 'अकुपार' यह अनवगतसंस्कार है । "अकुपार निगम अकुर्पाण जैसे, मन्त्र में आया है "विद्यामतस्यते अथमकूपारस दावने" अकुपार का अर्थ हुआ अकुत्सितस्य पूर्णस्य । जैसे, जामी शब्द अनेकार्थ वाचक हुआ "आघाता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामय कृणवन्नजामि" यहां जामि शब्द अनेकार्थवाचक है जामि शब्द का अ मूर्ख भी है और भगिनी भी । यहां पर भी जो है वह उपजन है । वैसे पिता शब्द अनवगतसंस्कार है इसका अर्थ है पाता, पालयिता जैसे द्युलोक के वर्णन में आया है "द्यौर्मे पिता—चतुर्थ पाद इस में अदिति शब्द आया है यह अनवगत संस्कार है इसका अर्थ अदिति अदीना निरुक्त के पक्ष में हुआ और इतिहास के पक्ष में देवमाता बना; जैसे, मन्त्र आया है, "अदिति र्द्यौ रदितिरन्तरिक्ष ७" इस प्रकार एकार्थ में अनेक शब्द और अनेकार्थ में एक शब्द और अनवगत संस्कार शब्दों का वर्णन आया है ।

यसमराट्—

वाराह शब्द—अनवगत संस्कार अनेकार्थ है, जैसे ; मेघ को भी वाराह कहते हैं, वर अद्र्क आहार्य यस्य ■ वाराहः इसलिये मेघ का भी इस में निर्वचन हुआ । वरं वरं मूलं वहति उद्बृहति वार इः वाराह इन्द्र को भी कहते हैं । जैसे, 'स्वसराणि' यह भी अनवगत है इसका निगम हुआ, "स्वयं साराणि" अर्थात् दिन जो स्वयं चलते हैं । स्व आदित्य का नाम है वह इन को चलाता है । अनेकार्थ

[illegible] से देवता का कथन किया जाता है। [illegible]
इगत है और अनेकार्थ है इसका अर्थ हुआ आपातित मन्युः।

"उर्वशी" यह शब्द भी अनवगत है यह अप्सरा के अर्थ का वाचक [illegible] महान् अस्याः वशः कश्चि[illegible] सतीत्युच्यते अप्सरा का अर्थ [illegible]प्सारिणी भवति अपः प्रति नित्य[illegible] [illegible]स्मा[illegible]त इति"।

"वृषध्य" यह शब्द भी अनवगत है अहि चक को कहते हैं यह [illegible] से ही शुद्ध होता है।

निचुम्पुणः—यह अनेकार्थ है और अनवगत है "अपांनपम्निचुम्पुणः" [illegible]से सोम का, समुद्र का और अवभृथ का भी अर्थ है नीचैरस्मिन्क्व[illegible]न्त शब्दं कुर्वन्ति यज्ञपात्रं दधतीति निचुम्पुणः।

वृक—यह भी अनवगत और अनेकार्थ है। वृक चन्द्रमा को भी [कह]ते हैं। ऋग्वेद में—

"अरुणो मासकृद् वृकपथायन्तं ददर्श ह। अरुण आरोचन मासकृद् [अर्ध]मासानां च कर्ता—चन्द्रमा प्रकाश करनेवाला सम्वत्सर मास पक्ष [को] बनानेवाला। सूर्य को भी वृक कहा है "यद् आवृणुते" यह अन्ध[का]र को ढक देता है। ऋङ्मन्त्र—"अजोहवीदश्विना वर्तिका वामास्नो [य]त्सीमयुञ्चतं वृकस्य"।

जोष—यह भी अनवगत है जोषयितव्यम्, विज्ञापयितव्यम् "य इन्द्राग्नी [सु]तेषु वां स्तवत्तेऽवृतावृधा जोषवाकं वदतः पज्रहोषिणा न देवा भसथश्चन"।

कितव—अनवगत—किं तवास्ति, इस शब्द की अनुवृत्ति के अनुसार [ज]वारी—अनवगत है—श्वघ्नी कितवो भवति स्वं हन्ति स्व आश्रित्

मवति सं इति वा— इस प्रकार इस अनवगत की [illegible] की है। वा [illegible] विषवोति [illegible]" मेघ का भी [illegible] कहा है। इस प्रकार अनेकार्थ में आया है।

"[illegible]— ऊर्मी यह शब्द भी अनवगत है। [illegible]—[illegible] ऊर्मी ऊर्मी ऊर्णोति [illegible] में आता है [illegible] उदात्त [illegible] प्रकृतिवाले जाते हैं अनुदात्त प्रकृतिवाले [illegible] है। [illegible] अनवगत [illegible] निर्वचन हुआ। [illegible] यह अनवगत है। [illegible] [illegible] वर्षणि—धारयिता— द्रष्टा।

शम्ब—अनवगत वज्र का नाम है। शमयिता शातयिता वा। कैयपः [illegible]—शवकारि प्रायश्चित्तेन पुनाति "[illegible] [illegible] कर्म चक्रिरे"।

अंसत्रम्—अनवगतम्—अंहसःत्राणं यह निर्वचन हुआ इससे धनुष या कवच का अर्थ निकलता है। कवचं—कु अचितम् कुचितम् अस्मिन्नम् आह्वानम् आह्वानाम इस प्रकार अनवगतार्थ अनेकार्थ शब्दों का निगमन किया गया है। अर्भरि तुर्फरी अनवगतार्थ शब्दों का भी निगम अर्भरो हिंसा करने को तुर्फरी तृप्ति के अर्थ में आता है। उपलप्रक्षिणी अनवगत— —इसका अर्थ उपलेषु प्रक्षेपणी यह निगम हुआ।

पाथ शब्द जलवाचक इसका निगम पानात् सप्रथा सर्वतः पृथुः।

श्रायन्त इति अनवगत इसका श्रायन्त यह निगम "श्रायन्त इव सूर्यं विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत।

अमरः—अनवगत इसका निगम अमूढ।

सोमानं—अनवगत इसका सोतारं निगम हुआ।

## दैवत काण्ड—

वेद की सम्पूर्ण शाखाओं में जो गुणवाचक पद हैं उनकी व्याख्या निघण्टु और निगम एक पद में की गई है। अवशिष्ट पद जिनमें देवताओं की स्तुति की गई है वे दैवत काण्ड में बताये गये हैं। "तद्यानि नामानि प्राधान्य स्तुतीनां देवतानां तद्दैवतम्" जिन नामों में देवता की प्रधानतया स्तुति दिखाई गई है उसे दैवत काण्ड नाम से यास्काचार्य ने कहा है। यथा, यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायां मार्थपत्यमिच्छन् स्तुति प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति। तास्त्रिविधा ऋचः परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृताः आध्यात्मिकयश्च तत्र परोक्षकृताः सर्वाभिर्नामविभक्तिभिर्युज्यन्ते प्रथम-पुरुषैश्चाख्यातस्य" नैघण्टुक और नैगम काण्ड में जो शब्द आये हैं वे प्रायः मन्त्रों में देवता के ही सम्बन्ध में हैं किन्तु उन सब मन्त्रों में देवता का स्पष्टीकरण न होने से यह दैवत प्रकरण यहां से प्रारम्भ किया गया। जिस प्रयोजन की सिद्धि के हेतु ऋषि जिस मन्त्र से जिस देवता की प्रार्थना करता है उस मन्त्र का वह देवता होता है। देवता के ही प्रसाद से प्रत्येक प्रयोजन सिद्ध होता है, केवल मानवीय आधिभौतिक पुरुषार्थ से ही कार्य की सफलता समझ लेना वैदिक संस्कृति का अनादर करना है। गीता में भी कहा है "इष्टान्भोगान्हि वो देवाः दास्यन्ते यज्ञ भाविताः। यज्ञ द्वारा भावित होने पर देवता मनुष्यों के हित को प्रदान करता है।

देवता की स्तुति चार प्रकार से होती है। नाम, रूप, कर्म और बन्धु यह चार प्रकार की स्तुति वेद मन्त्रों में हैं। स्तुति के मन्त्र त्रिविध हैं—परोक्षकृत प्रत्यक्षकृत और आध्यात्मिक।

परोक्षकृत मन्त्र में सभी विभक्तियाँ तथा प्रथम पुरुष के एक वचन में आख्यात आता है "परोक्ष प्रिया हि वै देवाः" देवता परोक्षस्तुति से प्रसन्न होते हैं; यथा, "इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्याः इन्द्रमित् गाथिनो बृहदिन्द्रं गौतेनृत्सवोवेविपाणा इन्द्राय साम गायत" इत्यादि परोक्षकृत मन्त्र सम्पूर्ण विभक्तियों में आते हैं।

प्रत्यक्षकृत मन्त्रों में सर्वनाम और मध्यम पुरुष आख्यात आता है, "त्वमिन्द्र ! बलादधि विन इन्द्र मृधो जहि"। हे इन्द्र तुम सबसे बलवान् हो तुम तेज को वर्षण करनेवाले हो।

सर्वनाम उत्तम पुरुष आख्यात योग से आध्यात्मिक मन्त्र आते हैं यथा "अहं रुद्रे भिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः। अहं मित्रावरुणो भा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा" वाणी देवता स्वयं कहती है, मैं रुद्र, वसु, आदित्य, विश्वामित्र मित्रावरुण के साथ स्तुति रूप में आती हूँ और इन्द्राग्नि देवता को हविष्य में धारण करती हूँ इत्यादि। परोक्षकृत और प्रत्यक्षकृत मंत्रों से अधिक हैं आध्यात्मिक संक्षेप में आये हैं। कहीं स्तुति रूप में कहीं आशीर्वाद रूप में वे मन्त्र आते हैं कहीं शाप के रूप में भी। एक समय किसी ने वशिष्ठ को कह दिया "अद्या मुरीय यातुधानो अस्मि"—अद्या स वीरैर्दशभिर्वियूया यो मायावो यातुधानेत्याह" वशिष्ठ ने कहा यदि मैं राक्षस हूँ तो अभी मेरी मृत्यु हो जाय अन्यथा जिसने क्रोधावेश में मुझे ही मुझे कलंकित किया है वह अपने दस सन्तान से वियुक्त और शोकग्रस्त हो जाय।

विभक्तिसमस्त वरुण भी इस प्रकरण में मन्त्र आये हैं "मोघमन्न

न्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य नार्यमणं पुष्यति नो सखायं वलाघो भवति केवलादी"।

जो अन्न मित्र बान्धव को न देकर स्वयं खाता है वह पाप को खाता । गीता में भी लिखा है "भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्" जो मनुष्य अतिथि आदि किसी को दिये बिना अन्न स्वयं ही खा लेता है ह पापी है इसी प्रकरण में द्यूत की निन्दा एवं कृषिकर्म रूप यज्ञ की शंसा की है।

"अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहुमन्यमानः"।

द्यूत खेलने से बहुत अनर्थ होते हैं। महाभारत में विनाश का कारण जुआ का खेल हुआ। तुम लोग चित्त लगाकर खती करो। कृषि परम धर्म है। अतः सभी के लिये चाहे किसी जाति, वर्ण या वर्ग के हों कृषि कर्म स्वयं करने की वेद भगवान की आज्ञा है।

जिन मन्त्रों में देवता निर्देश नहीं है वे मन्त्र जिस यज्ञ में विनियोग किये गये हैं उस यज्ञ के देवतात्मक वे मन्त्र हैं "यद्देवतः स यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा तद्देवता भवन्ति" लोकाचार भी यह है अतिथिदेवता, पितृदेवता, पशुदेवता इत्यादि।

यह भी माना है और ज्ञातव्य है कि एक देवता की अनेक स्थान पर भिन्न रूप में भी स्तुति की गई है।

"महाभाग्याद्देवतायाः" "एक आत्मा बहुधा स्तूयते" अग्निमित्रं वरुणं इन्द्रमाहुः" "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" "पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्चभाव्यम्"।

निरुक्तकार ने तीन देवता माने हैं :—"तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः, अग्निः पृथिवीस्थानो, वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः, सूर्यो द्युस्थानः" पृथिवी का देवता अग्नि, अन्तरिक्ष का इन्द्र या वायु, द्युस्थान का आदित्य ये तीन देवता बताये हैं। आगे कहा है "महाभाग्याद्देवताया अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति"।

यहां स्थानैकत्व सम्भोगैकत्व भी जानना है जैसे पृथ्वी में मनुष्य पशु आदि रहते हैं इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना।

अथ देवताओं के आकार की चिन्तना आती है "अथाकार चिन्तनम् पुरुष विधाः स्युः"।

देवताओं का आकार मनुष्यों की भांति हाथ से मन्त्रों में आया है "आद्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याहि" हे इन्द्र ! दो घोड़ों पर आरूढ़ होकर सोम पान करो" यह आकार चिन्तन है और चैतन्य रूप में है। अपुरुष विध भी स्तुति के मन्त्र आये हैं; यथा, अग्नि, वायु, आदित्य, पृथिवी, चन्द्रमा इनका द्वैविध्य देवताओं का आकार माना गया है पुरुषविध और अपुरुषविध। निरुक्तकार यास्क ने "तिस्रो देवताः" बताकर तीन ( अग्नि, इन्द्र और आदित्य ) बताये हैं साथ ही उनकी भक्ति और साहचर्यां भी दिखाई हैं। किस देवता की स्तुति किस सवन में होती है यह बताया जाता है। सवन तीन होते हैं, प्रातःसवन, माध्यान्हिक और तार्तीयक। यथा; "अग्निभक्तिन्ययं लोकः" अग्नि पृथिवीस्थान प्रातः सवन वसन्त गायत्री इत्यादि अग्निना भज्यन्ते अग्नि के साथ जो अन्य देवता स्तुति किये जाते है वे अग्नि भक्तिनी नाम से निर्दिष्ट हुए हैं। प्रायः अग्नि के साथ इन्द्र, सोम, वरुण, पर्जन्य ऋतु का संस्तवन आता

; यथा, "त्वन्नो अग्ने वरुणस्य विद्वान् देवस्य हेळो व यासि सीष्ठाः
जिष्ठो वन्हितमः शोशुचानो विश्वाद्वे षांसि प्र मुमुग्ध्यस्मत्।

इन्द्र के साथ जिनका संस्तवन होता है इन्द्र अन्तरिक्ष स्थान माध्यन्दिन सवन ग्रीष्मर्तु त्रिष्टुप् पञ्चदशस्तोम है। इसके साथ सस्तवनीय तथा अग्नि, सोम, वरुण, पूषा, बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, पर्वत, कुत्सवायु, विष्णु और मित्रावरुण है। यथा, 'इन्द्रा पर्वता बृहता रथेन वामीरिष ■ वहतं सुवीराः। वीत हव्यान्यध्वरेषु देवा वर्धेथाम् गीर्भिरिळया मदन्ता" इत्यादि मन्त्र सस्तवन में आये हैं।

अथ आदित्य के सस्तवन का वर्णन आता है "अथैतान्यादित्यभक्तीन्यसौ लोकस्तृतीय सवनं वर्षा जगती सप्तदशस्तोमो वैरूप्यं साम यं च देवगणा समाम्नाता उत्तमे स्थाने याश्चस्त्रियः अथास्य कर्म रसादानं रश्मिभिश्च रसाधारणम् यच्च किञ्चित प्रवह्लितमादित्यकर्मैव तचन्द्रमसा वायुना सम्वत्सरेणे तिसंस्तवः।

आदित्य का संस्तवन चन्द्रमा, वायु के साथ आता है। इसी क्रम से पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युलोक इन स्थानों में ऋतु, छन्द स्तोम का आयोजन कर लेना चाहिए; यथा शरद् ऋतु अनुष्टुप् छन्द वैराज साम ये पृथ्वी के आयतन हैं। हेमन्त पंक्ति त्रिणव स्तोम शाक्वर साम अन्तरिक्ष के हैं। शिशिर-अतिछन्द त्रयस्त्रिंशस्तोम रैवत साम द्युभक्ति में हैं।

उक्त क्रिया-कलाप मन्त्रों में आया है अतः यहां मन्त्र का निर्वचन होना आवश्यक है।

यथा, "मन्त्रो मननात्" इनके मनन करनेसे ही अध्यात्म, अधिदैव, अधियज्ञका ज्ञान होता है। मन्त्र छन्दों में रहते हैं छन्दः प्रच्छादनात्।

यदेभिरात्मानमाच्छादयत् देवमृत्युर्बिभ्यतः "तच्छन्दसा छन्दस्त्वम्" जिन छन्दोंसे देवताओं ने अपने को मृत्यु से छिपा दिया वह छन्द छादन से है। यजुः यज्यते याज्यन्ते विशेषतया यजु से ही यज्ञ का विधान है। तीन देवताओं में अग्नि को पृथ्वी स्थान बताया उसका यह तात्पर्य बोधक निर्वचन है। "अग्निः कस्मादग्रणीर्भवति अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते"—"अग्नि-मीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् होतारं रत्नधातमम्"।

इसी प्रकार जातवेदाः का निर्वचन आया है "जातानि वेद वा जातानि एनं विदुः जाते जाते विद्यते इति वा" इत्यादि। इसी प्रकार वैश्वानर का भी—

वैश्वानरः कस्माद् विश्वान्नरान्नयति विश्व एनं नरा नयन्तीति वा इस प्रकरण में आहो पुरोडाश का वर्णन आता है "वैश्वानरीयो द्वादश कपालो भवति इत्यादि। इसी प्रकार मध्यस्थान द्युस्थान के देवताओं का सम्बन्ध उनके नामों का निर्वचन दैवत काण्ड में आया है।

दैवत प्रकरण के अनन्तर परिशिष्ट प्रकरण निरुक्त में आया है। इसमें अग्नि स्तुति के मन्त्र और स्तुत्यात्मक मन्त्र आये हैं। तथा अत्यवहार्य मन्त्र जिनके निर्वचन में प्रकृति प्रत्यय योग का ज्ञान नहीं हो सकता उन्हें बताया है; यथा,—सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका। तुर्फरी का अलग संस्कार के शब्दों का व्याख्यान ऐसे किया है—सृणीकी तरह अश्विनी, जर्भरी=पालन करनेवाले; तुर्फरी=हनन करनेवाले। तुर्फरी=क्षिप्र कार्यकारी। इस प्रकार निगूढार्थ को दैवत

प्रकरण में दिखाया है। दैवत प्रकरण की व्याख्या वक्ष्यमाण इस मन्त्र में की है।

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वेशीर्षे सप्त हस्तासोअस्य त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां२ आ विवेश"।

महादेव यज्ञ मनुष्योंको इस स्वरूप में प्राप्त हुए हैं। चारवेद इसके शृङ्गभूत उच्च स्थान है। तीन सवन दो शीर्ष-प्रायणीय एवं उदयणीय। सप्तहस्त=सात छन्द। त्रिधाबद्ध=मन्त्र, ब्राह्मण और कल्प इन तीन प्रस्थानों में वर्णित। रोरवीति=शब्दस्वरूप प्रगट होते हैं। यज्ञ जगत् वृषु और साम से प्रगट हो रहा है।

अन्तमें अक्षर ब्रह्म की स्तुति और उसके ज्ञान में निष्ठा पर मन्त्र में कहा है:—"ऋचोअक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः। यस्तान्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद् विदुस्तइमे समासते"॥

पर ब्रह्म प्रणव ॐकार के ज्ञान बिना वेद मन्त्रों के केवल ज्ञान से सिद्धि नहीं होती। इस मन्त्र में वेदों का ज्ञान ब्रह्मज्ञान पर पर्यवसान चरम लक्ष्य बताया है। अक्षरे परमे व्योमन् विविधप्रकार के शब्द जाति जिस आकाश में वीचि आवर्त रूपसे ओतप्रोत है तीन मात्रा अकार, उकार, मकार शब्दजन्य परब्रह्म का ज्ञान जिसे वेद पढ़ने से न हो सका; इस ॐकार स्वरूप में देवता समाये हुए हैं यथा प्रथम मात्रा में अग्नि ऋग्वेद पृथ्वीलोक निवासी; द्वितीय मात्रा में अन्तरिक्ष वायु यजुः और तल्लोक निवासी; तृतीय मात्रा में द्यौ आदित्य सोम तल्लोक निवासी इस प्रकार विशिष्ट गुण सम्पन्न ॐकार को जिसने न जाना उसका वेदों के अध्ययन मात्र से क्या लाभ? जिस महाभाग ने इसे जान लिया

उसका ही भेद ज्ञान मार्ग है [illegible] ......अर्थ—अर्थात् भेदज्ञान प्रकाश पर समाप्त है।

अन्त में कर्मकाण्ड यज्ञ का निन्दन है यथा, हिंसा एवं अहिंसा दो प्रवृत्तियों से उसको दो प्रकार की गति का वर्णन है। जैसे ही श्रीमद् भगवद्गीतामें प्रतिपादन किया गया है—"शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते। एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः"।

इस पर दैवत काण्ड समाप्ति में विचार वर्णन करते हैं —"ये हिंसामाश्रित्य विद्यामुत्सृज्य महत्तपस्तेपिरे चिरं वेदोक्तानि वा कर्माणि कुर्वन्ति ते धूममभिसम्भवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रेरपक्षीयमाणपक्षमपक्षीयमाणपक्षाद्दक्षिणायनं दक्षिणायनात् पितृलोकं पितृलोकाच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो वायुं वायोर्वृष्टिं वृष्टेरोषधयश्चैतद्भूत्वा ( [illegible] ) पुनरेवेमंलोकं प्रतिपद्यते।

अर्थात् जो केवल यज्ञ करते हैं अहिंसा व्रत पालन नहीं करते हैं; ब्रह्म विद्या पर ध्यान न देकर केवल यज्ञकर्म में लगे रहते हैं वे धूमरात्रि पितृलोक, चन्द्रलोक, वायु आदि में घूम कर दक्षिणायन पथ द्वारा पृथ्वी में जन्म मरण के बन्धन में पुनः जकड़े रह जाते हैं।

"अथ ये हिंसामुत्सृज्य विद्यामाश्रित्य महत्तपस्तेपिरे ज्ञानोक्तानि वा कर्माणि कुर्वन्ति तेऽर्चिरभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षादुदगयनमुदगयनाद्देवलोकं देवलोकादादित्यमादित्याद्वैद्युतं वैद्युतान्मानसं मानसः पुरुषो भूत्वा ब्रह्मलोकमभिसम्भवन्ति ते न पुनरावर्तन्ते शिष्टा दन्दशूका यत इदं न जानन्ति तस्मादिदं वेदितव्यमथाप्याह।

इस प्रकार ब्रह्मनिष्ठ होकर कर्मकरना वेदों में बताया है ब्रह्मनिष्ठात्मक कर्मकाण्ड से मोक्ष की प्राप्ति होती है आत्मा की एकपरता पर यह मन्त्र कहा है "न तं विदाथ य इमा जजानान्यद् युष्माकमन्तरं बभूव। नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति।

अर्थात् अविद्यारूपी अन्धकार से उस ब्रह्म का ज्ञान कठिन हो जाता है। जो तपस्या एवं अहिंसा द्वारा वेदोक्त कर्म को करता है उसको ब्रह्मज्ञान से निरतिशयानन्द कैवल्य सुख की प्राप्ति वैदिक कर्मकाण्ड में बताई है, वेदज्ञान आत्मज्ञान पर ही परिसमाप्त है।

इसके अनन्तर निघण्टु का समाम्नाय है जिससे निरुक्त के प्रथम काण्ड में ही "समाम्नायः समाम्नातः स व्याख्यातव्यः तमिमं समाम्नायं निघण्टव इत्याचक्षते निघण्टवः निगमात्" निघण्टु अध्याय में वैदिक समनाम आख्यात को एकत्र कर बताया है। यथा, पृथ्वी के २१ नाम पृथक् गौ, ग्मा, ज्मा आदि प्रदर्शित किये हैं, पञ्चदश हिरण्य नाम, हेम, चन्द्रम्, रुक्मम्, इत्यादि। षोडशान्तरिक्ष नाम अम्बरम्, वियत्, व्योम इत्यादि देवपत्न्य इत्येक त्रिंशत् यहां तक नैघण्टुक काण्ड निरुक्त से पृथक् लिखा है इसके रचयिता भी यास्क ही है "आद्यं नैघण्टुकं काण्डं द्वितीयं नैगमं तथा तृतीयं दैवतञ्चेति समाम्नायस्त्रिधा मतः" वैदिकसमाम्नाय तीन काण्डों में समाप्त हुआ है।

मानव संस्कृति का विकास वेदों से हुआ है। वेदों में देवता वह्नि, पर्जन्यादि से अलौकिक चमत्कार संसार के भौमान्तरिक्ष उत्पातों का शमन मानव जगत् में बहिर्मुख दृष्टि से बढ़ने से अनर्थ देवोपद्रवादि आजाते हैं, उनके शासन करने के विधान तथा वैज्ञानिक है—

गवेषणा शिल्पकला, औषधि, नीति आदि अमूल्य साहित्य का भण्डार अक्षुण्ण रहता है। सम्पूर्ण प्रकार के मानव हित का उत्पादन वेदों में है जो भारत की एक अनुपम निधि है, जिनके ज्ञान से भारतीय जनता अभ्युदययुक्त, प्रसन्न एवं परहित में निरन्तर लगी रहती थी। संसार में जितने भी भौतिक एवं दिव्य विज्ञान निधि हैं उनका उत्पादन वेदों में ही है।

इस महान् अत्युपयोगी वेदार्थ का ज्ञान बहुत क्लिष्ट होने से मानवता इस के लाभ से वञ्चित प्रायः हो रही है अतः देवराजयज्वकृत टीका भी साथ में श्री महादत्त त्रिवेदी, एम० ए० शास्त्री एवं पं० रामनाथ दाधीच साहित्य शास्त्री द्वारा संशोधनादि कार्य को सुचारुरूपेण सम्पादित कर प्रस्तुत की गई है। गुरुमण्डल के तत्त्वावधान में वैदिक विज्ञान की पिपासा पर ध्यान दिया मानवता के एकनिष्ठ परम उपासक श्रीयुत सेठ मनफूलराय जी मोर ने। आपने मानवता के हित के लिये वेदज्ञान की सरलता जिससे हो यह विचार कर "गुरुमण्डल" के द्वारा पुस्तक रूप में निरुक्त-निघण्टु का प्रकाशन कर जनता की दीर्घकालीन उत्कण्ठापूर्ण पिपासा को शान्त कर भगवान् वेद के अखण्ड नित्य शुभ आशीर्वाद को ग्रहण किया है। जनता इस से लाभ उठाये भगवती परम्बा सेठ जी के इस विद्याविकास यज्ञ को सफल बनावें "सर्वदानाधिकं ब्रह्म" सब दानों में वेद के ज्ञान को फैलाना महान दान है। ग्रन्थ के सम्पादन में प्रमादादि से यदि त्रुटियां रह गई हों तो कृपालु विद्वद्वरगण उन्हें सुधार लें।

भवदीय—

राजगुरु हरिदत्त शास्त्री

टेहरीगढ़वाल

निरुक्त ( निघण्टु ) का अभिनव संस्करण पाठकों के करकमलों में र्पित करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। निरुक्त का यह प्र भाग है इसमें केवल निघण्टु समाम्नाय और उसपर पदनिर्वचन है जिसका प्रतिपादक सुप्रसिद्ध विद्वान् देवराज यज्वा की निघण्टु का है।

इस निरुक्त के कर्ता वेदमार्गप्रतिष्ठापक महर्षिप्रवर श्रीयास्काचार्य । निरुक्तकार यास्क ने प्रायः चौदह निरुक्तकार गिनाये हैं, जिससे रुक्त की प्राचीन परम्परा का पता लगता है। जैसे—

औपमन्यव, औदुम्बरायण, वार्ष्यायणि, गार्ग्य, आग्रायण, शाकपूणि, र्णवाभ, तैटिकि, गालव, स्थौलाष्ठीवि, क्रौष्टुकि, कात्थक्य एवं १३ वां स्वयं यास्क और १४ वां शाकपूणि का पुत्र या कौत्सव्य हो सकता है।

निरुक्त में नि० भा० १।१३ 'निरुक्तं चतुर्दश प्रभेदं' नि० भा० १।२० में निरुक्त चतुर्दशधा इत्येवमादि लिखकर चौदह निरुक्तों के होने का विवरण दिया है।

१ श्री भगवद्दत्त के अनुसार ये चौदह निरुक्तकार हुये जिन्होंने अपना-अपना निघण्टु बनाया और उसी पर:निरुक्तरूपी व्याख्या लिखी। विलुप्त निघण्टुओं के प्रमाण यास्कीय निरुक्त, महाभाष्य और अनेक वैदिक भाष्यों में मिलते हैं। महर्षि यास्क निरुक्तकारों में सबसे अन्तिम हैं, अतः उन्हें अपने पूर्ववर्ती नैरुक्तों के निरुक्तों से बराबर सहायता मिली।

१—देखिए वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग १ खण्ड २ पृष्ठ।

इसी प्रकार निघण्टु ग्रन्थों के सम्बन्ध में भी उनकी विविधता के प्रमाण मिलते हैं,

"तान्यप्येके समामनन्ति" ७।१५ अमुक प्रकार के देवता पर भी कई आचार्य निघण्टु ग्रन्थों में एकत्र पढ़ते हैं ऐसा लिखा है।

इन्हीं परवर्ती आचार्यों की अमूल्य सामग्री का संकलन ही यास्काचार्य कृत निरुक्त की लोकप्रियता वैज्ञानिक कसौटी है और उसी पर आनेवाले वैदिक विद्वानों में विद्वत्तापूर्ण मान्यता देते हैं।

फलतः यह अद्यावधि पठन-पाठन के लिये सर्वत्र काम में लाया जाता रहा।

इस निघण्टु के यास्कप्रणीत होने में दो पक्ष प्रचलित हैं।

श्री दुर्गाचार्य, स्कन्द महेश्वर, जर्मन पण्डित रोथ, प्रोफेसर कर्मकर आदि विद्वान् निघण्टु को यास्क कृत नहीं मानते उनका निष्कृष्ट अभिप्राय यह है कि यह निघण्टु बहुत पहले की रचना है और अज्ञातनामा ऋषि इसके बनानेवाले हैं।

—प्रोफेसर सिद्धेश्वर वर्मा

दुर्गाचार्य-तत्र्यैषा........................साधुनारियं

स इमं ग्रन्थं गवादि देव—पत्न्यन्तं समाम्नातवन्तः।

अर्थात् इसी निरुक्त का गौ से आरम्भ कर देवपत्नी के अन्त तक में सूत्र-संग्रह है उस पञ्चाध्यायी निघण्टु का संग्रह श्रुतर्षि ...

नि० ४।१८ भाष्य में लिखता है, ऋ० ५।३६।२ मन्त्र में "अ...

का अर्थ है निघण्टु में इसका भी यही मत है—

निघण्टु यास्क कृत नहीं है, प्रत्युत कश्यप प्रजापति कृत है। उन्होंने महाभारत के ये श्लोक इसकी पुष्टि में दिये हैं।—

"वृषो हि भगवान् धर्मः ख्यातो लोकेषु भारत।
निघण्टुक पदाख्याने विद्धि मां वृषमुत्तमम्।
कपिर्वराहः श्रेष्ठश्च धर्मश्च वृष उच्यते।
तस्माद्वृषाकपिं प्राह कश्यपो मां प्रजापतिः॥

अर्थात् कश्यप प्रजापति ने जो निघण्टु रचा है उसमें मुझे वृषाकपि रूपमें बताया है जिसका अर्थ है श्रेष्ठ धर्म।

श्री पद्कृष्ण बेल्वेलकर ने लिखा है :—

The fourth Adhyaya of the lists of Vedic words called Nighantus, upon which yaska wrote his Commentary called the Nirukta, is styled the "Aikapadipa", because in it are listed together 278 single words of unknown or doubtful origin.

विपरीत "दावने अकूपारस्य" ऐसा अनुक्रम है जो स्पष्ट बतलाता है कि निघण्टु समाम्नाय पहले से चली आती परम्परा प्राप्तकृति है।

१ समाम्नाय शब्देनात्र गवादिर्देवपत्न्यन्तः शब्दः समूह उच्यते न वेदः। समाम्नातः सम्मुखाभिमुख्येनाम्नातोऽभ्यस्तः ग्रन्थीकृत्य पूर्वाचार्यैः पठित इत्यर्थः, अर्थात्—निघण्टु समाम्नाय प्राचीन आचार्यों ने एकत्र किया।

3—Moreover, of the two remaining books which stand unquestioned in Indian literary history as evidences of yaskas learning, his authorship of one, Nighantu must be denied and the only wonder is

that this was not sooner recognised. अभिप्राय यह है कि भारतीय वाङ्मय के इतिहास में यह निर्विवाद है कि निरुक्त एवं निघण्टु यास्क रचित हैं तथापि यास्क ने निघण्टु बनाया यह नहीं माना जा सकता।

4—The Nighantu includes सलिल् Under अन्तिक नामानि ( निघ०२।१६॥ ) and also under वध कर्माणि ( निघ० २।१६॥ ) following the Nighantu yaska remarks इति

अर्थात् निघण्टु के चतुर्थ या ऐकपदिक अध्याय में २७८ पद हैं वे पद किसी अज्ञातनामा एक वा अनेक आचार्यों ने इन्हें सन्दिग्धार्थ समझ कर एकत्र किये हैं, अतः यह निघण्टु पूर्वाचार्य कृत है।

अब आचार्य भगवद्दत्त प्रतिपादित उपरोक्त पक्ष के विरोध में युक्तियां प्रस्तुत की जाती हैं जिससे वास्तविक तथ्य ज्ञात हो सके—

१—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने निघण्टु की भूमिका में लिखा है—"यह ग्रंथ ( निघण्टु ) ऋग्वेदी लोगों के पठितव्य १० ग्रन्थों में है विशेष कर वेद और सामान्य लौकिक ग्रन्थों से सम्बन्ध रखता है। यह मूल और इसका भाष्य निरुक्त यह दोनों ग्रन्थ यास्क मुनिने बनाये हैं।

२—महिम्नस्तोत्र श्लोक सप्तम की व्याख्या में श्री मधुसूदन सरस्वती लिखते हैं:—"एवं निघण्ट्वाद्योऽपि वैदिक द्रव्यदेवतात्मक पद पर्याय शब्दात्मका निरुक्तान्तर्भूता एव। तत्रापि निघण्टुसंज्ञक [illegible] ग्रन्थो भगवता यास्केनैव कृतः। अभिप्राय यह है [illegible] निरुक्तान्तर्गत ही है यह जो पञ्चाध्यायी निघण्टु है [illegible] यास्क रचित ही है।

३—वेङ्कट माधव ने जो मधुसूदन के पूर्ववर्ती विद्वान् हैं ऋ० ७।८४।४॥ की व्याख्या में लिखते हैं—

सप्तैक विंशतिर्नामानि काचिद् गौ बिभर्तीति पृथिवीमाह तस्या हि यास्क पठितान्येक विंशतिर्नामानि।

अर्थात् पृथिवीवाची गो शब्द के यास्कपठित २१ नाम हैं दुर्गाचार्य ने जो यह आक्षेप किया है कि निघण्टु में दावने अकूपारस्य इस क्रम से दो पद पढ़े गये हैं। इसके विपरीत निरुक्त में जो निगम हैं उसमें इनका क्रम "अकूपारस्य दावने" (ऋ० ५, ३९, २) है। एक ही ग्रन्थकार निगमान्तर्गत क्रम को नहीं तोड़ सकता अतः निघण्टु का कर्ता कोई अन्य है, यह कोई ठीक नहीं। यास्क ने पदक्रम को देखकर "अकूपारस्य" का निर्वचन किया है न कि और कोई निगमान्तर्गत क्रम से विपरीत।

"दावने" पद ऋग्वेद में २५ से अधिक बार आया है यास्क उसका अर्थ मात्र देता है। किसी प्राचीन निघण्टु में ये दोनों पद निघण्टु में उपलब्ध क्रमानुसार ही पढ़े गये हों परन्तु यास्क ने निघण्टु का क्रम पूर्वाचार्यों का अनुकरण करते हुए उसमें से ले लिया और व्याख्या में एक ही मन्त्र पर्याप्त समझा।

आचार्य दुर्ग जिस पाठ से अपने पक्ष की पुष्टि करते हैं वह निम्नलिखित है:—

"उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदञ्च वेदाङ्गानि च"

"इमं ग्रन्थं गवादिदेवपत्न्यन्तं समाम्नातवन्तः"

इस ग्रन्थ का जिसमें गौ से लेकर देवपत्न्यः तक शब्द हैं समाम्नान किया।

इसके उत्तर में यह कहना है कि निरुक्त के वचनों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि जिन ऋषियों ने निघण्टु बनाया उन्होंने ही निरुक्ति भेदाहों का भी समाम्नान किया। अतः उस आदि निघण्टु पर निरुक्त भी बन चुका था फिर यास्क को उसका व्याख्यान करने से क्या प्रयोजन, अतः समाम्नायः समाम्नातः स व्याख्यातव्यः इस वचन का दुर्गोक्त अर्थ असङ्गत मालूम होता है वह समाम्नाय तो तत्तत् ऋषियों द्वारा व्याख्यात हो चुका। इस ग्रन्थ का अभिप्राय निघण्टु सामान्य से है अर्थात् निघण्टु शब्द जातिवाची है। शाकपूणि आदि आचार्यों का निघण्टु गो शब्द से आरंभ होता है यह हो सकता है कि उसका भी देवपत्न्यः पद में अन्त हो।

अतः प्राचीन आचार्यों के निघण्टु प्रचलित थे और उनकी व्याख्या, स्वयं उन उन महर्षियों ने बनाई आगे आनेवाले विद्वानों में भी अपने स्वतन्त्र निघण्टु और उसकी व्याख्या करने की परम्परा प्रचलित रहेगी।

अतः यास्क कृत निघण्टु और उसका आगे का प्रकरण एक ही है। निघण्टु ३।११ में कुछ नाम और कुछ आख्यात एकत्र पढ़े गये हैं ऐसा कई निरुक्त व्याख्याकार मानते हैं।

दुर्ग को इस पक्ष के मानने में कोई आपत्ति नहीं।

उपर्युक्त प्रतिपादन से स्पष्ट है कि नैरुक्त लोग अपना-अपना निघण्टु स्वयं बनाते थे फिर निरुक्तकार यास्क ने प्रस्तुत निघण्टु बनाकर अपना निरुक्त रचा ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं उठती।

वृषाकपि के उल्लेख से कश्यप प्रजापति कृत निघण्टु की स्थिति है
ा सिद्ध हो सकता है परन्तु यह नहीं कि वर्तमान निघण्टु उनका
या हुआ है ।

प्रो० कर्मकर जो यह कहते हैं निघण्टु २।१६ में तडित् के दो अर्थ
ये गये हैं यास्क उनमें से अन्तिक को ही उचित अर्थ मानता
ीखता है ।

यदि वह निघण्टु का भी बनाने वाला होता तो तडित् का यथार्थ
। करता ।

निघण्टु २।१६ में ३३ वधकर्मा धातुओं में वियातः, आखण्डलः,
ाडित् ये तीन नाम पढ़े गये हैं । कौत्सव्य के निरुक्त निघण्टु में भी
हिंसावाची ३१ पदों में आखण्डल और तडित् ये दो नाम पढ़े गये हैं
और वह तडित् को अन्तिक नामों में भी पढ़ता है ।

इनके वहां पढ़ने का अभिप्राय इनके धात्वर्थ की ओर निर्देश करने का
है । यास्क निरुक्त ३।१० में इस बात का विशेष ध्यान रखकर कहता है—

"ताडयतीति सतः"

अर्थात् ताडन करने से ही तडित् नाम है । अतः तडित् का अन्तिक
नाम गौण है । विद्युत् अर्थ में भी ताडन कर्म पाया जाता है ।
यास्क ने वधकर्मा धातुओं में ताड़ी आख्यात पढ़कर इस बात को और
भी स्पष्ट कर दिया है कि जिस धातु से तडित् बनता है उसी से ताड़ी
बनता है ।

अतः धातुओं में नाम पढ़कर उसके यौगिक रूप को विशेष दिखाना
ही प्रयोजन है ।

अब जो यह कहा गया कि आर्थिकमें नाम धातु को गौ
इनमें दो नाम हैं। निघण्टुकार ने भूलसे इन्हें भी धातु ही सम
था और यास्कने उस भूल को दूर किया।

परन्तु यह भी ठीक नहीं इनका अभिप्राय यह है कि धातुओं
नाम पढ़ कर उनके यौगिक रूप को दिखाना ही सर्वथा ध्येय है।

इनके साथ साथ महर्षि यास्क ने प्रसङ्ग से भी दुर्ग, सत्य
सत्यव्रत, राजाराम और कर्मकर के उपरोक्त सिद्धान्तों के "अग्ने
मिधानैः संयुज्य हविष्योदयानि इन्द्राय सूक्तं। इन्द्राय सूक्तं
इन्द्रायां हे, सुधे।" इति। "तान्यप्येके समामनन्ति भूयांसि तु
समाम्नानात्। 'यत्तु संविज्ञानमूलं स्याद्प्राधान्यस्तुति तत्समामने।
अथोत कर्मभिः ऋषिभिर्देवताःस्तौति वृत्रहा। पुरन्दरः। इति तान्यप्येके
समामनन्ति भूयांसि तु समाम्नानात्"। ७।१३।

अर्थात् कई नैरुक्त विशेषणों सहित इन्द्रादि देवता पदों का समाम्नान
करते हैं किन्तु फिर भी उनका समाम्नान करने से अनेक विशेष्य
बच जाते हैं।

परन्तु इनमें प्रधान स्तुतिवाले (अग्नि आदि) देवता नाम हैं उनका
मैं समाम्नान करता हूँ।

कई आचार्य कर्म से प्रसिद्ध देवता नाम निघण्टु में एकत्र पढ़ते हैं
यथा :—वृत्रहा इत्यादि। परन्तु वे भी सबका समाम्नान नहीं कर
[illegible] वचन के व्याख्यान में दुर्ग लिखते हैं "अहं तु न समामने"
[illegible] जैसा समाम्नाय नहीं बनाता। यास्कने जैसा निरुक्त
वस्तुतः वैसा ही उसका यह निघण्टु है। यास्क के

लेख से बढ़ कर इस विषय में अन्य किसी का प्रमा
हो सकता उससे स्पष्ट है कि यह समाम्नाय उन्हीं का बनाय
है।

प्रोफेसर वेलवेकर कहते हैं कि निघण्टु के चतुर्थ अध्याय में जो प
गये हैं वे अज्ञात या सन्दिग्ध अर्थ और व्युत्पत्तिवाले हैं। सन्दिग्
वाले मान कर ही किसी या किन्हीं प्राचीन आचार्य या आचार्योंने
एकत्रित किये थे।

"एतावतामर्थानामिदमभिधानम्" चतुर्थ काण्ड में अनेकार्थ वा
एक एक पद पढ़ा गया है उन्हीं पदों के भाष्य के आरम्भ में यास्काचा
ते हैं—"अथ यान्यनेकार्थान्यनेक शब्दानि तान्यतोऽनुक्रमिष्यामो
नवगतसंस्कारांश्च निगमां स्तदैकपदिकमित्याचक्षते" अर्थात् अब
नेक अर्थोंवाले एक एक शब्द हैं उनका यथाक्रम व्याख्यान करें
रैर अनवगत संस्कारवाले निगम भी पढ़ेंगे। इसको ऐकपदिक कह
। दुर्ग लिखते हैं—अनेन नाम्नाप्येनमाचार्या आचक्षते इस काण्ड
ऐकपदिक नाम पहले आचार्यों को भी अभिमत था।

अतः यह स्पष्ट है कि पहले निघण्टुकार भी अपने अपने ग्रन्थों
ह ऐकपदिक काण्ड पढ़ते थे और अपने अपने निरुक्तों में उसका
ाम रखते थे। अब देखना यह है कि उन प्राचीन आचार्यों
नेघण्टु ग्रन्थों में भी इस ऐकपदिक काण्ड में यही पद पढ़े जाते
ा भिन्न भिन्न पद होते थे।

श्री भगवान दत्त के अनुसार प्रत्येक निरुक्तकार अनवगत संस्कारवा
निगमस्थ पदों को पढ़ता था इसका प्रमाण भी है।

यास्कने श्वात्रम् २।१० को धन नामो में पढ़ा है फिर वह शब्द को निघण्टु ४।२ में पढ़ता है इसकी निरुक्त व्याख्या ५।६ में यहां यास्क श्वात्रम् इति क्षिप्रनाम यह किसी प्राचीन निघण्टु का प्रमाण देता है इससे मालूम होता है कि श्वात्रम् का धननाम पठ कर यास्क के हृदय में यह बात अङ्कित थी कि इस पद का क्षिप्र नाम भी है

अतः उसको अभीष्ट अर्थ की सिद्धि के लिये यह पद चतुर्थाध्याय में दोबारा पढ़ा गया।

यास्क पठित शब्द जो एक काण्ड में आये हैं प्राचीन नैरुक्तों ने इन्हें सन्दिग्ध समझा था यह कथन भी समीचीन नहीं जान पड़ता। देखि इस निघण्टु में ४।२ में शिपिविष्ट और विष्णु दो नाम पढ़े गये हैं इनमें विष्णु तो पहले भी निघण्टु ३।१७ में यज्ञ नामों में पढ़ा गया है परन्तु अन्यत्र नहीं पढ़ा गया। यास्क निरुक्त ५।७ में बताते हैं कि किसी प्राचीन आचार्य ने ये दोनों पद विष्णु के नामों में पढ़े थे सम्भवतः वह आचार्य औपमन्यव था इससे स्पष्ट है कि शिपिविष्ट का अर्थ यास्क से पहले भी ज्ञात था। परन्तु व्युत्पत्ति आदि दर्शाने के लिये यास्क ने ऐकपदिक में पाठ कर लिया। इस ऐकपदिक काण्ड में और भी ऐसे अनेक पद पढ़े गये हैं जिनका अर्थ यास्क के पूर्ववर्ती नैरुक्तों को ज्ञात था। अतः ऐकपदिक काण्ड में सब सन्दिग्धार्थ पद केवल अनेकार्थ और निर्वचन अपने मत में दिखाने के लिये दिये हैं, न कि और किसी अभिप्राय से।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट प्रकट है कि प्रस्तुत निघण्टु यास्क प्रणीत है।

इस विषय पर सम्मान्य विद्वद्गण और प्रकाश डालेंगे तो हमें
धिक प्रसन्नता होगी।

निरुक्त के इस निघण्टु भाग में ५ अध्याय और ३ काण्ड हैं। पहले
अध्याय नैघण्टुक चौथा नैगम और पाँचवां दैवतकाण्ड कहलाते हैं।
समय तक उपलब्ध निघण्टु के संस्करणों में स्वर्गीय डा० लक्ष्मण
रूप का सम्पादित संस्करण ही सर्वोत्तम है।

यह निघण्टु निरुक्तान्तर्गत ही है। दुर्ग और स्कन्द आदि के भाष्यों
निरुक्त प्रथमाध्याय को षष्ठाध्याय कहा है। वे निघण्टु के प्रथम पांच
यायों से आरम्भ कर आगे प्रति अध्याय की गणना करते हैं। सूक्ष्म
से यही प्रतीत होता है कि निघण्टु भी निरुक्त कहलाता था और
क निरुक्तकार इसे रखकर आगे व्याख्यान आरम्भ करता था।

महर्षि यास्क इसके रचयिता हैं—जैसे सायण ने अपने ऋग्वेद भाष्य
उपोद्घात में लिखा है—

पञ्चाध्यायरूप काण्डत्रयात्मके एतस्मिन्ग्रन्थे परानिरपेक्षतया पदार्थे
क्तत्वात् तस्य ग्रन्थस्य निरुक्तत्वम् तद्व्याख्यानञ्च समाम्नायः समा-
तः इत्यारभ्यतस्यास्तया स्तोद्भाव्यमनुभवत्यनुभवतीत्यन्तैर्द्वादश-
ध्यायैर्यास्को निर्ममे।

महाभाष्य से पहले के वाङ्मय के इतिहास का पता लगाने को
भी तक बहुत कम प्रयत्न हुआ है। हां, कुछ योरोपीय विद्वानों ने शीघ्रता
अवश्य कुछ लिखा है जो प्रमाण कोटि में नहीं आता। महा भारत
न्ति पर्व अध्याय ३४२ श्लोक ७२-७३ में यास्क का उल्लेख आया है—

यास्को मामृषिरव्यग्रो नैक यज्ञेषु गीतवान्।
शिपिविष्ट इतिह्यस्माद् गुह्यनाम धरोह्यहम् ॥ ७२ ॥

स्तुत्वा मां शिपिविष्टेति यास्क ऋषिरुदारधीः ।
मत्प्रसादादधो नष्टं निरुक्तमभिजग्मिवान् ॥ ७२ ॥

इससे यह ज्ञात होता है कि यास्ककाल महाभारत के लगभग तीन शताब्दी के अन्दर रहा होगा। इस पर गवेषणा की आवश्यकता है।

प्रस्तुत निघण्टु के प्रख्यात टीकाकार श्री देवराजयज्वा वैदिक निघण्टु का भाष्य रचनेवाले एक ही व्यक्ति हैं। इनके द्वारा निघण्टु टीका भूमिका में अपने पिता का नाम यज्ञेश्वर आर्य पितामह का नाम देवराजयज्वा और अभिगोत्र संभव ऐसा लिखा गया है। यह रङ्गेशपुरी पर्यन्त ग्राम के रहने वाले थे। डा० पं० कुन्हन् राज का मत है कि देवराज सायण के परवर्ती हैं परन्तु देवराज के द्वारा कहीं भी सायण को उद्धृत नहीं किया गया है। डा० लक्ष्मण स्वरूप अपनी निरुक्त की भूमिका में देवराज को भोज, देव और भरत स्वामी को उद्धृत करते हुए लिखा है—भरत स्वामी का समय संवत् १३६० के आसपास है। देवराज को सायण उद्धृत करता है। सायण वीर बुक्क का प्रधान अमात्य था जो संवत् १४०० के आसपास राज्य करता था इसलिये देवराज संवत् १३०० के समीप हुआ होगा।

अन्त में इस ग्रन्थ के प्रूफ संशोधन कार्य में हमारे अन्यतम सहयोगी श्री रामनाथ दाधीच शास्त्री एवं श्री जगदीश लालजी मिश्र को हार्दिक धन्यवाद देते हैं जिनके सतत परिश्रम से यह कार्य सफलता पूर्वक सम्पन्न हुआ।

वैदिक साहित्य के अध्ययन अनुरागी संस्कृत भाषा के प्रचारार्थ
दृढसंकल्पित अनुरागी सहृदय सज्जन एवं सुधीजन भी
इस ओर से आगे शुभ संकल्प को क्रियान्वित कर देंगे सतत

अभूतपूर्व आदर्श रक्खा है। शास्त्रमय जीवन द्वारा सम्पूर्ण प्राणीमात्र
विश्व में हित हो इसीलिये गुरु मण्डल के नवम पुष्प के रूप में स्मृति
दर्श जैसे महान लोकोपकारी विशालकाय विश्व भर में उपलब्ध स्मृति
ह कर संस्कृत जगत् को अमर देन दी है।

आप ही का वैदिक भाषा की महान् ज्ञानराशि का प्रचार येनकेन
ारेण भूमण्डल पर हो जिससे सद्भावना, अहिंसा, प्रेम और सत्य की
ेष्ठा होकर विश्व में शान्ति की विजयपताका फहराई जाने का स्वप्न
। संक्षेप में अपने जीवन में अधिकाधिक समय को शास्त्र चिन्तन में
ाकर मानव प्राणीमात्र के हित में लग त्याग और पुरुषार्थ द्वारा सस्ता
ाम वाम काम और न्यायसुलभ होकर कर्तव्यारूढ हो आपको इसकी
ावर चिन्ता लगी रहती है।

शास्त्रों में गोते लगाते लगाते श्री मोर ने अपने जीवन में निष्कर्ष
काल लिया है कि इनका निःस्वार्थ प्राणी हित के लिये अधिकाधिक
चार हो उनकी दीर्घ काल की संकल्पित भावना ही आज वेदों के महान्
ानराशि को स्फुट करने में सोपान स्वरूप निरुक्त के निघण्टु भाग का
काशन आप लोगों के हाथ में आ रहा है इसके बाद क्रमशः तीन जिल्दों में
घण्टुक नैगम और दैवतकाण्ड यथा शीघ्र प्रकाशित कर प्रस्तुत किये जावेंगे।

आशा है संस्कृतप्रणयी उदार शास्त्र व्यसनी विद्वद्वर्ग एवं गृहस्थ वृन्द
स पुण्य कार्य के प्रचारार्थ श्री मोरजी की तरह मुक्तहस्त से आगे
ावेंगे।

इस ग्रन्थ के आरम्भ में श्री परशुराम कृष्ण गोडे एम० ए० भाण्डार-
र प्राच्य शोध संस्थान पूना के अधीक्षक ( क्यूरेटर ) महोदय ने कृपा

कर अंग्रेजी भूमिका लिखकर हमें उपकृत किया उन्हें किन शब्दों आभार प्रदर्शित किया जाय।

उन्हें आधुनिक प्रचार युग से दूर साहित्य सेवा की अनुपम धुन सवार है इतने गुरुतर कार्यभार को संभालते हुए आपने संस्कृत साहित्य की विविध गवेषणापूर्ण लेखों से जो सेवा की है वह स्मरणीय है। हमारे लिये कम गौरव का विषय नहीं है। परम पूज्य श्री ६ गुरुवर्य पं० हरिदत्तजी शास्त्री विद्यारत्न विद्यालङ्कार धर्मधुरीण महोदय ने प्राक्कथन लिखकर हमें आशीर्वाद से अनुगृहीत किया है यह सब उनका निज का काम है। गुरुमण्डल के संचालक के रूप में चिर काल तक पथप्रदर्शन कर आप हम लोगों का गौरववर्धन करते रहें यह परम पिता से प्रार्थना है।

इस कार्य को शीघ्र सम्पादन करने में हम लोगों के अनवधान एवं 'भ्रम प्रमादादि दोषवशात्' जो त्रुटियां रह गई हैं उन्हें कृपालु पाठक वृन्द अन्त में दिये गये शुद्धिपत्र से संशोधन करने की उदारता दिखलायेंगे।

ब्रह्मदत्त शास्त्री, साहित्याचार्य, एम० ए०

॥ श्री शिवः शरणम् ॥

# निवेदनम्

## ब्राह्मणेन निष्कारणं षडङ्गो वेदोऽध्येयोज्ञेयश्च ।

अत्र सांगवेदाध्ययनं ब्राह्मणस्याध्ययनविधिप्रयुक्तमात्रेणैव ब्राह्मणमपितु परमगाम्भीरस्य वेदस्यार्थमवगन्तुं शिक्षादीनि षडङ्गानि प्रवृत्तानि तान्यप्यवश्यमधीतव्यानीति ।

वर्णस्वराद्युच्चारणप्रकारो यत्र विविच्य प्रतिपाद्यते सा शिक्षायथैतरीये शिक्षाध्याये वर्णस्वरोच्चारणप्रक्रिया विजृम्भिता ।

कल्पस्त्वाश्वलायनापस्तम्बबौधायनादिसूत्रग्रन्थसम्पादनात्मकं यत्र विविच्य प्रतिपादितम् ।

व्याकरणम् पाणिनीयशाकटायनादिप्रणीतम् यत्र प्रकृति प्रत्यय स्वर पद विभक्ति विज्ञान स्कन्दात्मकमुपलभ्यते ।

निरुक्तम् अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तम् तन्निरुक्तम् ।

छन्दोग्रन्था यत्र छन्दसांव्याख्या छन्दरचनाप्रकारः छन्दःशास्त्र-विज्ञानम् ।

ज्योतिषम् यज्ञकालार्थं सिद्धये कालज्ञानम् येन भवति तज्ज्योतिषम् ।

तानीमानि निर्दिष्टानि षडंगानि येषामध्ययनं स्वार्थं वेदवि-[illegible]

तत्रैव त्रिधारणा स्वभावतः प्रभवन्ति नैघण्टुक निरुक्तोपक्रम कोशाः षडङ्गत्वेन परिगणिताः ।

यद्यपि निघण्टुनिरुक्ते यास्काचार्यस्यैव कृतिः तथापि निरुक्तं समाम्नायं निरुक्तमिति पूर्वमासीदिति तत्प्रकरणा तत्र भगवान् प्रदर्शन विशेष निर्धारणया ज्ञायते निघण्टुनाम विकीर्णानाम् एकत्रीकरणम् यथा कृत धर्माणो ऋषयोऽभूवुः ।

पुराकालसमनुष्ठे विकीर्णानां शब्दानामक्षरराशीनां स्वल्पमन- यिकालेन प्रत्यभिज्ञया साक्षात्कृत्य एकत्र ग्रन्थनकालेन निघण्टुग्रन्थं वर्णं शब्दराशीमयनं कृतवन्तः ।

पुराकल्पे विकीर्णा एव मन्त्रा तेषां ग्रन्थीभूतानामेव तेषामध्ययना- ध्ययनतः शाखासमुद्भूता ततः सर्वशाखागतनामनैघण्टुकपदानां सुखबोधार्थम् ।

निघण्टुनामको ग्रन्थो भगवता यास्केन समाम्नातः तत्तन्मन्त्रार्थं मन्त्रार्थावबोधनापरिसमाप्तसंलक्ष्यमन्त्रगतानां पदानाम् तात्पर्यवेदनाय ब्राह्मणग्रन्था समाम्नाताः । ब्राह्मणग्रन्थेष्वपि मन्त्रार्थपरिज्ञानं नाक्षमिति मत्वा निरुक्तादीनि वेदाङ्गानि समाम्नातानि तत्र निरुक्तम् श्रोत्रमुच्यते ।

निरुक्तादृते वेदानां अर्थपर्यासमसमन्वयमानः

निरुक्तम् श्रोतृत्वेन शब्दस्य तुल्याङ्गम् चकार ।

मन्त्रकाले कृतधर्माणो ऋषयो बभूवुः ते अवरेभ्यः असाक्षात्कृत- धर्मभ्यः उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः । तत्राद्यं निरुक्तमूलसूत्रम् भगवान् यास्कः प्रथमम् रचितवान् निघण्टोर्माध्यरूपम् समाम्नातः गवादिदेव पत्न्यन्तम् निरुक्तमाचरितम् यास्केनेति ।

तदिदं नैघण्टुकं कृत धर्माणां महर्षिणां स्वे विकीरितानां अस्य महतं निःश्वसितं अव्यक्तनादात्मकं व्यक्तं वर्णस्वररूपेण आकाशे तद्दिव तदैव महर्षिणां समाम्नातं स्वरवर्णसमूहं निगमनाम्नैघण्टुकपदवाच्यं प्रागासीत्। तमिममतिगूढार्थं कौत्स्यादिभिः निर्वचनप्रकारेण निरुक्तम्।

नामाख्यातोपसर्ग निपात लक्षणम्, भावविकार लक्षणम्, सर्वाण्या ख्यातजानि नामानि तथा चानेकार्थानवगतसंस्काराणि परोक्ष कृत्यातिपरोक्षकृताध्यात्मिकलक्षणादीनिशब्दमात्राणि अनेकार्थानवगतसंस्का राज्ञुक्रमादि विचार देवतानामाकारचिन्तनादि भक्ति साहचर्य संस्तव कर्मसूक्तभाक् हविर्भाक् देवतानां निरूपणम् मंत्रार्थ निर्वचनेनदेवताभिधान निर्वचन मित्यादि विषयाः निरुक्तशास्त्रेण निर्णेतव्या भवन्ति।

> तत्र प्रत्यक्षेणानुमित्यावा यस्तूपायो न विद्यते।
> एनं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता॥

आत्मसाक्षात्कारः परम पुरुषार्थो वेदैरेवलभ्यते।

"वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं"

"ईशावास्यमिदं सर्वं"

इत्यादि प्रत्यगात्मसाक्षात्कारज्ञानम् वेदैरेवलभ्यम् दर्शनाद्य न्यशास्त्राणि वेदैरेव प्रस्तुतिताः सन्ति। परम पुरुषार्थ एव मनुष्य-जन्मनः प्राधान्यम्।

"इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति"

"पूर्णं ब्रह्मणात्मनो ब्रह्मवान् भों भगवते"

"सर्वं ब्रह्म सनातनं ब्रह्म"

ब्रह्मगतिरेव निःश्रेयसः साधनिका सा च वेदार्थज्ञानेनदनुष्ठानेन चान्तःकरणशुद्धिद्वारा प्रकाश्यते ।

"यज्ञैर्यज्ञैर् महायज्ञै ब्राह्मीयं क्रियतेतनुः"

वेद बोधित नैष्कर्म्यार्थं नित्ययज्ञादिभिरन्तःकरणशुद्धिद्वारा निःश्रेयस ब्रह्मात्म्यैकता भवति ।

अतः गुरुमण्डल तत्त्वावधाने निरुक्तशास्त्रस्य परमोपयोगिता मभिसमीक्ष्य तत्प्रकाशनम् कृतम् ।

कार्येऽस्मिन् बहुप्रत्यवाय सम्भावना कल्पितासीत् परं श्रीविघ्नविनाशनकृपया सर्वं सुखं संजातम् । पुनरपि सीसकाक्षरानुयोजक प्रमादवशात् संशोधकानवधानाद्वा या अशुद्धयः भवेयुः दृष्टिपथि आगच्छेयुश्च ता शोधनीयाः श्रीमद्भिः तत्रभवद्भिः दोषभारावधारशीलैः गुणलेशग्रहणपक्षपातिभिः सुधीभिः कृपयेति सविनयं विनिवेदनम् ।

गुरु पूर्णिमा वैक्रमाब्दः
२००६

विदुषामविधेयस्य
राजगुरु हरिदत्त शास्त्रिणः
टेहरीगढ़वाल, वास्तव्यस्य

॥ श्री गणेशः प्रसीदताम् ॥

# निरुक्त (निघण्टु) भागस्याध्यायानां खण्डानाञ्च सूची।

—०:०—

॥ समाप्तेयं विषयसूची ॥

* श्रीगणेशाय नमः *

# निरुक्तम्

## ( निघण्टुः )

## टीकाभूमिका ।

मदजलस्यन्दकान्तारसञ्चारिकरिणं मुखे ।
मदालकैस्स्यमानभ्रमद्भृङ्गे केसरिणं भजे ॥ १ ॥

नमस्त्रिधाम्ने शिपिविष्टनाम्ने
निरुक्तविद्यानिगमप्रतिष्ठाम् ।
यमाप यास्कः विविधेषु यागे-
ष्वनेन धाम्नायमभिष्टुवानः ॥ २ ॥

प्रणमामि यास्कभास्करं यो दुस्तमसः प्रकाशितपदार्थः ।
यस्य भुवनत्रयीमिव गावः प्रकटां धर्यां वितन्वन्ति ॥ ३ ॥

वागीश्वरं यशोभिर्यन्निरुक्तमुख्यान्मुनींस्तपोभिश्च ।
अनुरूपयन्तं वन्दे पितामहं देवराजयज्वानम् ॥ ४ ॥

आचार्यं शाण्डिल्यानामृत्विज यजुषि च यद्धृदयतुल्यमनारम्,
वन्दे मैत्रत्रृत्विजमपुनिरुक्तदर्शीनामुपायम् ।

॥ समाप्तैषा विषयसूची ॥

* श्रीगणेशाय नमः *

# निरुक्तम्

## ( निघण्टुः )

## टीकाभूमिका ।

मदवल्यन्तकान्तारसञ्चारिकरिणं मुखे ।
मदालम्बैरुपमानद्गमङ्गं वेलारिणं भजे ॥ १ ॥

समस्तशास्त्रार्थविपुलाब्धे
निरुक्तविद्यानिगमस्निदाम् ।
अवाप यास्को विविधेषु यागे-
ष्वनेन भाष्यमभिष्टुवानः ॥ २ ॥

प्रणमामि यास्कभास्करं यो हृत्तमसः प्रकाशितपदार्थः ।
यस्य भुवनत्रयीमिव भाषः प्रकटो त्रयीं विकासयन्ति ॥ ३ ॥

वागीश्वरं वन्दे निर्वचनमुक्तान्मुनीन्स्तवीमिव ।
अनुक्रमयन्तं वंदे पितामहं देवराजयज्वानम् ॥ ४ ॥

आचार्यं शाब्दिकानामपि यत्तु च यद्दृष्टनुन्यमात्म्,
वन्दे नैगमवृत्तिमप्युपनिरुक्तकारिणामुपत्रम् ।

॥ समाप्तेयं विषयसूची ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

# निरुक्तम्

## ( निघण्टुः )

## टीकाभूमिका ।

महान्तमनन्तकाल्पानश्रुतिकर्तारं मुने ।
मद्राज्ञैरव्यमानद्रुमं केशविणं भजे ॥ १ ॥

समग्रिधार्यं शिविविरतार्थे
निरुक्तविद्यानिगममनिशम् ।
भवान यास्केन विविधेषु यासे-
ष्वनेन नाम्नायमभिष्टुयानः ॥ २ ॥

प्रणमामि यास्कमास्कानं यो दुर्ममाः प्रकाशितवाक्यः ।
यस्य गुणगणसमिव नाम प्रकटी कवी विमलयन्ति ॥ ३ ॥

पार्तिमरं पर्यासि विर्विनिर्गुण गन्धुनीनाथीमिव ।
अनुकर्मार्थं पदे विनाश्य देवतामवपानम् ॥ ४ ॥

भावार्थं शाब्दिकनाम्नि पदानि च यद्दृष्टगुणनवमानम् ,
कुर्वे नैरुक्तनिरुपमनुगुणितवाक्यार्थानामुपमम् ।

...न्तम् ॥

आनन्तर्यं कर्तृनामवलीनुलकमाक्रियानुक्रियार्थे,
ननं यथोन्वगम्यं प्रतिहततनतं प्रननासन्नपूर्वे ॥ ५ ॥
यस्यास्त्रैलनुर्गी—पर्यन्तप्रानवाल्तस्थः ।
विरचयति देवराजो नैघण्टुककाण्डनिर्वचनम् ॥ ६ ॥

रचना यास्केन समाम्नायं नैघण्टुक-नैगम-दैवताका
ण्डैस्त्रिविधं गवादि-देवपत्न्यन्तं निरुक्तं यथा नैगमदैव
काण्डपठितानि पदानि प्रत्येकमुपादाय निरुक्तानि दर्शितनिगमा
नि. नैघण्टुककाण्डपरिपठितानां तु गवादिपर्यन्तानामेकम्
त्रिपञ्चाशदधिकसहस्रं सामान्येन 'एतावन्त्यस्य सत्वस्य नाम
धेयानि' – इति व्याख्याय तत्र प्रदर्श्य कतिचिदेव निरुक्तानि, ता
कानिचिदेव दर्शितनिगमानि. अन्यानि तु ग्रन्थविस्तरभ
सामान्येन निर्वचनस्य गम्यमानत्वात् बुद्धिमद्भिर्निर्व
शक्यानि इत्यभिप्रायेण च उपेक्षितानि । स्कन्दस्वामी यतत्प
निरुक्तमनुजगाम ।

च कानिचिन्न्यूनानि, अपरेषु च कानिचिदपहाय कानिचित् विन्यस्तानि अक्षराणि च विपर्यस्तानि। एवं व्याकीर्णेषु कोशेषु नियमैकभूतस्य प्रतिपदनिर्वचननिगमप्रदर्शनपरस्य कस्यचित् व्याख्यानस्य अभावात् नैघण्टुककाण्डमुत्सन्नप्रायमासीत्।

ततश्च पाठसंशोधनार्थं बालानां सुगमत्वाय च तद्गतानां पदानां क्रमेण प्रतिपदनिर्वचननिगमौ प्रदर्शयितुं,—स्वरादीनीति पूर्वमुक्तस्य प्रकरणत्रयस्य, नैगम-दैवतकाण्डगतानाञ्च पदानां भाष्यकारेण निरुक्तानां स्कन्दस्वामिना च तद्व्याख्यातानां प्रक्रिययोन्मीलयितव्यम्, बहुशस्तु नैघण्टुककाण्डनिर्वचनानन्तरं तदुन्मीलयितुञ्चायमस्मत्परिश्रमः।

इदञ्च स्वमनीषिकया न क्रियते किन्तु नैघण्टुकगतेष्वेव पदेष्वध्यर्द्धशतत्रयमात्राणि पदानि भाष्यकारेणैव तत्र तत्र निगमेषु प्रसङ्गान्निरुक्तानि, स्कन्दस्वामिना च निगमव्याख्यानेषु अन्यानि च पदानि शतद्वयमात्राण्युपात्तानि। तेन च समाम्नायपठितानां पदानामन्येभ्यो व्यावृत्त्यर्थं किञ्चिच्चिह्नं कृतम्, अतस्तेषां पाठशुद्धिस्तथैव शुद्धा। अन्येषाञ्च पदानामस्मत्कुले समाम्नायाध्ययनस्याविच्छेदात्, -श्रीवेङ्कटाचार्यतनयस्य माधवस्य भाष्यकृतो नामानुक्रमण्याः आख्यातानुक्रमण्याः - स्वरानुक्रमण्याः— निपातानुक्रमण्याः -निर्वचनानुक्रमण्याः -तदीयस्य भाष्यस्य च बहुशः पर्यालोचनात्,—बहुदेशसमानीतान् बहुकोशनिरीक्षणाद्य पाठः संशोधितः। निर्वचनञ्च -निरुक्तं, (१) स्कन्दस्वामिकृतां

निरुक्तटीका, (२) स्कन्दस्वामि (क)-भवस्वामि (ख)-गुहदेव (ग)-श्रीनिवास (घ)-माधवदेव (ङ)-उवटभट्ट (च)-भास्कर मिश्र (छ)-भरतस्वाम्यादि (ज)—विरचितानि वेदभाष्याणि, (३) पाणिनीयं व्याकरणं, (४) विशेषत उणादि (क) तद्वृत्ति, (ख) क्षीरस्वाम्यनन्ताचार्यादिकृतां निघण्टुव्याख्यां, (५) भोजराजीयं व्याकरणं, (६) कमलनयनीय-निखिलपदसंस्कारांश्च (७) निरीक्ष्य क्रियते। तत्र च अस्मद्व्याख्येयानां तत्र दृष्टानां पदानां तत्तत्स्थलस्थ निर्वचनमुपादाय तदेवास्मिन्प्रकरणानुरूपञ्चेदुल्लिख्यते, अननुरूपन्तु किञ्चिद् विपरिणमय्य, अन्येषाञ्च कतिपयानां निरुक्तकारोक्तनिर्वचनसामान्यलक्षणमनुसृत्य, निरुक्तिः क्रियते।

निगमाश्च दक्षिणापथनिवासिभिरधीतेषु वेदेषु परिदृश्यमानस्तत्तद्भाष्याणि निरीक्ष्य तत्र तत्र प्रदर्श्यन्ते, अदृष्टनिगमानाञ्च पदानां निगमा अन्वेष्याः।

अतोऽस्माभिर्यथामति प्रदर्शितौ प्रतिपदनिर्वचननिगमौ विद्वांसो बुद्ध्या निरूप्य शुकभाषितवन्मनसि कुर्वन्तु॥

# ॥ अथ निघण्टुसमाम्नायः ॥

## प्रथमोऽध्यायः ।

१ गौः २ ग्मा । ३ ज्मा । ४ क्ष्मा । ५ क्षा । ६ क्षमा । ७ क्षोणी । ८ क्षितिः । ९ अवनिः १० उर्वी । ११ पृथ्वी । १२ मही । १३ रिपः । १४ अदितिः । १५ इला । १६ निर्ऋतिः । १७ भूः । १८ भूमिः । १९ पूषा । २० गातुः । २१ गोत्रेत्येकविंशतिः पृथिवीनामधेयानि ॥ १ ॥

१ हेम । २ चन्द्रम् । ३ रुक्मम् । ४ अयः ५ हिरण्यम् । ६ पेशः । ७ कृशनम् । ८ लोहम् । ९ कनकम् । १० काञ्चनम् । ११ भर्म । १२ अमृतम् । १३ मरुत् । १४ दत्रम् । १५ जातरूपमिति पञ्चदश हिरण्यनामानि ॥ २ ॥

१ अम्बरम् । २ वियत् । ३ व्योम । ४ बर्हिः । ५ धन्व । ६ अन्तरिक्षम् । ७ आकाशम् । ८ आपः ९ पृथिवी । १० भूः । ११ स्वयम्भूः । १२ अध्वा । १३ पुष्करम् । १४ सगरः । १५ समुद्रः । १६ अध्वरमिति षोडशान्तरिक्षनामानि ॥ ३ ॥

१ स्वः । २ पृश्निः । ३ नाकः । ४ गौः । ५ विष्टप् । ६ नभः इति षट् साधारणानि ॥ ४ ॥

१ खेदयः । २ किरणाः । ३ गावः । ४ रश्मयः । ५ अभीशवः । ६ दीधितयः । ७ गभस्तयः । ८ वनम् । ९ उस्राः । १० वसवः ११ मरीचिपाः । १२ मयूखाः १३ सप्तऋषयः । १४ साध्याः । १५ सुपर्णा इति पञ्चदश रश्मिनामानि ॥ ५ ॥

१ आशाः । २ काशाः । ३ उपराः । ४ आष्ठाः । ५ काष्ठाः । ६ व्योम । ७ ककुभः । ८ हरित इत्यष्टौ दिङ्नामानि ॥ ६ ॥

१ श्यावी । २ क्षपा । ३ शर्वरी । ४ अक्तुः । ५ ऊर्म्या । ६ राम्या । ७ यम्या । ८ नम्या । ९ दोषा । १० नक्ता । ११ तमः । १२ रजः । १३ असिक्नी । १४ पयस्वती । १५ तमस्वती । १६ घृताची । १७ शिरिणा । १८ मोकी । १९ शोकी । २० ऊधः । २१ पयः । २२ हिमा । २३ वस्वीति त्रयोविंशतिरात्रिनामानि ॥७॥

१ विभावरी । २ सूनरी । ३ भास्वती । ४ ओदती । ५ चित्रामघा । ६ अर्जुनी । ७ वाजिनी । ८ वाजिनीवती । ९ सुम्नावरी । १० अहना । ११ द्योतना । १२ श्वेत्या । १३ अरुषी । १४ सूनृता १५ सुनृतावती । १६ सूनृतावरीति षोडशोषोनामानि ॥८॥

१ वस्तोः । २ द्युः । ३ भानुः । ४ वासरम् । ५ स्वसराणि । ६ घ्रंसः । ७ घर्मः । ८ घृणः । ९ दिनम् । १० दिवा । ११ दिवेदिवे । १२ द्यविद्यवीति द्वादशाहर्नामानि ॥ ९ ॥

१ अद्रिः । २ ग्रावा । ३ गोत्रः । ४ वलः । ५ अश्नः । ६ पुरुभोजाः । ७ वलिशानः । ८ अश्मा । ९ पर्वतः । १० गिरिः । ११ व्रजः । १२ चरुः । १३ वराहः १४ । शम्बरः । १५ रौहिणः । १६ [illegible] १७ फलिगः । १८ उपरः । १९ उपलः । २० चमसः ।

२१ अहिः । २२ अभ्रम् । २३ वलाहकः । २४ मेघः । २५ दृतिः । २६ । ओदनः । २७ वृषन्धिः । २८ वृत्रः । २९ असुरः । ३० कोश-इति त्रिंशन्मेघनामानि ॥१०॥

१ श्लोकः । २ धारा । ३ इळा । ४ गौः । ५ गौरी । ६ गान्धर्वी । ७ गभीरा । ८ गम्भीरा । ९ मन्द्रा । १० मन्द्राजनी । ११ वाशी । १२ वाणी । १३ वाणीची । १४ वाणः । १५ पविः । १६ भारती । १७ धमनिः । १८ नाळीः । १९ मेळिः । २० मेना । २१ सूर्या । २२ सरस्वती । २३ निवित् । २४ स्वाहा । २५ वग्नुः । २६ उपब्दिः । २७ मायुः । २८ काकुत् । २९ जिह्वा । ३० घोषः । ३१ स्वरः । ३२ शब्दः । ३३ स्वनः । ३४ ऋक् । ३५ होत्रा । ३६ गीः । ३७ गाथा । ३८ गणः । ३९ धेना । ४० ग्नाः । ४१ विपा । ४ नना । ४३ कशा । ४४ धिषणा । ४५ नौः । ४६ अक्षरम् । ४७ मही । ४८ अदितिः । ४९ शची । ५० वाक् । ५१ अनुष्टुप् । ५२ धेनुः । ५३ वल्गुः । ५४ गल्दा । ५५ सरः । ५६ सुपर्णी । ५७ बेकुरेति सप्तपञ्चाशद्वाङ्नामानि ॥ [illegible] ॥

१ अर्णः । २ क्षोदः । ३ क्षद्मः । [illegible] नभः । ५ अम्भः । ६ कबन्धम् । ७ सलिलम् । ८ वाः । ९ वनम् । १० घृतम् । ११ मधु । १२ पुरीषम् । १३ पिप्पलम् । १४ क्षीरम् । १५ विषम् । १६ रेतः । १७ कशः । १८ जन्म । १९ बृबूकम् । २० बुसम् । २१ तुग्र्या । २२ बुर्बुरम् । २३ सुक्षेम । २४ धरुणम् । २५ सिरा । २६ अररिन्दानि । २७ ध्वस्मन्वत् । २८ जामि । २९ आयुधानि । ३० क्षपः ।

३६ उदकम् । ३७ पयः । ३८ सरः । ३९ भेषजम् । ४० सहः । ४१ शवः । ४२ यहः । ४३ ओजः । ४४ सुखम् । ४५ क्षत्रम् । ४६ आवयाः । ४७ शुभम् । ४८ यादुः । ४९ भूतम् । ५० भुवनम् । ५१ भविष्यत् । ५२ आपः । ५३ महत् । ५४ व्योम । ५५ यशः ५६ महः । ५७ सर्णीकम् । ५८ स्वृतीकम् । ५९ सतीनम् । ६० गहनम् । ६१ गभीरम् । ६२ गम्भरम् । ६३ ईम् । ६४ अन्नम् । ६५ हविः । ६६ सद्म । ६७ सदनम् । ६८ ऋतम् । ६९ योनिः । ७० ऋतस्य योनिः । ७१ सत्यम् । ७२ नीरम् । ७३ रयिः । ७४ सत् । ७५ पूर्णम् । ७६ सर्वम् । ७७ अक्षितम् । ७८ बर्हिः । ७९ नाम । ८० सर्पिः । ८१ अपः । ८२ पवित्रम् । ८३ अमृतम् । ८४ इन्दुः । ८५ हेम । ८६ स्वः । ८७ सर्गाः । ८८ शम्बरम् । ८९ अभ्वम् । ९० वपुः । ९१ अम्बु । ९२ तोयम् । ९३ तूयम् । ९४ कृपीटम् । ९५ शुक्रम् । ९६ तेजः । ९७ स्वधा । ९८ वारि । ९९ जलम् । १०० जलाषम् । १०१ इदमित्येकशतमुदकनामानि ॥ १२ ॥

१ अवनयः । यव्याः । ३ खाः । ४ सीराः ५ स्रोत्याः ६ एन्यः । ७ धुनयः । ८ रुजानाः ९ वक्षणाः १० खादो अर्णाः ११ रोधचक्राः । १२ हरितः । १३ सरितः । १४ अग्रुवः । १५ नभन्वः १६ वध्वः । १७ हिरण्यवर्णाः । १८ रोहितः । १९ सस्रुतः २० अर्णाः । २१ सिन्धवः । २२ कुल्याः । २३ वर्यः । २४ उर्व्यः २५ इरावत्यः । २६ पार्वत्यः । २७ स्रवन्त्यः । २८ ऊर्जस्वत्यः २९ पयस्वत्यः । ३० तरस्वत्यः । ३१ सरस्वत्यः । ३२ हरस्वत्यः ।

३३ रोधस्वत्यः । ३४ भास्वत्यः । ३५ अजिराः । ३६ मातरः । ३७ मद्य इति सप्तत्रिंशन्नदीनामानि ॥ १३ ॥

१ अत्यः । २ हयः । ३ अर्वा । ४ वाजी । ५ सप्तिः ६ वह्निः । ७ दधिक्राः ८ दधिक्रावा । ९ एतग्वः । १० एतशः । ११ पैद्वः । १२ दौर्गहः । १३ औच्चैःश्रवसः । १४ तार्क्ष्यः । १५ आशुः । १६ ब्रध्नः । १७ अरुषः । १८ मांश्चत्वः । १९ अव्यथयः । २० श्येनासः । २१ सुपर्णाः । २२ पतङ्गाः । २३ नरः । २४ ह्वार्याणाम् । २५ हंसासः २६ अश्वा इति षड्विंशतिरश्वनामानि ॥ १४ ॥

१ हरी इन्द्रस्य । २ रोहितोऽग्नेः । ३ हरित आदित्यस्य । ४ रासभावश्विनोः । ५ अजाः पूष्णः । ६ पृषत्यो मरुताम् । ७ अरुण्यो गाव उषसाम् । ८ श्यावाः सवितुः । ९ विश्वरूपा बृहस्पतेः । १० नियुतो वायोरिति दशादिष्टोपयोजनानि ॥ १५ ॥

१ भ्राजते । २ भ्राशते । ३ भ्राश्यति । ४ दीदयति । ५ शोचति । ६ मन्दते । ७ भन्दते । ८ रोचते । ९ ज्योतते । १० द्योतते । ११ द्युमदित्येकादश ज्वलतिकर्माणः ॥ १६ ॥

१ जमत् । २ कल्मलीकिनम् । ३ जञ्जणाभवन् । ४ मल्मला-भवन् । ५ अर्चिः । ६ शोचिः । ७ तपः । ८ तेजः । ९ हरः । १० हृणिः । ११ शृङ्गाणि शृङ्गाणीत्येकादश ज्वलतो नामधेयानि ॥ १७ ॥

गौर्हिमाम्बरं स्वः खेद्य आताः श्यावी विभावरी वास्तोरद्रिः श्लोकोर्णोव-नयोस्त्यो हरी इन्द्रस्य भ्राजते जमदिति सप्तदश ॥

॥ इति प्रथमोऽध्यायः ॥

## द्वितीयोऽध्यायः ।

१ अपः । २ अप्नः । ३ दंसः । ४ वेपः । ५ वेपः । ६ विष्ट्वी । ७ व्रतम् । ८ कर्वरम् । ९ करणम् । १० शक्म । ११ क्रतुः । १२ करणानि । १३ करांसि । १४ करिक्रत् । १५ करन्ती । १६ चक्रत् । १७ कर्त्वम् । १८ कर्तोः । १९ कर्तवै । २० कृत्वी । २१ धीः । २२ शची । २३ शमी । २४ शिमी । २५ शक्तिः । २६ शिल्पमिति षड्विंशतिः कर्मनामानि ॥१॥

१ तुक् । २ तोकम् । ३ तनयः । ४ तोक्म । ५ तक्म । ६ शेषः । ७ अप्नः । ८ गयः । ९ जाः । १० अपत्यम् । ११ यहुः । १२ सूनुः । नपात् । १४ प्रजा । १५ बीजमिति पञ्चदशापत्यनामानि ॥ २ ॥

१ मनुष्याः । २ नरः । ३ धवाः । ४ जन्तवः । ५ विशः । ६ क्षितयः । ७ कृष्टयः । ८ चर्षणयः । ९ नहुषः । १० हरयः । ११ मर्याः । १२ मर्त्याः । १३ मर्ताः । १४ व्राताः । १५ तुर्वशाः । १६ द्रुह्यवः । १७ आयवः । १८ यदवः । १९ अनवः । २० पूरवः । २१ जगतः । २२ तस्थुषः । २३ पञ्चजनाः । २४ विवस्वन्तः । २५ पृतना इति पञ्चविंशतिर्मनुष्यनामानि ॥ ३ ॥

१ आयती । २ च्यवाना । ३ अभीशू । ४ अप्नवाना । ५ विनङ्गृसौ । ६ गभस्ती । ७ कवस्नौ । ८ बाहू । ९ भुरिजौ । १० क्षिपस्ती । ११ शक्वरी । १२ भरित्रे इति द्वादश बाहुनामानि ॥४॥

१ अग्रुवः । २ अण्व्यः । ३ क्षिपः । ४ विशः । ५ शर्याः । [illegible] । ७ धीतयः । ८ अथर्यः । ९ विपः । १० कक्ष्याः ।

११ मघनयः । १२ हरितः । १३ स्वसारः । १४ जामयः । १५ सना-भयः । १६ योक्त्राणि । १७ योजनानि । १८ धुरः । १९ शाखाः । २० अभीशवः । २१ दीधितयः । २२ गभस्तय इति द्वाविंशतिरङ्गुलिनामानि ॥ ५ ॥

१ वश्मि । २ उश्मसि । ३ वेति । ४ वेनति । ५ वेसति । ६ वाञ्छति । ७ वष्टि । ८ वनोति । ९ जुषते । १० हर्यति । ११ आचके । १२ उशिक् । १३ मन्यते । १४ छन्त्सत् । १५ चाक-नत् । १६ कायमानः । १७ कनति । १८ कामिरदित्यष्टादश कान्तिकर्माणः ॥६॥

१ अन्धः । २ वाजः । ३ पयः । ४ प्रयः । ५ पृक्षः । ६ पितुः । ७ सुतः । ८ सिनम् । ९ अवः । १० क्षु । ११ धासिः । १२ इरा । १३ इळा । १४ इषम् । १५ ऊर्क् । १६ रसः । १७ स्वधा । १८ अर्कः । १९ क्षद्म । २० नेमः । २१ ससम् । २२ नमः । २३ आयुः । २४ सूनृता । २५ ब्रह्म । २६ वर्चः । २७ कीलालम् । २८ यश इत्यष्टाविंशतिरन्ननामानि ॥७॥

१ आवयति । २ भर्वति । ३ बभस्ति । ४ वेति । ५ वेवेष्टि । ६ अविष्यन् । ७ बप्सति । ८ भसथः । ९ बब्धाम् । १० ह्वरतीति दशात्तिकर्माणः ॥ ८ ॥

१ ओजः । २ पाजः । ३ शवः । ४ तवः । ५ तरः । ६ त्वक्षः । ७ शर्धः । ८ बाधः । ९ नृम्णम् । १० तविषी । ११ शुष्मम् । १२ शुष्णम् । १३ दक्षः । १४ वीळु । १५ च्यौत्नम् । १६ शूषम् । १७ सहः । १८ यहः । १९ बधः । २० वर्गः । २१ वृजनम् । २२ वृक् ।

२३ मजमना। २४ पौंस्यानि। २५ धर्णसिः। २६ द्रवि
२७ स्यन्द्रासः। २८ शम्बरमित्यष्टाविंशतिर्बलनामानि ॥ ९

१ मघम्। २ रेक्णः। ३ रिक्थम्। ४ वेदः। ५ व
६ श्वात्रम्। ७ रत्नम्। ८ रयिः। ९ क्षत्रम्। १० भगः। ११ मील
१२ गयः। १३ द्युम्नम्। १४ इन्द्रियम्। १५ वसु। १६ र
१७ राधः। १८ भोजनम्। १९ तना। २० नृम्णम्। २१ ब
२२ मेधा। २३ यशः। २४ ब्रह्म। २५ द्रविणम्। २६ श्र
२७ वृत्रम्। २८ ऋतमित्यष्टाविंशतिरेव धननामानि ॥ १० ॥

१ अघ्न्या। २ उस्रा। ३ उस्रिया। ४ अही। ५ मही। ६ अदि
७ इला। ८ जगती। ९ शक्वरीति नव गो (मातृ) नामानि ॥

१ रेळते। २ हळते। ३ भामते। ४ हृणीयते। ५ भ्रीण
६ भ्रेषति। ७ दोधति। ८ वनुष्यति। ९ कम्पते। १० भोजत
दश क्रुध्यतिकर्माणः ॥ १२ ॥

१ हेळः। २ हरः। ३ हृणिः। ४ त्यजः। ५ भामः। ६
७ ह्वरः। ८ तपुषी। ९ जूर्णिः। १० मन्युः। ११ व्यथिरित्येक
क्रोधनामानि ॥ १३ ॥

१ वर्तते। २ अयते। ३ लोटते। ४ लोठते। ५ स्यन्
६ कसति। ७ सर्पति। ८ स्यमति। ९ स्रवति। १० स्रंसते। ११ अ
१२ ध्वंसति। १३ ध्वंसति। १४ वेनति। १५ मार्ष्टि। १६ भुरण
१७ शवति। १८ काल्यति। १९ पेल्यति। २० कप
२१ पिस्यति। २२ विस्यति। २३ मिस्यति। २४ प्रवते। २५ प्ल
२६ च्यवते। २७ कवते। २८ गवते। २९ नवते। ३० क्षो

३१ नक्षति । ३२ सक्षति । ३३ म्यक्षति । ३४ सचति । ३५ ऋच्छति ।
३६ तुरीयति । ३७ चतति । ३८ अतति । ३९ गाति । ४० इयक्षति ।
४१ सश्चति । ४२ त्सरति । ४३ रंहति । ४४ यतते । ४५ भ्रमति ।
४६ ध्रजति । ४७ रजति । ४८ सजति । ४९ क्षियति । ५० धमति ।
५१ मिनाति । ५२ ऋण्वति । ५३ ऋण्वोति । ५४ स्वरति ।
५५ सिसर्ति । ५६ वेविष्टि । ५७ योविष्टि । ५८ रिणाति । ५९ रीयते ।
६० रेजति । ६१ दध्यति । ६२ दभ्नोति । ६३ युध्यति ।
६४ धन्यति । ६५ अकवति । ६६ आर्यति । ६७ डीयते । ६८ तकति ।
६९ दीयति । ७० ईयति । ७१ फणति । ७२ हनति । ७३ अर्दति ।
७४ मर्दति । ७५ सस्रुते । ७६ नसते । ७७ हर्यति । ७८ इयति ।
७९ [illegible] । ८० ईङ्खते । ८१ ज्रयति । ८२ श्वाचति । ८३ गन्ति ।
८४ आ गनीगन्ति । ८५ जङ्गन्ति । ८६ जिन्वति । ८७ जसति ।
८८ गमति । ८९ ध्रति । ९० ध्राति । ९१ ध्रयति । ९२ यहते ।
९३ रथर्यति । ९४ जेहते । ९५ प्वाःकति । ९६ क्षुम्पति ।
९७ प्साति । ९८ घाति । ९९ याति । १०० हृपति ।
१०१ द्राति । १०२ द्रलति । १०३ ध्वजति । १०४ जमति ।
१०५ जयति । १०६ पक्षति । १०७ अनिति । १०८ पयते ।
१०९ हन्ति । ११० सेधति । १११ अगन् । ११२ अजगन् ।
११३ जिगाति । ११४ पतति । ११५ इन्वति । ११६ द्रमति ।
११७ द्रवति । ११८ वेति । ११९ हयन्तात् । १२० पति ।
१२१ जगायात् । १२२ अयसुरिति द्वाविंशशतं गतिकर्माणः ॥ १४ ॥

१ नु । २ मक्षु । ३ द्रवत् । ४ ओषम् । ५ जीराः । ६ जूर्णिः । ७ शूर्ताः । ८ शूघनासः । ९ शीभम् । १० तृषु । ११ तूयम् । १२ तूर्णिः । १३ अजिरम् । १४ भुरण्युः । १५ शु । १६ आशु । १७ प्राशु । १८ तूतुजिः । १९ तूतुजानः २० तुज्यमानासः । २१ अज्राः । २२ साचीविद् । २३ द्युगत् । २४ ताजत् । २५ तरणिः । २६ वातरंहा इति षड्विंशतिः क्षिप्रनामानि ॥ १५ ॥

१ तळित् । २ आसात् । ३ अम्बरम् । ४ तुर्वशे । ५ अस्तमीके । ६ आके । ७ उपाके । ८ अर्वाके ९ अन्तमानाम् । १० अवमे । ११ उपम इत्येकादशान्तिकनामानि ॥ १६ ॥

१ रणः २ विवाक् । ३ विखादः । ४ नदनुः ५ भरे । ६ आक्रन्दे ७ आहवे । ८ आजौ । ९ पृतनाज्यम् । १० अभीके । ११ समीके । १२ ममसत्यम् । १३ नेमधिता । १४ सङ्काः । १५ समितिः । १६ समनम् । १७ मीळ्हे । १८ पृतनाः १९ स्पृधः । २० मृधः । २१ पृत्सु । २२ समत्सु । २३ समर्ये । २४ समरणे । २५ समोहे । २६ समिथे । २७ संख्ये । २८ संगे । २९ संयुगे । ३० सङ्गथे । ३१ सङ्गमे । ३२ वृत्रतूर्ये । ३३ पृक्षे । ३४ आणौ । ३५ शूरसातौ । ३६ वाजसातौ । ३७ समनीके । ३८ खले । ३९ खजे । ४० पौंस्ये । ४१ महाधने । ४२ वाजे । ४३ अज्म । ४४ सद्म । ४५ संयत । ४६ संवत इति षट्चत्वारिंशत्सङ्ग्रामनामानि ॥ १७ ॥

१ इन्वति । २ नक्षति । ३ आक्षाणः । ४ आनट् । ५ आप । ६ आपानः । ७ अशत् । ८ नशत् । ९ आनशे । १० अश्नुत इति दश व्याप्तिकर्माणः ॥ १८ ॥

१ दभ्नोति । २ श्नथति । ३ ध्वरति । ४ घूर्वति । ५ वृणक्ति।
६ वृश्चति । ७ कृण्वति । ८ कृन्तति । ९ श्वसिति । १० नभते ।
११ अर्दयति । १२ स्तृणाति । १३ स्नेहयति । १४ यातयति ।
१५ स्फुरति । १६ स्फुलति । १७ निवपन्तु । १८ अवतिरति ।
१९ वियातः । २० आ तिरत् । २१ तळित् । २२ आखण्डल ।
२३ भ्रूणाति । २४ रुणाति । २५ श्रुणाति । २६ शम्नाति ।
२७ तृणेलिह । २८ ताह्हि । २९ नितोशते । ३० निबर्हयति ।
३१ मिनाति । ३२ मिनोति । ३३ धमतीति त्रयस्त्रिंशद्वधक-
र्माणः ॥ १९ ॥

१ दिद्युत् । २ नेमिः । ३ हेतिः । ४ नमः । ५ पविः । ६ सृकः ।
७ वृकः । ८ वधः । ९ वज्रः । १० अर्कः । ११ कुत्सः । १२ कुलिशः ।
१३ तुञ्जः । १४ तिग्मः । १५ मेनिः । १६ स्वधितिः । १७ सायकः ।
१८ परशुरित्यष्टादश वज्रनामानि ॥ २० ॥

१ इरज्यति । २ पत्यते । ३ क्षयति । ४ राजतीति चत्वार
ऐश्वर्यकर्माणः ॥ २१ ॥

१ राष्ट्री । २ अर्यः ३ नियुत्वान् । ४ इन इन इति चत्वारीश्व-
रनामानि ॥ २२ ॥

...स्तुञ्जतुग्र्या आयती अग्रुवो वश्म्यन्ध आयतयोजो मघमघ्न्या
...न्ते हेलो धर्नते नु तळिद्रण इन्यति दभ्नोति विद्युदिरज्यति
राष्ट्रीति द्वाविंशतिः ॥

॥ इति द्वितीयोऽध्यायः॥

## तृतीयोऽध्यायः ।

१ उरु। २ तुवि। ३ पुरु। ४ भूरि। ५ शश्वत्। ६ विश्वम्। ७ परीणसा। ८ व्यानशिः। ९ शतम्। १० सहस्रम्। ११ सलिलम्। १२ कुविदिति द्वादश बहुनामानि ॥ १

१ ऋहन्। २ ह्रस्वः। ३ निधृष्वः। ४ मायुकः। ५ प्रतिष्ठा। ६ कृधु। ७ वम्रकः। ८ दभ्रम्। ९ अर्भकः। १० क्षुल्लकः। ११ अल्प इत्येकादश ह्रस्वनामानि ॥ २ ॥

१ महत्। २ ब्रध्नः। ३ ऋष्वः। ४ बृहत्। ५ उक्षितः। ६ तवसः। ७ तविषः। ८ महिषः। ९ अभ्वः। १० ऋभुक्षाः। ११ उक्षा। १२ विहायाः। १३ यह्वः। १४ ववक्षिथ। १५ विवक्षसे। १६ अम्भृण। १७ माहिनः। १८ गभीरः। १९ ककुहः। २० रभसः। २१ व्राधन्। २२ विरप्शी। २३ अद्भुतम्। २४ बर्हिष्ठः। २५ बर्हिवदिति पञ्चविंशतिर्महन्नामानि ॥ ३ ॥

१ गयः। २ कृदरः। ३ गर्तः। ४ हर्म्यम्। ५ अस्तम्। ६ पस्त्यम्। ७ दुरोणे। ८ नीलम्। ९ दुर्याः। १० स्वसराणि। ११ अमा। १२ दमे। १३ कृत्तिः। १४ योनिः। १५ सद्म। १६ शरणम्। १७ वरूथम्। १८ छर्दिः। १९ छदिः। २० छाया। २१ शर्म। २२ अज्मेति द्वाविंशतिर्गृहनामानि ॥ ४ ॥

१ इरज्यति। २ विधेम। ३ सपर्यति। ४ नमस्यति। ५ दुवस्यति। ६ ऋध्नोति। ७ ऋणद्धि। ८ ऋच्छति। ९ सपति। १० विवासतीति दश परिचरणकर्माणः ॥ ५ ॥

१ शिम्बाता । २ शतरा । ३ शातपन्ता । ४ शिल्गुः । ५ स्यूमकम् । ६ शेवृधम् । ७ मयः । ८ सुग्म्यम् । ९ सुदिनम् । १० शूषम् । ११ शुनम् । १२ शग्मम् । १३ भेषजम् । १४ जलाषम् । १५ स्योनम् । १६ सुम्नम् । १७ शेवम् । १८ शिवम् । १९ शम् । २० कमिति विंशतिः सुखनामानि ॥ ६ ॥

१ निर्णिक् । २ वव्रिः । ३ वर्पः । ४ वपुः । ५ अमतिः । ६ अप्सः । ७ प्सुः ८ अप्नः । ९ पिष्टम् । १० पेशः । ११ कृशनम् । १२ मरुत् । १३ अर्जुनम् । १४ ताम्रम् । १५ अरुषम् । १६ शिल्पमिति षोडश रूपनामानि ॥ ७ ॥

१ अस्रेमा । २ अनेमा । ३ अनेद्यः । ४ अनवद्यः । ५ अनभिशस्त्यः । ६ उक्थ्यः । ७ सुनीथः । ८ पाकः । ९ वामः । १० वयुनमिति दश प्रशस्यनामानि ॥ ८ ॥

१ केतुः । २ केतः । ३ चेतः । ४ चित्तम् । ५ क्रतुः । ६ असुः । ७ धीः । ८ शची । ९ माया । १० वयुनम् । ११ अभिख्येत्येकादश प्रज्ञानामानि ॥ ९ ॥

१ बट् । २ श्रत् । ३ सत्रा । ४ अद्धा । ५ इत्था । ६ ऋतमिति षट् सत्यनामानि ॥ १० ॥

१ चिक्यत् । २ चाकनत् । ३ अचष्टम् । ४ चष्टे । ५ विचष्टे । ६ विचर्षणिः । ७ विश्वचर्षणिः । ८ अव चाकशदित्यष्टौ पश्यतिकर्माणः ॥ ११ ॥

१ हिकम् । २ नुकम् । ३ सुकम् । ४ आहिकम् । ५ माकीम् ।

६ नकिः । ७ माकिः । ८ नकीम् । ९ आकृतमिति नवोत्तराणि पदानि सर्वपद समाम्नानाय ॥ १२ ॥

१ इदमिव । २ इदं यथा । ३ अग्निर्न ये । ४ चतुरश्चिद्ददमानात् । ५ ब्राह्मणा व्रतचारिणः । ६ वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वयाः । ७ जार आ भगम् । ८ मेषो भूतोऽभि यन्नयः । ९ तद्रूपः । १० तद्वर्णः ११ तद्वत् । १२ तथेत्युपमाः ॥ १३ ॥

१ अर्चति । २ गायति । ३ रेभति । ४ स्तोभति । ५ गूर्धयति । ६ गृणाति । ७ जरते । ८ ह्वयते । ९ नदति । १० पृच्छति । ११ रिहति । १२ धमति । १३ कृपायति । १४ कृपण्यति । १५ पनस्यति । १६ पनायते । १७ वल्गूयति । १८ मन्दते । १९ भन्दते । २० छन्दति । २१ छन्दयते । २२ शशमानः । २३ रञ्जयति । २४ रजयति । २५ शंसति । २६ स्तौति । २७ यौति । २८ रौति । २९ नौति । ३० भनति । ३१ पणायति । ३२ पणते । ३३ सपति । ३४ पपृक्षाः । ३५ महयति । ३६ वाजयति । ३७ पूजयति । ३८ मन्यते । ३९ मदति । ४० रसति । ४१ स्वरति । ४२ वेनति । ४३ मन्द्रयते । ४४ जल्पतीति चतुश्चत्वारिंशदर्चतिकर्माणः ॥ १४ ॥

१ विप्रः । २ विग्रः । ३ गृत्सः । ४ धीरः । ५ वेनः । ६ वेधाः । ७ कण्वः । ८ ऋभुः । ९ नवेदाः । १० कविः । ११ मनीषी । १२ मन्धाता । १३ विधाता । १४ विपः । १५ मनश्चित् । १६ विपश्चित् । १७ विपन्यवः । १८ आकेनिपः । १९ उशिजः । २० कीस्तासः । २१ अद्धातयः । २२ मतयः । २३ मतुथाः । २४ वाघत इति चतुर्विंशतिर्मेधाविनामानि ॥ १५ ॥

१ रेभः । २ जरिता । ३ कारुः । ४ नदः । ५ स्तामुः । कीरिः । ७ गौः । ८ सूरिः । ९ नादः । १० छन्दः । ११ स्तुप् । ... । १३ कृपण्युरिति त्रयोदश स्तोतृनामानि ॥ १६ ॥

१ यज्ञः । २ वेनः । ३ अध्वरः । ४ मेधः । ५ विदथः । ... । ७ सवनम् । ८ होत्रा । ९ इष्टिः । १० देवताता । ... । १२ विष्णुः । १३ इन्दुः । १४ प्रजापतिः । १५ घर्म इति ... नि ॥ १७ ॥

भरताः । २ कुरवः । ३ वाघतः । ४ वृक्तबर्हिषः । ५ यतस्रुचः । ... । ७ सबाधः । ८ देवयव इत्यष्टावृत्विङ्नामानि ॥ १८ ॥

१ ईमहे । २ यामि । ३ मन्महे । ४ दद्धि । ५ शग्धि । ... पूर्धि । ७ मिमिड्ढि । ८ मिमीहि । ९ रिरिड्ढि । ... रिरीहि । ११ पीपरत् । १२ यन्तारः । १३ यन्धि । ... इषुध्यति । १५ मदेमहि । १६ मनामहे । १७ मायत ... सप्तदश याच्ञाकर्माणः ॥ १९ ॥

१ दाति । २ दाशति । ३ दासति । ४ राति । ५ रासति । ... पृणक्षि । ७ पृणाति । ८ शिक्षति । ९ तुञ्जति । १० मंहत इति ... दश दानकर्माणः ॥ २० ॥

१ परिस्रव । २ पवस्व । ३ अभ्यर्ष । ४ आशिष इति चत्वारोऽध्येषणाकर्माणः ॥ २१ ॥

१ स्वपिति । २ सस्तीति द्वौ स्वपितिकर्माणौ ॥ २२ ॥

१ कूपः । २ कातुः । ३ कर्तः । ४ वव्रः । ५ काटः । ६ खातः । ७ अवतः । ८ क्रिविः । ९ सूदः । १० उत्सः । ११ ऋश्यदात् ।

६ नकिः । ७ माकिः । ८ नकीम् । ९ आकृतमिति नवोत्तराणि पदानि सर्वपद समाम्नानाय ॥ १२ ॥

१ इदमिव । २ इदं यथा । ३ अग्निर्न ये । ४ चतुरश्चिद्ददमानात् । ५ ब्राह्मणा व्रतचारिणः । ६ वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वयाः । ७ जार आ भगम् । ८ मेषो भूतोऽभि यन्नयः । ९ तद्रूपः । १० तद्वर्णः ११ तद्वत् । १२ तथेत्युपमाः ॥ १३ ॥

१ अर्चति । २ गायति । ३ रेभति । ४ स्तोभति । ५ गूर्धयति । ६ गृणाति । ७ जरते । ८ ह्वयते । ९ नदति । १० पृच्छति । १३ छन्दयति । १४ कृपण्यति ।

१ रेभः। २ जरिता। ३ कारुः। ४ नदः। ५ स्तामुः। ६ कीरिः। ७ गौः। ८ सूरिः। ९ नादः। १० छन्दः। ११ स्तुप्। १२ रुद्रः। १३ कृपण्युरिति त्रयोदश स्तोतृनामानि ॥ १६ ॥

१ यज्ञः। २ वेनः। ३ अध्वरः। ४ मेधः। ५ विदथः। ६ नार्यः। ७ सवनम्। ८ होत्रा। ९ इष्टिः। १० देवताता। ११ मखः। १२ विष्णुः। १३ इन्दुः। १४ प्रजापतिः। १५ घर्म इति पञ्चदश यज्ञनामानि ॥ १७ ॥

१ भरताः। २ कुरवः। ३ वाघतः। ४ वृक्तबर्हिषः। ५ यतस्रुचः। ६ मारुतः। ७ सबाधः। ८ देवयव इत्यष्टावृत्विङ्नामानि ॥ १८ ॥

१ ईमहे। २ यामि। ३ मन्महे। ४ दद्धि। ५ शग्धि। ६ पूर्धि। ७ मिमिड्ढि। ८ मिमीहि। ९ रिरिड्ढि। १० रिरीहि। ११ पीपरत्। १२ यन्तारः। १३ यन्धि। १४ इषुध्यति। १५ मदेमहि। १६ मनामहे। १७ मायत इति सप्तदश याच्ञाकर्माणः ॥ १९ ॥

१ दाति। २ दाशति। ३ दासति। ४ राति। ५ रासति। ६ पृणक्षि। ७ पृणाति। ८ शिक्षति। ९ तुञ्जति। १० मंहत इति दश दानकर्माणः ॥ २० ॥

१ परिस्रव। २ पवस्व। ३ अभ्यर्ष। ४ आशिष इति चत्वारोऽध्येषणाकर्माणः ॥ २१ ॥

१ स्वपिति। २ सस्तीति द्वौ स्वपितिकर्माणौ ॥ २२ ॥

१ कूपः। २ कातुः। ३ कर्तः। ४ वव्रः। ५ काटः। ६ खातः। ७ अवतः। ८ क्रिविः। ९ सूदः। १० उत्सः। ११ ऋश्यदात्।

१२ कारोतरात् । १३ कुशयः । १४ केवट इति चतुर्दश कूपनामानि ॥ २३ ॥

१ तृपुः । २ तकुः । ३ रिभ्वा । ४ रिपुः । ५ रिक्वा । ६ रिहायाः । ७ तायुः । ८ तस्करः । ९ वनर्गुः । १० हुरश्चित् । ११ मुषीवान् । १२ मलिम्लुचः । १३ अघशंसः । १४ वृक इति चतुर्दश स्तेननामानि ॥ २४ ॥

१ निण्यम् । २ सस्वः । ३ सनुतः । ४ हिरुक् । ५ प्रतीच्यम् । ६ अपीच्यमिति षण्णिर्णीतान्तर्हितनामधेयानि ॥ २५ ॥

१ आके । २ पराके । ३ पराचैः । ४ आरे । ५ परावत इति पञ्च दूरनामानि ॥ २६ ॥

१ प्रत्नम् । २ प्रदिवः । ३ प्रवयाः । ४ सनेमि । ५ पूर्व्यम् । ६ अह्नायेति षट् पुराणनामानि ॥ २७ ॥

१ नवम् । २ नूत्नम् । ३ नूतनम् । ४ नव्यम् । ५ इदा । ६ इदानीमिति षडेव नवनामानि ॥ २८ ॥

१ प्रपित्वे । २ अभीके । ३ दभ्रम् । ४ अर्भकम् । ५ तिरः । ६ सतः । ७ त्वः । ८ नेमः । ९ ऋक्षाः । १० स्तृभिः । ११ वम्रीभिः । १२ उपजिह्विका । १३ ऊर्दरम् । १४ कृदरम् । १५ रम्भः । १६ पिनाकम् । १७ मेना । १८ ग्नाः । १९ शेपः । २० वैतसः । २१ अया । २२ एना । २३ सिषक्तु । २४ सचते । २५ भ्यसते । २६ रेजत इति षड्विंशतिर्द्विश उत्तराणि नामानि ॥ २९ ॥

१ स्वधे । २ पुरन्धी । ३ धिषणे । ४ रोदसी । ५ क्षोणी । ६ अम्भसी । ७ नभसी । ८ रजसी । ९ सदसी । १० सद्मनी ।

११ घृतवती । १२ बहुले । १३ गभीरे । १४ गम्भीरे । १५ ओण्यौ । १६ चम्वौ । १७ पार्थ्वी । १८ मही । १९ उर्वी । २० पृथ्वी । २१ अदिती । २२ अह्नी । २३ दूरेअन्ते । २४ अपारे अपारे इति चतुर्विंशतिर्द्यावापृथिवीनामधेयानि नामधेयानि ॥ ३० ॥

वर्त्म धूम्महात्य इरस्यति शिम्याता निणिगसेमा केतुर्वेट् विकयद्विकमिनेमि
वार्यंति विप्रो रेभो यशो भरता ईमहे दाति परिरव स्वपिति कूप-
स्तृपुर्निर्णयमाके प्रत्नं नवं प्रपित्वे ध्वर्ये त्रिशत् ॥

॥ इति तृतीयोऽध्यायः ॥

## चतुर्थोऽध्यायः ।

१ जहा । २ निधा । ३ शिताम । ४ मेहना । ५ दमूनाः । ६ मूषः । ७ इषिरेण । ८ कुरुतन । ९ जठरे । १० तितउ । ११ शिप्रे । १२ मध्या । १३ मन्दू । १४ ईर्मान्तासः । १५ कायमानः । १६ लोधम् । १७ शीरम् । १८ विद्रधे । १९ द्रुपदे । २० तुग्वनि । २१ नंसन्ते । २२ नसन्त । २३ आहनसः । २४ अश्वसत् । २५ इष्मिणः । २६ वाहः । २७ परितक्म्या । २८ सुविते । २९ दयते । ३० नू चित् । ३१ नू च । ३२ दावने । ३३ अकूपारस्य । ३४ शिशीते । ३५ सुतुकः । ३६ सुप्रायणाः । ३७ अप्रायुवः । ३८ च्यवनः ।

३९ रजः । ४० हरः । ४१ जुहुरे । ४२ व्यन्तः । ४३ क्राणाः । ४४ वाशी । ४५ विषुणः । ४६ जामिः । ४७ पिता । ४८ शंयोः । ४९ अदितिः । ५० परिरे । ५१ जसुरिः । ५२ जरते । ५३ मन्दिने । ५४ गौः । ५५ गातुः । ५६ दंसयः । ५७ तूताव । ५८ चयसे । ५९ वियुते । ६० ऋधक् । ६१ अस्यः । ६२ अस्येति द्विषष्टिः पदानि ॥ १ ॥

१ सस्निम् । २ वाहिष्ठः । ३ दूतः । ४ वावशानः । ५ वार्यम् । ६ अन्धः । ७ असश्चन्ती । ८ वनुष्यति । ९ तरुष्यति । १० भन्दनाः । ११ आहनः । १२ नदः । १३ सोमो अक्षाः । १४ श्वात्रम् । १५ ऊतिः । १६ हासमाने । १७ पड्भिः । १८ ससम् । १९ द्विता । २० व्राः । २१ वराहः । २२ स्वसराणि । २३ शर्याः । २४ अर्कः । २५ पविः । २६ वक्षः । २७ धन्व । २८ सिनम् । २९ इत्था । ३० सचा । ३१ चित् । ३२ आ । ३३ द्युम्नम् । ३४ पवित्रम् । ३५ तोदः । ३६ स्वञ्चाः । ३७ शिपिविष्टः । ३८ विष्णुः । ३९ आघृणिः । ४० पृथुज्रयाः । ४१ अथर्युम् । ४२ काणुका । ४३ अध्रिगुः । ४४ आङ्गूषः । ४५ आपान्तमन्युः । ४६ श्मशा । ४७ उर्वशी । ४८ वयुनम् । ४९ वाजपस्त्यम् । ५० वाजगन्ध्यम् । ५१ गध्यम् । ५२ गधिता । ५३ कौरयाणः । ५४ तौरयाणः । ५५ अह्रयाणः । ५६ हरयाणः । ५७ आरितः । ५८ व्रन्दी । ५९ निष्षपी । ६० तूर्णाशम् । ६१ क्षुम्पम् । ६२ निचुम्पुणः । ६३ पदिम् । ६४ पादुः । ६५ वृकः । ६६ जोषवाकम् । ६७ कृत्तिः । ६८ श्वघ्नी । ६९ समस्य । ७० कुटस्य । ७१ चर्षणिः । ७२ शम्बः ७३ केपयः ।

७४ तुतुमाकृषे । ७५ अंसत्रम् । ७६ क्षाकुदम् । ७७ धीरिटे । ७८ अच्छ । ७९ परि । ८० ईम् । ८१ सीम् । ८२ एनम् । ८३ एनाम् । ८४ सृणिरिति चतुरुत्तरमशीतिः पदानि ॥ २ ॥

१ आशुशुक्षणिः । २ आशाभ्यः । ३ काशिः । ४ कुणारुम् । ५ अलातृणः । ६ सलल्लूकम् । ७ कटपयम् । ८ विस्रुहः । ९ वीरुधः । १० नक्षद्दाभम् । ११ अस्कृधोयुः । १२ निशृम्भाः । १३ बृबदुक्थम् । १४ ऋदूदरः । १५ ऋदूपे । १६ पुलुकामः । १७ असिन्वती । १८ कपना । १९ भाऋजीकः । २० रुजानाः । २१ जूर्णिः । २२ ओमना । २३ उपलप्रक्षिणी । २४ उपसि । २५ प्रकलवित् । २६ अभ्यर्धयज्वा । २७ ईक्षे । २८ क्षोणस्य । २९ अस्मे । ३० पाथः । ३१ सबीमनि । ३२ सप्रथाः । ३३ विद-थानि । ३४ श्रायन्तः । ३५ आशातिः । ३६ यज्ञीरः । ३७ अमूरः । ३८ शशमानः । ३९ देवो देवाच्या कृपा । ४० विजामातुः । ४१ ओमासः । ४२ सोमानम् । ४३ अनवायम् । ४४ किमीदिने । ४५ अमवान् । ४६ अमीवा । ४७ दुरितम् । ४८ अप्वा । ४९ अमतिः । ५० श्रुष्टी । ५१ पुरन्धिः । ५२ रुशत् । ५३ रिशा-दसः । ५४ सुदत्रः । ५५ सुविदत्रः । ५६ आनुषक् । ५७ तुर्वणिः । ५८ गिर्वणसे । ५९ असूर्ते सूर्ते । ६० अम्यक् । ६१ यादृश्मिन् । ६२ जारयायि । ६३ अग्रिया । ६४ चनः । ६५ पचता । ६६ शुरुधः । ६७ अमिनः ६८ जज्झतीः । ६९ अप्रतिष्कुतः । ७० शाशदानः । ७१ सृप्रः । ७२ सुशिप्रः । ७३ रंसु । ७४ द्विबर्हाः । ७५ अक्रः । ७६ उराणः । ७७ स्तियानाम् । ७८ स्तिपाः ।

७९ जबारु । ८० जरूथम् । ८१ कुलिशः । ८२ तुञ्जः । ८३ बर्हणा । ८४ ततनुष्टिम् । ८५ इलीबिशः । ८६ कियेधाः । ८७ भृमिः । ८८ विष्पितः । ८९ तुरीपम् । ९० रास्पिनः । ९१ ऋञ्जतिः । ९२ ऋजुनीती । ९३ प्रतद्वसू । ९४ हिनोत । ९५ चोष्कूयमाणः । ९६ चोष्कूयते । ९७ सुमत् । ९८ दिविष्टिषु । ९९ दूतः । १०० जिन्वति । १०१ अमत्रः । १०२ ऋचीषमः । १०३ अनर्शरातिम् । १०४ अनर्वा । १०५ असामि । १०६ गल्दया । १०७ अलातृणः । १०८ बकुरः । १०९ बेकनाटान् । ११० अभि धेतन । १११ अंहुरः । ११२ बतः । ११३ वाताप्यम् । ११४ चाकन् । ११५ रथर्यति । ११६ असक्राम् । ११७ आधवः । ११८ अनवब्रवः । ११९ सदान्वे । १२० शिरिम्बिठः । १२१ पराशरः । १२२ क्रिविर्दती । १२३ करूलती । १२४ दनः । १२५ शरारुः । १२६ इदंयुः । १२७ कीकटेषु । १२८ बुन्दः । १२९ वृन्दम् । १३० किः । १३१ उल्बम् । १३२ ऋबीसमृबीसमिति द्वात्रिंशच्छतं पदानि ॥ ३ ॥

जहा सस्निमाशुशुक्षणिश्चोणि ।

॥ इति चतुर्थोऽध्यायः ॥

# पञ्चमोऽध्यायः ।

१ अग्निः । २ जातवेदाः । ३ वैश्वानर इति त्रीणि पदानि ॥१॥

१ द्रविणोदाः । २ इध्मः । ३ तनूनपात् । ४ नराशंसः । ५ इळः । ६ बर्हिः । ७ द्वारः । ८ उषासानक्ता । ९ दैव्या होतारा । १० तिस्रो देवीः । ११ त्वष्टा । १२ वनस्पतिः । १३ स्वाहाकृतय इति त्रयोदश पदानि ॥ २ ॥

१ अश्वः । २ शकुनिः । ३ मण्डूकाः । ४ अक्षाः । ५ ग्रावाणः । ६ नाराशंसः । ७ रथः । ८ दुन्दुभिः । ९ इषुधिः १० हस्तघ्नः । ११ अभीशवः । १२ धनुः । १३ ज्या । १४ इषुः । १५ अश्वाजनी । १६ उलूखलम् । १७ वृषभः । १८ द्रुघणः । १९ पितुः । २० नद्यः । २१ आपः । २२ ओषधयः । २३ रात्रिः । २४ अरण्यानी । २५ श्रद्धा । २६ पृथिवी । २७ अप्वा । २८ अग्नायी । २९ उलूखलमुसले । ३० हविर्धाने । ३१ द्यावापृथिवी । ३२ विपाट्छुतुद्री । ३३ आर्त्नी । ३४ शुनासीरौ । ३५ देवी जोष्ट्री । ३६ देवी ऊर्जाहुती इति षट्त्रिंशत्पदानि ॥ ३ ॥

१ वायुः । २ वरुणः । ३ रुद्रः । ४ इन्द्रः । ५ पर्जन्यः । ६ बृहस्पतिः । ७ ब्रह्मणस्पतिः । ८ क्षेत्रस्य पतिः । ९ वास्तोष्पतिः । १० वाचस्पतिः । ११ अपां नपात् । १२ यमः । १३ मित्रः । १४ कः । १५ सरस्वान् । १६ विश्वकर्मा । १७ तार्क्ष्यः । १८ मन्युः । १९ दधिक्राः । २० सविता । २१ त्वष्टा । २२ वातः । २३ अग्निः । २४ वेनः । २५ असुनीतिः ।

२६ ऋतः। २७ इन्दुः। २८ प्रजापतिः। २९ अहिः। ३० अहिर्बुध्न्यः। ३१ सुपर्णः। ३२ पुरूरवा इति द्वात्रिंशत्पदानि ॥ ४ ॥

१ श्येनः। २ सोमः। ३ चन्द्रमाः। ४ मृत्युः। ५ विश्वानरः। ६ धाता। ७ विधाता। ८ मरुतः। ९ रुद्राः। १० ऋभवः। ११ अङ्गिरसः। १२ पितरः। १३ अथर्वाणः। १४ भृगवः। १५ आप्त्याः। १६ अदितिः। १७ सरमा। १८ सरस्वती। १९ वाक्। २० अनुमतिः। २१ राका। २२ सिनीवाली। २३ कुहूः। २४ यमी। २५ उर्वशी। २६ पृथिवी। २७ इन्द्राणी। २८ गौरी। २९ गौः। ३० धेनुः। ३१ अघ्न्या। ३२ पथ्या। ३३ स्वस्तिः। ३४ उषाः। ३५ इला। ३६ रोदसी इति षट्त्रिंशत्पदानि ॥ ५ ॥

१ अश्विनौ। २ उषाः। ३ सूर्या। ४ वृषाकपायी। ५ सरण्यूः। ६ त्वष्टा। ७ सविता। ८ भगः। ९ सूर्यः। १० पूषा। ११ विष्णुः। १२ विश्वानरः। १३ वरुणः। १४ केशी। १५ केशिनः। १६ वृषाकपिः। १७ यमः। १८ अज एकपात्। १९ पृथिवी। २० समुद्रः। २१ अथर्वा। २२ मनुः। २३ दध्यङ्। २४ आदित्याः। २५ सप्त ऋषयः। २६ देवाः। २७ विश्वे देवाः। २८ साध्याः। २९ वसवः। ३० वाजिनः। ३१ देवपत्न्यो देवपत्न्य इत्येकत्रिंशत्पदानि ॥ ६ ॥

अग्निर्द्रविणोदा अश्वो वायुः श्येनोऽश्विनौ षट्।

॥ इति पञ्चमोऽध्यायः ॥

॥ समाप्तम् ॥

## अथ प्रथमाध्यायः ।

"अथातोऽनुक्रमिष्यामः"—इत्यादि ( २, ५ ) निरुक्ते तस्य टीकायाञ्च यन्नैघण्टुककाण्डविषयमुक्तं तत् सर्वं तत्रैव द्रष्टव्यम् ॥

आदित एकविंशतिः पृथिवीनामधेयानि—

ॐ गौः (१) । ग्मा (२) । ज्मा (३) । क्ष्मा (४) । क्षा (५) । क्षमा (६) । क्षोणिः (७) । क्षितिः (८) । अवनिः (९) । उर्वी (१०) । पृथ्वी (११) । मही (१२) । रिपः (१३) । अदितिः (१४) । इला (१५) । निर्ऋतिः (१६) । भूः (१७) । भूमिः (१८) । पूषा (१९) । गातु (२०) । गोत्रा (२१) इत्येकविंशतिः पृथ्वीनामधेयानि ॥१॥

(१) गौः । 'गम्लृगतौ ( भ्वा० प० )' अस्माद् 'गमेर्डोस् (उ० २, ६३)'—इति कर्त्तरि कारके अधिकरणे वा डोः प्रत्ययः ।

गातेर्वा स्तुत्यर्थात् (अदा० प०) बाहुलकोक्तेः (३, ३, ११३) कर्मण्यधिकरणे वा। 'गोतोणित् (७, १, ९०)'—इति णिद्वद्भावाद् वृद्धिः। अत्र भाष्यम्—'गौरिति पृथिव्या नामधेयं यद्दूरं गता भवति यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति गातेर्वौकारो नामकरणः (निरु० २, ५),—इति। अस्य स्कन्दस्वामी—'दूरं गता भवति 'नैरन्तर्येणात्माकाशादिवत् दूरेऽप्युपलब्धेर्गतिक्रियाव्यवहारः'। अन्यत्रान्यत्र चोपलब्धेर्दूरोपदेशः। प्रत्ययोपात्तकर्तृसम्बन्धाच्च गमित्व नैरन्तर्योपलब्धिदूरविशिष्टं गमनमुपादत्ते, 'तक्षा' 'परिव्राजकः' इति यथा। यच्चास्यां भूतानि प्राणिनो गच्छन्ति। वो यार्थे। गातेर्वा स्तुत्यर्थस्य। (अदा० प०) गीयते स्तूयतेऽसाविति, गायन्ति वास्यां स्थिता इति गौः। उदाहरणम् 'गोपदसि' इति। गार्हपत्योपस्थाने विनियोगात्, गार्हपत्यस्य च नवि पृथिव्यां सदनात् गोशब्दस्य पृथिव्यभिधानत्वमिष्टितमिति। एवमन्येष्वप्युदाहरणेषु तत्र तत्र मन्त्रवाक्यार्थसमन्वयेन अभिप्रेयं प्रदर्शनीयं निश्चित्य तत्तदर्थाभिधायित्वम्। "व्रजं गच्छ गोष्ठानम् (य० वा० सं० १, २५-२६)" "गौर्जगार यद्ध पृच्छान् (ऋ० सं० १०, ३१, १०)" "अभयन्त पूर्व्यां भूमना गौः (ऋ० सं० १०, ३१, ६)" इति निगमाः॥

(२) ग्मा। गमेः पूर्वस्मिन्नेव कारकद्वये 'कनिन्युवृषितक्षि (उ० १, १५४)' इत्यादिना विहितः कनिनप्रत्ययो बाहुलकात् भवति। 'गम-हन-जन-खन-घसां लोपः क्ङित्यनङि (६, ४, ९८)'—त्युपधालोपः, औणादिकेन 'मनिन (उ० ४, १४०)'—इति सूत्रेण

धा मनिनि बाहुलकात् (३, ३, १) टिलोपः, 'ङाबुभाभ्यामन्यतरस्याम् (४, १, १३)। अर्थः पूर्ववदेव । 'ग्मागच्छतेः, गच्छन्तीहीयम्'—इति-माधवः । "दिवश्च ग्मश्चापाश्च जन्तवः (ऋ० सं० १०, ४९, २)"—"दिवश्च ग्मश्च मर्त्यम् (ऋ० सं० १०, १२, ६)"—इति च निगमौ । ग्म इत्यत्र छान्दसत्वाद्रूपसिद्धिः ॥

(३) ज्मा । जमनिर्गमनिकर्मा (निघ० २, १०) 'जमु अदने (भ्वा० प०)' –जनी प्रादुर्भावे (दि० आ०),—'अञ्ज् व्यक्ति म्रक्षण-कान्ति-गतिषु (रु० प०)' म्रक्षणं सेचनमिति तद्वृत्तिः । एतेभ्यः श्वन्नुक्षन् पूषन् प्लीहन् (उ० १, १५९)'—इत्यादिना परिज्मन्निति कनिन्नन्तं सोपसर्गं निपातितम्, बाहुलकात् (३, ३, १) निरुपसर्गे-ऽपि भवति । निपातनादेव कारकविशेषसिद्धिः । 'ङाबुभाभ्याम-न्यतरस्याम् (४, १, १३)'। गतो पूर्ववदर्थः । अदन्ति वास्यां भूतानि, जातानि वा व्यकारणेन, जायन्तेवास्या ओषधयः । तथा-तैत्तिरीयम्—'अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः (तै० उ० २, १)' —इति । अथवा व्यक्ता सर्वेषां प्रत्यक्षा न ह्याकाशादिवदव्यक्ता पृथिवी, 'तिस्रो महीरवरास्तस्थुरत्या गुहा द्वे निहिते दर्श्येका (ऋ० सं० १, ५६, २)'–इति च श्रुतिः । अक्ता सिक्ता भवति मेघेन, 'तस्मादसाविमां वृष्ट्याभ्युनत्त्यभिजिघ्रति (पे० ब्रा० १, १)'–इति ब्राह्मणम् । "ये के च ज्मा महिनो अहिमायाः (ऋ० सं० ६, ५२, १५)" –"अभिक्रन्देन्द्रभूर्ध्यज्मन् (ऋ० सं० ७, २१, ६)"—मया अत्र वसवोऽरन्त देवाः (ऋ० सं० ७, ३९, ३)"—"अधज्मो अधवा दिवः (ऋ० सं० ८, १, १८)"—इति च निगमाः ॥

(४) क्ष्मा। 'क्षि क्षये' भ्वादिः (प०), 'क्षि निवासगत्योः' तुदादिः (प०), 'क्षि हिंसायाम्' क्र्यादिः (प०), क्षै, जै, सै, क्षये (भ्०प०), 'क्षमूष् सहने (दि० प०)', 'क्ष्मायी विधूनने (भ्० आ०)' —एतेभ्यः औणादिके मनिनि (उ० ४, १४०) बाहुलकाद्रूपसिद्धिः। डापि गतावर्थ उक्तः। क्षियन्ति निवसन्त्यस्यां प्राणिनः, क्षायन्ति क्षयं गच्छन्त्यस्यां पदार्था इति वा, हिंस्यन्तेऽस्यां पापकृत इति वा, क्षमते वा प्राणिजातरूपं भारं विधुनयति वा प्राणिनः स्वकीयकाले। "पिता यत्स्वां दुहितरमधिष्कन् क्ष्मया रेतः (ऋ० सं० १०,६१,७)"—"क्ष्मया चरति परि सा वृणक्तु नः (ऋ०सं०७, ४६, ३)"—इति च निगमौ॥

(५) क्षा। निरूपिता एव धातवः। 'अन्येष्वपि दृश्यते (३,२,१०१)'—इति सोपपदाद् जनेर्विधीयमानो डः प्रत्ययः, 'अपिशब्दः सर्वोपाधिव्यभिचारार्थः'- इत्युक्तेर्निरुपपदेभ्योऽपि भवति। क्ष्मायस्तु छान्दसत्वान्मकारलोपः। अर्थः पूर्वोक्त एव। "जातस्य च जायमानस्य च क्षाम् (ऋ० सं० १, ९६, ७)" —इति निगमः॥

(६) क्षमा। निरूपिता एव धातुभावाः। औणादिके मनिनि (उ०४, १४०) बाहुलकाद्रूपसिद्धिः। अर्थः पूर्वोक्त एव। 'क्षमूष् सहने (दि०प०)' इत्यस्माद् वा पूर्ववत् डाप्प्रत्ययः। "यः पार्थिवस्य क्षम्यस्य राजा (ऋ०सं० २, १४, ११)"—इति निगमः॥

(७) क्षोणिः। 'टुक्षु रक्षु शब्दे' अदादिः (प०) 'वीज्याज्वरिभ्यो निः (उ० ४, ४८)' इति विहितो निप्रत्ययो बाहुलकाद्

भवति, गुणः णत्वम्। क्षूयते शब्द्यते स्तूयते स्तोतृभिः, क्षवन्त्य-स्यां भूतानीति वा। क्षोणीति ईकारान्तं केचित् पठन्ति। तदा 'कृदिकारादक्तिनो वा ङीष् वक्तव्यः (४, १, ४५ वा०)'—इति ङीष्। "नयन्त क्षोणयो यथा (ऋ० सं० १०, २२, ९)"—"यं क्षोणीरनुचक्रदे (ऋ० सं० ८, ३, १०)"—इति निगमौ ॥

(८) क्षितिः। 'क्षि निवासगत्योः (तु० प०)', 'क्षि क्षये (भू० प०)' 'क्षि हिंसायां (स्वा० प्रया० प०)'—एतेभ्यो ऽपि 'क्तेस्तिः (उ० ४, १७९)'—इति विहितस्ति-प्रत्ययो बाहुल-कात् [( ३, ३, १ ) भवति, गुणाभावश्च। अथवा स्त्रियां क्तिन् ( ३, ३, ९४ )' कर्मण्यधिकरणे ( ३, ३, ९३ ) वा भवति। अर्थस्तु क्ष्मेत्यनेनोक्तः "क्षेति क्षितीः सुभगो नाम पुष्यन् (ऋ० सं० ५, ३७, ४)"—"वीहि स्वस्ति सुक्षितिं दिवः (ऋ० सं० १, २, ११)"—इति निगमौ ॥

(९) अवनिः। "अव रक्षण-गति-तृप्ति-प्रीत्य-ऽवगम-प्रवेश-श्रवण-सामर्थ्य-याचन-क्रिये-च्छा-दीप्त्य-ऽवाप्त्या-ऽऽलिङ्गन-हिंस-दान-भाग-वृद्धिषु (भू०प०)"—अस्मात् "अर्त्तिसृधृधम्यम्यश्यवि तॄभ्योऽनिः (उ० २, १०२)"—इत्यनि-प्रत्ययः। अवति प्रजाः अव्यते वा भूपैः। एतावत्स्वर्थेषु यो योग्यः स बोद्धव्यः। "आ रक्षोऽवनिर्ने प्रवत्वान् (ऋ० सं० १, १८१, ३)"—"यत्सी महीम् अवनिं प्राभि मर्मृशत् (ऋ० सं० १, १४०, ५)"—इति च निगमौ ॥

(१०) उर्वी। "ऊर्णुञ्—आच्छादने (अदा० उ०)"—अस्मात् "महति ह्रस्वश्च (उ० १, ३०)"—इति उप्रत्ययो णलोपो ह्रस्वः

उरुः। "वोतो गुणवचनात् ( ४, १, ४४ )"—इति ङीष्। उर्वी माच्छादयति उर्वी। महाबलाच्छादिका भूमिः सरि- शिता वा पदार्थानाम्। पृषोदरादि (गण०) पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् ( ६, ३, १०९ ) रूपसिद्धिः। 'उरुत्वात् विस्तीर्णम्'—इति स्कन्दस्वामी पृथ्वीत्वादुरुत्वाद्गुणोऽनुपात्तः। "मा नोऽमवाय भा मानुषी काष्ठा (ऋ०सं० ८,८०,८)"—इति निगमः॥

(११) पृथ्वी। 'प्रथ प्रख्याने ( भू० आ० )'—प्रथि-प्रदिभ्रस्जां सम्प्रसारणं सलोपश्च (उ०१,२७)'—कु-प्रत्ययः सम्प्रसारणञ्च। प्रथतेऽस्तारिति पृथुः। पूर्ववत् ( ४,१,४४) ङीष्। पृथ्वी विस्तीर्णा- र्थः। पञ्चाशत्कोटियोजनविस्तीर्णेति पृथिवी। यद्वा अन्तर्भा- वितण्यर्थात् प्रथतेः 'उणादयो बहुलम् (३,३,१)", 'भूतेऽपि दृश्यन्ते ( ३, ३, २ )—इति वचनात् भूते कु-प्रत्ययः। ब्रह्मणा पूर्वमेव विस्तारितेत्यर्थः। 'तत्पुष्करपर्णेऽप्रथयत यदप्रथयत पृथिव्यौ पृथिवी- त्वम् (श० ब्रा०११, १६,-१३,२)"—इति हि ब्राह्मणम्। 'पृथुना राज्ञा प्रथापिता पृथ्वी'—इति क्षीरस्वामी। स्योनो न क्षामस्येति पृथ्वीम् (ऋ० सं० १०, ३१, ६ )"—इति निगमः। "यत्रैकार्थानां पदानां सन्निपातः तत्रैकं तस्य वाचकं भवति अन्येषां निरुक्त्या योजनं कर्तव्यम्"—इति मर्यादा, अतोऽत्र क्षामेन्यस्य निरुक्त्या योजनम्।

(१२) मही। "मह पूजायाम्" भूवादिः ( प० )। "इन् सर्व- धातुभ्यः ( उ० ४, ११४ )"—इतीन्प्रत्ययः। "कृदिकारात्( ४, पा० )"—इति ङीष्। महते प्रजाभिः, महति वा देवता

स्वभावायतरणाय । अथवा मानेन स्तुपेन परिमाणेन ससाद्दूनं परिमाणं पाताले जहाति अतिक्रामति, मानस्पदाञ्जहातेश्च महो। पृषोदरादित्वात् ( ६, ३, १०९ ) निर्वाहः । "आ नो महीमरमतिं सजोषा ( ऋ० सं० ५, ४३, ६ )" — इति निगमः ॥

(१३) रिपः । 'रेपृ गतौ ( भ्र० आ० )', 'कियवचिप्रच्छ्यायत-स्तुकटप्रुजुश्रीणाम् ( ३,३, १७८ वा० ),— इत्यत्र 'प्राकृप्रत्ययनिर्देशात् ह्रस्वसिद्धिः' इति वचनात् ह्रस्वे रिपः । गौरित्यनेन समानार्थः । यद्वा, 'रिफ कत्थन युद्ध-निन्दा-हिंसा-दानेषु' तुदादिः परस्मैपदी। क्विपि, फकारस्य पकारो व्यत्ययेन (३, १, ८५) कत्थन-युद्धादीनस्यां कुर्वन्ति तत्कारिणः। यद्वा 'लिप उपदेहे (तु० उ० );' लिप्। गोमयादिना आलिप्यते इति लिप्। रलयोरभेदः । तथाच माधवीयनिर्वचनानुक्रमण्यां 'लेपमात्रे-पणादपि'— इति । यद्वा : 'रपलप व्यक्तायां वाचि (भ्र० प०)' 'वपेरिच्चोपधायाः ( उ० १, ८५ )'—इत्युप्रत्यये विधीयमानमित्थं बाहुलकादन्यत्रापि भवति । आलपन्त्यस्यां प्रपितः इति रिप्, जसि रिपः, पदंस्पष्टवेदे भूयोदर्शनात् यथाक्रूष्टं पाठः। "रिरिक्षांसं रिप उपस्थे अन्तः ( ऋ० सं० १०, ७९, ३ )" - "पाति प्रियं रिपो अग्रं पदं वेः ( ऋ० सं० ३, ५ )"—इति च निगमौ ॥

(१४) अदितिः ।'दीङ् क्षये (दि०आ०)। इत्यल्युटो बहुलम् (३,३, ११३)'—इति कर्तरिक्तिनि छान्दसं ह्रस्वत्वम् नञ्समासः । अदितिः सकल प्रपञ्चधारणेष्वदीना न क्षियते इत्यर्थः । 'अदितिरदीना (निरु० ४, २२)'- इत्यत्र भाष्ये स्कन्दस्वामी यद्यपि नञ्पूर्वात् धातेः

कि ङि च' [illegible] (१.४.५०)'—[illegible] च कर्म निरुक्तिः
कर्माणि [illegible] भीड् [illegible] (नि० भा०)'
इत्यादौ [illegible] कर्म प्रयुक्तम्। तथायोक्तम्—'[illegible]
[illegible] निम्नः परिहीन (म० भा०)'—इति। "देवेभ्यो अदितये
स्योनम् (ऋ० सं० १०, ११०, ४)"—"नमसुपस्य वाजिनमुपस्थे
अदितेरधि (ऋ० सं० ७, ३६, १)—इति निगमौ ॥

(१५) इला। 'ईड स्तुतौ (अदा० आ०)', 'ञि इन्धी दीप्तौ (रु०भा०)'। अनयोः 'अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम् (३, ३, १९)' इति घञ्, पृषोदरादित्वात् (६. ३. १०९) इडंरुत्वम्, इन्धेर्नकारलोपो धकारस्य डकारो गुणाभावश्च। ईड्यते स्तूयते यास्यां यजमानो देवान्, इन्धे दीप्यतेऽस्यां श्रीभिः। यद्वा, 'इण गतौ (अदा० प० )', 'कादिभ्यःकित (उ० १, ११२)' इत्यस्मिन्सूत्रे 'बहुलानुवृत्तेः अजमन्तादपि भवति'- इति वचनात् ड-प्रत्ययः कित्वाद्गुणाभावः। गवा समानार्थं। यद्वा, 'इल स्वप्न-क्षेपणयोः (तु० प० )'—इत्यस्मात्। 'इगुपधा-ज्ञा-प्री-किरः कः (३, १, १३५)' इति क-प्रत्ययः, 'कृत्यल्युटो बहुलम् (३, ३, ११३)' —इति अधिकरणे भवति। क्षिप्यन्तेऽस्यां भावः, स्वपन्तेऽस्यामिति वा; ड-लयोरेकत्वस्मरणात् डत्वम्। यद्वा, 'इला' इत्यन्ननाम गोनाम वा (निघ० २, ७-२, ११), इला अन्नं गौर्वा अस्यामस्तीत्यर्श आदित्वात् (५, २, १२७) अच्; अन्नवती गोमती वा इड़ा। यच्चानान्तु 'द्वयोश्चास्य स्वरयोर्मध्यमेत्य सम्पद्यते स [illegible] ळकारः (प्राति० )'—इतिळत्वम् इळा, अत्र उदाहरण-

, ४)" "अथा होता न्यसीदो यजीयानिळस्पदे० ( ऋ०
६, १, २ )" [ 'इलश्छान्दसत्वादाकारलोपः'—इति
स्वामी ] "इळस्पदे समिध्यसे ( ऋ० सं० १०, १९१, १ )
। निगमाः ।

(६) निर्ऋतिः । 'निर्ऋतिर्निरमणात्' ( २, ७ ) निरुक्तम् ।
स्कन्दस्वामी='निरमणात्–निश्चलत्वेनावस्थानात्–इत्यर्थः रम-
न्ते भूतानि'—इति । तत्र निर्पूर्वाद्रमेः (भू० आ०) 'कृत्य-
बहुलम् ( ३, ३, ११३ )'—इति कर्त्तर्यधिकरणे च क्तिनि
४) अनुनासिकलोपः, 'रमेर्मती बहुलम् (६, १, ३४ वा०)'—
बहुलवचनात् सम्प्रसारणम् । आद्येऽर्थे निर्निश्चलत्वमाह
दानम् उत्तरत्र धात्वर्थमनुवर्त्तते निः । वैयाकरण-
तु निरुपसृष्टादर्त्तेः क्तिनि निर्ऋतिः निःक्रान्तारत्तेर्गमनात्
अवस्थितिर्ने इत्यर्थः । "बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश ( ऋ०
१,१६४, ३२ )"—"अधा मर्त्यात निर्ऋतेरुपस्थे ( ऋ० सं०
, १४ )"—इति च निगमौ ॥

७) भूः । भू सत्तायां ( भू० प० ) सम्पदादित्वात् भावे
, ३, ९४ वा०) । भवत्यस्यां सर्वमिति भूः । "भूर्वा भुवो
त्वमसि (ऋ० सं० १०,८८, ६)"—इति निगमः । रैफान्तं
म्, यथा—"भूर्भुवः स्वः (य० वा० स० ३६, ३ )"—इति ॥
) भूमिः । 'भुवः किम् ( उ० ४, ४५ )'—इति भवतेः
। अर्थः पूर्ववत् । अथवा 'भूतेऽपि दृश्यन्ते (३, ३, २)'

—इति वचनात् भूते मिप्रत्ययः। 'अभूतभूमिस्तथा अभूद्वा इदमिति तद् भूम्यै भूमित्वम्'—इति श्रुतिः। "न्यङ्ङुत्तानामन्वेति भूमिम् ( ऋ० सं० १०, २७, १३ )"—"भूमिर्भूमिमगात्"—इति च निगमौ ॥

(१६) पूषा। 'पुष पुष्टौ ( भ्वा० दि० क्र्या० प० )। 'श्वन्नुक्षन्पूषन् ( उ० १, १५५ )'—इत्यादिना कनिन्-प्रत्ययान्तो निपात्यते, निपातनादुपधाया दीर्घः। 'पुष्यति धान्यादिभिः समृद्धा भवति पोषयति धान्यैः प्रजाः। 'सर्वार्थपोषणात् पूषा' इति भट्टभास्करमिश्रः। तथा 'पृथिवी न्यवर्त्तयत् सोपधीभिर्वनस्पतिभिरपुष्यत्' इति श्रुतिः। यद्वा। 'पुष धारणे ( चु० प० )'—इति धातुः। धारयति सर्वाणि भूतानि पोषयत्याभरणानीति यथा। "आ पूषञ्चित्रबर्हिषम् ( ऋ० सं० १, २३, १३ )" इत्यत्र माधवः —'पूषा पोषयतीति तस्य प्रत्यक्षं रूपम्'। "पूषा त्वेतो नयतु हस्तगृह्य (ऋ० सं० १०, ८०, २६)"—इति, "सरस्वत्यै पूष्णेऽग्नये स्वाहा ( य० वा० सं० ५, ७ )"—इति निगमः ॥

(२०) गातुः। 'गाङ् गतौ' छन्दसि जुहोत्यादिः ( भ्वा० प० ), 'गाङ् गतौ (भ्वा० आ०)', 'कै गै शब्दे' भ्वादिः (प०)। 'कमिमनिजनिगाभायाहिभ्यश्च (उ० १, ७०)' इति तु-प्रत्ययः। गीयते स्तूयतेऽसौ, स्तुवन्ति यस्यां स्थिता इन्द्रादीन्, गच्छन्त्यस्यां भूतानीति वा, गायन्ति यस्यां स्थिता गायना इति। यद्वा। गच्छन्तेऽजतीति गातुर्मार्गः, 'छन्दस्युभयथा' इति यलोपः (४, ४, १२८ -७)' —इति मत्वर्थीयस्य लुक्। गातुः मार्गवती हि भूमिः।

"इन्द्राय गातुरुशतीव येमे (ऋ० सं० ५, ३३, १०)"–"अदर्शि गातुरुरवे वरीयसी (ऋ० सं० १, १३६, २)"–इति निगमौ ॥

(२१) गोत्रा। 'गुङ् अव्यक्ते शब्दे (भू० आ०)'। 'गु-धृ-वी-पचि-वचि-यमि-[ मनि-तनि ] सदि-क्षदिभ्यस्त्रः ( उ० ४, १६२ )' इति त्रप्रत्ययः। गुणः। भूतपण्यादयोऽस्यामव्यक्तशब्दं कुर्वन्तीति गोत्रा। यद्वा, गोत्राः शैलाः सन्त्यस्याम् अर्शआदित्यात् (५, २, १२७) अच्। यद्वा, गोशब्दे कर्मण्युपपदे 'त्रैङ् पालने (भ्वा० आ०)'– इत्यस्मात् 'आतोऽनुपसर्गे कः (३, २, ३)'। टाप् (४, १, ४)। गास्त्रायते रक्षति वचसोदकवत्तया। यद्वा, गोभिरादित्यकिरणैर्वृष्टिप्रदानेन त्रायते रक्षते इति, 'कृत्यल्युटो बहुलम् (३, ३, ११३)'–इति कर्मणि 'आतोऽनुपसर्गे कः (३, २, ३)'। यद्वा, गोशब्दात् 'तस्य समूहः (४, २, ३७)'–इत्यस्मिन्नधिकारे 'खल-गो-रथात् (४, २, ५०)' इत्यनुवृत्तौ 'इनि-त्र-कट्यचश्च (४, २, ५१)'– इति त्र-प्रत्ययः। गोत्रा, गवां समूहो मत्वर्थीयोऽकारः। गोसमूहोऽस्यामस्तीति गोत्रा। निगमोऽन्वेषणीयः ॥

इत्येकविंशतिः पृथिवी-नामधेयानि ॥ "उवाच मे वरुणो मेधिराय (ऋ० सं० ७, ८७, ४)" इत्यत्र माधवः "उवाच मह्यं वरुणो मेधाविने" इति स तत्रैकविंशतिनामानि काश्चिद् गौर्बिभर्तीति पृथिवीमाह तस्या हि यास्कपठितानि एकविंशतिर्नामानीति ॥ १ ॥

हेम (१)। चन्द्रम् (२)। रुक्मम् (३)। अयः (४)। हिरण्यम् (५)। पेशः (६)। कृश-

नम् (७) । लोहम् (८) । कनकम् (९) । काञ्चनम् (१०) । भर्म (११) । अमृतम् (१२) । मरुत् (१३) । दत्रम् (१४) । जातरूपम् (१५) ।

इति पञ्चदश हिरण्यनामानि ॥ २ ॥

(१) हेम । 'हि गतौ वृद्धौ च (स्वा० प० )' अस्माद्धातोः 'आत्मन्-सीमन्-व्योमन्-हेमन्-रोमन्-लोमन्-व्योमन्-विधर्मन् पाप्मन् ( उ० ४. १५० )'—इति मनिन्नन्तं निपात्यते। हिनोति गच्छति क्रमेण युक्तं पुरुषं, गम्यते वा तदर्थिभिः, गच्छति वा स्वयं कटकादिरूपां विकृतिम्, हिनोति वाणिज्यादिना प्रतिदिनं वर्धते। 'तस्याप्युपरि लेपनाद् वर्धते'—इति सुबोधिनी। अथवा हितमापदि निहितं वा भूम्यादौ दधातेर्हिरादेशो निपातनात्। हेम। "अस्य प्रेषा हेमना पूयमानः (ऋ० सं० ९, ९७, १)"– "अश्वो न स्वे दम आ हेम्यावान् (ऋ० सं० ४, २, ८)" —इति च निगमौ। हेम्यावान—हिरण्मयकक्ष्यया युक्तः ॥

(२) चन्द्रम्। 'चदि आह्लादने दीप्तौ च ( भ्वा० प० )' अस्मात् 'स्फायि-तञ्चि-वञ्चि-शकि-क्षिपि-क्षुदि ( उ० २, १२ )'—इत्यादिना रक्। चन्दयति, आह्लादयति तद्वत् दीप्यते वा स्वयं तैजसत्वात्। यद्वा, णिजन्ताच्चदेर्बाहुलकात् णिलोपः, दीपयति धारयितॄन्—दीप्यतेऽनेन धारयितेति वा। कान्त्यर्थो वा चदिः, 'चन्द्रः चन्दतेः कान्तिकर्मणः (निरु० ११, ५)'—इत्युक्तेः। काम्यते

सर्वैः इति चन्द्रम्। "ये पश्चश्चन्द्रं वहन्तु (ऋ० सं० १०,८५,३१)" —"दक्षिणा चन्द्रमुत यद्धिरण्यम् (ऋ० सं० १०, १०७, ७)" —इति च निगमौ ॥

(३) रुक्मम्। 'रुच दीप्तौ (भू० आ०)' 'युजि-रुचि-तिजां कुश्च (उ० १, १४३)'—इति मक्प्रत्ययः कुत्वं च। रोचते तद् तिशयेन दीप्यते तेन तदिति च रुक्मम्। "आ रुक्मैरायुधा नरः (ऋ० सं० ५, ५२, ६)"—"एष रुचिमभिरीयते (ऋ० सं० ६, १५, ५)"—इति च निगमौ ॥

(४) अयः। 'इण् गतौ (अदा० प०)'। असुन् (उ० ४, १८४)। एति गच्छति अंगुलीयकादिरूपेण शरीरम्, अक्रयक्रय-संविभागा-दिना वा। पुरुषात्पुरुषान्तरं गच्छत्यनेन धर्मदानादिनेति वा। "अयः शीर्षा मदे रघुः (ऋ० सं० ८,१०१,३)"—इति निगमः ॥

(५) हिरण्यम्। 'हृञ् हरणे (भू० उ०)' अस्मात् 'हर्यतेः कन्यन् हिर् च (उ० ५, ४५)'—इति विधीयमानः कन्यन्-प्रत्ययो हिरादेशश्च बाहुलकाद् भवतः। तथाच अन्यभित्यधिकृत्य 'हृञ इच'-इति भोजसूत्रम्। ह्रियते अनाञ्जनमिति वा संव्यवहारार्थम्, द्रव्यस्वभावत्वात् नैकत्रावस्थायित्वं तस्य। अथवा ह्रिधातुजं रूपम्,—ह्रिणोतेः रमतेश्च धातुद्वयात् समुदितात् कन्यन्प्रत्ययो बाहुलकाद्रूपसिद्धिश्च, हितञ्च तत् आपदि दुर्भिक्षादौ, रमयति च सर्वदा सर्वमिति। अथवा हर्यतेःप्रेप्साकर्मणः (निरु० २, १०),—हर्यतेः कन्यन् हिरश्च हिरतेर्यथाप्राप्तं रूपम्। सर्वैर्हि तत् सर्वथा प्राप्तुमिष्यते। 'हर्यति स्वप्रभया दीप्यते'—इति सुबोधिनीकारः।

"हिरण्यरूपः स हिरण्यसन्दृग् (ऋ० सं० २, ३५, १०)"—इति निगमः ॥

(६) पेशः। 'पिश गतौ (चु० प०)'। असुन्। अथ इत्यनेन समानार्थम्। "त्रिवन्धुरेण त्रिवृता सुपेशसा (ऋ० सं० १, ४७, २)"—इति निगमः। "हिरण्ययेन रथेन (ऋ० सं० ८, ५, ३५)"—हिरण्ययी वां रभिः (ऋ० सं० ८, ५, २८)"—इत्यादौ अश्विनोरथस्य हिरण्यकेश्युषतेः पेशोऽत्र हिरण्यम्। बृहदारण्यके—'तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामपादायान्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं तनुते (४ ४, ४)'—इति। यथा। वाजसनेयके "सरस्वती मनसा पेशलम् (१९, ८३)"—इत्यत्र 'पेश इति हिरण्यनाम रूपनाम वा, इत्युवटेन व्याख्यातम् ॥

(७) कृशनम्। 'कृश तनूकरणे (दि० प०)'। 'कॄ-पॄ-वृजि-मन्दि-नि-धाञ्भ्यः क्युः (उ० २, ८१)'—इति विधीयमानः क्युर्बाहुलकात् भवति। कृश्यति तनूकरोति यम्। अत्र माधवस्तु-'कृशिर्दीप्त्यर्थः। कृश्यति स्वप्रभया दीप्यते, अपि वा कर्शयति संसृष्टं, कृशमेव वा भवति संस्थानतो गजनात्' इति। "स्मद्दिष्टयः कृशनिनो निरेके (ऋ० सं० ७, १८, २३)" 'अभि श्यावं न कृशनेभिरश्वम् (ऋ० सं० १०, ६८, ११)" "अभिवृतं कृशनैर्विश्वरूपम् (ऋ० सं० १, ३५, ४)" - इति निगमाः ॥

(८) लोहम्। 'लुह कल्पनायां (भू० प०)'। घञ् (३, ३, २१)। स्यते श्रायतेऽनेनात्मा,—त्रिवर्गसाधनत्वात् पुरुषैः सम्प्रार्थ्यते

धा। 'लूञो हः'—इति तु धर्मोज्ज्वेयः। लुनाति छिनत्ति पापसम्बन्धं पात्रे दीयमानम्। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(९) कनकम्। 'कनी दीप्तिकान्तिगतिषु (भू० प०)'। 'वुन्शादिभ्यः संज्ञायाम् (उ० ५, ३६)'—इति वुन्-प्रत्ययो धात्वर्थेष्वपि। रुक्मादिवदर्थोऽनुसन्धेयः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(१०) काञ्चनम्। अत्र सुबोधिनी—'कचि दीप्तिबन्धनयोः (भू० आ०)'। कञ्चते वर्णेन दीप्यते बध्यते कुण्डलादिरूपेणेति। 'युच् बहुलम् (३, ३, १३०)'—इति युच्प्रत्ययः। दीर्घोऽत्र बाहुलकात्। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(११) भर्म। 'डु भृञ् धारणपोषणयोः (जु० उ०)'। मनिन् (३,२,७५)। भ्रियते धार्यते, अङ्गुल्यादिभिर्धार्य्यते आपदर्थमिति वा, पोषयत्यनेन कुटुम्बमिति वा। हरतेर्वा (भू० उ०) मनिनि 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि (सि० कौ० वे० ३४०)'—इति भकारः। हिरण्येन हरति—धातुजेन समानार्थम्। "सुवीराभिस्तिरते वाजभर्मभिः (ऋ० सं०, ८, १९, ३० )"— "अरिष्टभर्मन्नागहि (ऋ० सं० ८, १८, ४)"—इति च निगमौ। 'वाजभर्मभिः', 'अरिष्टभर्मन्'—इत्यत्र माधवस्तु—'सर्वस्वं भर्म' इति व्याख्यत्, तदा निगमोऽन्वेषणीयः॥

(१२) अमृतम्। नञ्पूर्वात् म्रियतेः (तु० आ०) 'तनिमृङ्भ्यां किच्च (उ० ३, ८८)'—तन्प्रत्यये रूपम्। न म्रियतेऽनेन दुर्भिक्षादौ, नास्ति मृतं मरणमस्येति वा,—न हि हिरण्यस्य यस्यां कस्याञ्चिदवस्थायामात्मनाशो विद्यते। 'अग्नेः प्रजातं परि

*यद्धिरण्यममृतं यद्गे अधि मर्त्येषु ( अथ० सं० १६, २६, १ )'*— इति खैलिको मन्त्रः। न म्रियते पात्रे प्रतिपादितेन म्रियमाणेन वा आयुष्करत्वात्। 'आयुर्वै हिरण्यम्'—इति श्रुतिः। तथाच खैलिको मन्त्रः—'यो बिभर्त्ति दाक्षायण१ँ हिरण्य१ँ स देवेषु कृणुते दीर्घमायुः स मनुष्येषु कृणुते दीर्घमायुः ( य० वा० सं० ३४, ५१ )'—इति। "मखा चक्राणो अमृतानि विश्वा ( ऋ० सं० १, ७२, १ )"—"शुक्रं त्वा शुक्रेण क्रीणामि चन्द्रं चन्द्रेणामृतममृतेन ( य० वा० सं० ४, २६ )"—इति निगमौ।

(१३) मरुत्। मितममितं वा रोचते, मितममितं वा रोचयति, मातेः पूर्वार्द्धं, रोचतेरुत्तरार्द्धम्, पृषोदरादित्वात् ( ६, ३, १०९ ) साधुः। हिरण्यं हि अग्न्यादि-तेजस्वि-पदार्थेभ्यो मितं भोगादिभ्योऽमितं रोचते, अर्थिभ्यो दीयमानं लोकद्वयेऽपि कीर्त्तिं कारयति। तथाच सुभाषितश्लोकः—'शृणु पाणे! त्वयि न्यस्तं कियत्काञ्चनादि कङ्कणम्। इदमेवार्थिहस्तस्थं शाययति च रोचते'। यद्वा, मृतो मतिः,—म्रियतेर्धातोः ( तु० आ० ) क्तिप्रत्यये रूपम्। म्रियन्तेऽनेन पुरुषा इति मरुत्,- एतदर्थं हि चौरादिभिः पुरुषाः हन्यन्ते। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(१४) दत्रम्। 'डु दाञ् दाने ( जु० उ० )'। 'अमिचिमि-मिदि-शसिभ्यः क्त्रः ( उ० ४, १६४ )'—इति विधीयमानः क्त्रो बाहुलकात् ( ३, ३, १ ) भवति। 'दो दद् घोः ( ७, ४, ४६ )'—इति दद्भावः। दीयते पात्रे दत्रम्। "इन्द्र' यत्ते माहिनं दत्रमस्त्य० ( ऋ० सं० ३, ३६, ९ )"—इति निगमः॥

(१५) जातरूपम्। 'जनी प्रादुर्भावे (दि० आ०)'। निष्ठा-तकारः। "जनसनखनाम् (६, ४, ४२)" -इत्यात्वम्। जातः। "रुच दीप्तौ (भ्वा० आ०)। 'खष्प-शिल्प-शष्प-बाष्प-रूप-पर्प-तल्पाः (उ० ३, २६)'—इति पप्रत्ययान्तो निपातितः, निपातना-दुकारस्य दीर्घश्चकारलोपश्च। रोचते रूपम्। अनाहार्यतया जातं रूपमस्य जातरूपम्। तथाच रामायणे स्कन्दोत्पत्तौ—'इह हैम-वते भागे गर्भोऽयं संनिवेश्यताम्' इत्यतः 'परिनिक्षिप्यमाणे गर्भे तु तेजोभिरभिरञ्जितम्। सर्वं पर्वतसम्बद्धं सौवर्णमभवद्वनम्। जातरूपमिति ख्यातं तदा प्रभृति राघव! सुवर्णं पुरुषव्याघ्र! हुताशनसमप्रभम्'—इति (बा० का०)। जातं रूपं सौन्दर्यमनेन धारयितॄणामिति वा जातरूपम्। "जातरूपमयेन ह पवित्रेणा-न्धांपाम्यविक्षाति (ऐ० ब्रा० ८, १८)"- इति निगमः॥

इति पञ्चदश हिरण्यनामानि।

अम्बरम् (१)। वियत् (२)। व्योम (३)। बर्हिः (४)। धन्व (५)। अन्तरिक्षम् (६)। आकाशम् (७)। आपः (८)। पृथिवी (६)। भूः (१०)। स्वयम्भूः (११)। अध्वा (१२)। पुष्करम् (१३)। सगरः (१४)। समुद्रः (१५)। अध्वरम् (१६)। इति षोडशान्तरिक्षनामानि॥३॥

(1) अभ्रम् । 'अभि शब्दे (भ्वा० आ०)' । 'स्फायितञ्चि... (उ० ५, ५२)'—इति अभ्रशब्दस्याभ्रं निपात्यते । अभ्रन्ते शब्दायन्ते ऽस्मिन् मेघाः, अथवा अभ्रायन्ते वा स्थापं वायुप्रेरितमित्यर्थः,—आकाशगुणो हि शब्दः । अथवा भर्तेर्धातोः 'अर्त्तिसृधृधम्यश्यश्यवितृभ्योऽनिः' इत्यादि उणादौ (उ० ?, ५( )'—इति भरतेर्विधीयमाने उभयथो गुणागमश्च बाहुलकात् (३, ३, १) भवति, तस्मिन्, गुणे, रपरत्वे च रेफस्य मकारश्च, भवतु । भरतेरेव वा तेनैव सूत्रेण उभयथो गुणागमश्च । उभयथापि गच्छति देशाद्देशान्तरं गच्छते वा प्राणिभिरित्यभ्रु जलम् । तद्दाति ददातीत्यभ्रं मेघः । 'आतोऽनुपसर्गे कः (३, २, ३)', पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०९) उकारस्याकारः । तद्वदाकाशमप्यभ्रम् । 'लुगकारेकाररेफाश्च वक्तव्याः (५, ४, १२८ वा० ७)'—इति मत्वर्थीयस्य लुक् । तदेव वा वर्षासु प्राणिभ्य उदकं ददातीति अभ्रम् । अथवा अम्बुशब्दे उपपदे गजतेर्धातोः 'अन्येष्वपि दृश्यते (३, २, १०१)'—इति दृशिग्रहणात् डः, अपिशब्दस्य सर्वोपाधिव्यभिचारार्थत्वाद्र्थसिद्धिः । अथवा अम्बुयद्भाजते स्वस्थस्तिमितसागरम्बुवद्वभासते । कल्पितोपमानश्चैतत्, तद्यथा 'पुञ्जीकृतमिव ध्वान्तं मेघो भाति मतङ्गजः । सरः शरत्प्रसन्नाम्भो नभः खण्डमिवोज्झितम् ॥' परमार्थतः स्वरूपमवकाशः । अथवा अम्बुमत् भवति यो मत्वर्थीयः, पूर्ववदुकारस्याकारः,अन्तरिक्षं हि वर्षोदकेन तद्वत् । "यत्रासत्या परावति यद्वाम्भो अभ्यम्बरे (ऋ० ?, ८, ८, १४)"—इति निगमः ॥

(२) वियत्। 'यमु उपरमे (भू० प०)'—इत्यस्मात् औणादिके क्विपि 'गमः क्वौ (६, ४, ४०)'—'गमादीनामिति वक्तव्यम् (६, ४, ४० वा०)'—इत्युक्तेरनुनासिकलोपः। 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् (६, १, ७१)'। विगतं यमनमुपरमणमस्मादिति वियत्,—अन्तरिक्षं हि सर्वत्र व्याप्तत्वात् न कुत्रचित् उपरतम्। 'वियच्छति न विरमति' इति क्षीरस्वामी। यद्वा, विपूर्वात् 'यती प्रयत्ने (भू० आ०)' इत्यस्मात् क्विप्। विविधं यतन्तेऽस्मिन् प्राणिनः, आकाशे हि सर्वे व्याप्रियन्ते। निगमोऽस्यान्वेषणीयः॥

(३) व्योम। विपूर्वादवतेर्व्याप्त्यर्थात् (भू० प०) औणादिके 'सर्वधातुभ्यो मनिन् (उ० ४, १४५)'—इति सूत्रेण मनिन्प्रत्यये 'ज्वरत्वरस्रिव्यविमवामुपधायाश्च (६, ४, २०)'—इत्यूठि गुणः। व्यवति व्याप्नोति सर्वं जगत्। यद्वा, अवतिर्गत्यर्थः (भू० प०) भावे मनिन् (उ० ४, १३६), —ओम्, अवनं गमनं विविधमस्मिन् विद्यते। यद्वा, रक्षणार्थः (भू० आ०), विशेषेणावति प्राणिनोऽवकाशप्रदानेन। उणादौ तु 'सामन्-सीमन्-व्योमन् (उ० ४, १५०)' इत्यादिना 'व्येञ् संवरणे (भू० उ०)' इत्यस्मात्मनिनि रूपं निपात्यते। ई यमे सहायुता व्योम। तथाच निरुक्तम् 'योनिरन्तरिक्षं महानव्ययः परिवीतो वायुना (११, ४१)'—इति। इदं निर्वचनमेतत्पदस्वरयोः शाकल्यात्रेययोरनभिमतं यौ व्यस्मिन्नवगृह्णीतः। "सहस्राक्षरा परमे व्योमन् (ऋ० सं० १, १६४, ४१)"—'सत्यामाशिरं पूर्व्यं व्योमनि (ऋ० सं० ९, ३२, १)"—इति च निगमौ॥

(४) 'बर्हिः। बृहि वृद्धौ (भू० प०)'. 'बृंहेर्नलोपश्च (उ० २, १०२)"—इति इसि प्रत्ययः। "बृंहति वर्द्धतेऽनेन प्राणिजातम्,'—सर्वे हि प्राणिन आकाशे वर्द्धन्ते,' परिवृद्धं वा रथयं विभुत्वात्। "यस्य त्रिधात्वावृतं बर्हिः (ऋ० सं० ८, १०२, १४)"—इति निगम॥

(५) धन्व। 'धवि रिवि धवि गत्यर्थाः (भू० प०)'। इदित्वान्नुम् (७, १, ५८)। "कनिन्युवृषितक्षिराजिधन्विद्युप्रतिदिवः (उ० १, १५४),—इति कनिन्। धन्वन्ति गच्छन्ति अस्मादापः। यद्वा, 'धनधान्ये (दि० आ०)', अनेकार्थत्वाद्दर्शनार्थः। कनिप्। धन्यते अर्थतेऽवकाशप्रदानाय, देवतात्वात् स्वं स्वमभीष्टं वा। "यः परस्याः परावतस्तिरोधन्वातिरोचते (ऋ० सं० १०, १८७, २)—इति निगमः॥

(६) अन्तरिक्षम्। 'अन्तरिक्षं कस्मात्? (निरु० २, १०)'—इत्यादि भाष्यस्य स्कन्दस्वामिकृतो यथादृष्ट' लिख्यते--'अन्तरा मध्ये सर्वभूतानां क्षान्तं शान्तं निःक्रियं वा शान्तमव्यूहं विष्कम्भस्थानात्मकत्वात्। अन्तरा इमे रोदस्यौ क्षियतीति वा। अन्तरेमे क्षीण्यानिति वा। एवमनेकविकल्पमुत्तरपदम्। पूर्वशरीरेष्वन्तरमयमिति वा. अन्तःशब्दान पूर्वपदमक्षय-शब्दादुत्तरपदं विनाशिष्वपि अविनाशीत्यर्थः' —इति। सर्वत्र पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०९) साधु। "न यस्य द्यावापृथिवी न धन्व नान्तरिक्षम् (ऋ० सं० १०, ८९, ६)" इति निगमः॥

(७) आकाशम्। आङ् पूर्वात् 'काशृदीप्तौ ( दि० आ० )'—त्यस्मात् 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण (३, ३, ११८)'—इति प्रत्ययः। आ समन्तात् काशन्ते दीप्यन्ते सूर्यादयोऽत्र। यद्वा न्-पूर्वात् काशेः पचाद्यच् (३, १, १३४), नभ्राण्नपान्नवेदा... छान्दसः ( ६, ३, ३६ ) दीर्घः। न काशते, पृथिव्यादिवत् अप्रत्यक्षत्वात्। तथा च श्रुतिः—"तिस्रो महीरुपरास्तस्थुरत्या गुहा द्वे निहिते दर्श्येका ऋ० सं० ३, ५६, २ )"—इति। 'तस्मान्नान्तरिक्षं पश्यति'—ते च "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः ( तै० उ० १ )"—इति निगमः॥

(८) आपः। 'आप्लृ व्याप्तौ ( भू० प० )'। 'आप्नोतेर्ह्रस्वश्च उ० २, ५५ )'—इति क्विप्प्रत्ययः उपधाह्रस्वश्च। जसि 'अप्तृन्तृच्- स्व ( ६, ४, ११ )'—इत्यादिना दीर्घः। व्याप्नोति ह्यन्तरिक्षं सर्वं ...म्, आप्यते वा प्राणिभिः। अप्शब्दस्य नित्यं बहुवचनान्तत्वात् बहुवचनान्तस्य पाठः। ॥ ॥ ॥। "तृतीयमप्सु नृमणा अजस्रम् ऋ० सं० १०, ४५ )"—इति निगमः॥

(९) पृथिवी। 'प्रथ प्रख्याने ( भू० आ० )'। 'प्रथेः षिवन् सम्प्रसारणं च (उ० १, पा०)'। 'षिद्गौरादिभ्यश्च (४, १, ४१)'—ति ङीप्। प्रथते पृथिवी। "यः पार्थिवस्य क्षम्यस्य राजा ऋ० सं० २, १४, ११)"—"स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम् ऋ० सं० १०, १२१, १)—इति च निगमौ॥

(१०) भूः। भवतेः ( भू० प० ) क्विप्। भवत्यस्मादुत्पत्त्यादिः। ...मोऽन्येष्वर्णयः॥

(११) व्यध्वः । व्यर्थं अध्वानि भ केवलिन् गच्छति, केषाञ्चिद् वादिनां मते निर्गं व्याकरणम् । व्यवस्थित्युकारान्तं केचुनित् । तत्र 'मृगय्वादिभ्यश्च (उ० १, ३६)' कुः । निगमव्यवदर्शनात् उभयमपि लिखितम्, निगमदर्शनान्निर्णयः कार्यः ॥

(१२) अध्वा । 'अद भक्षणे (अदा० प०)' । 'अदेर्ध च (उ० ४, ११२)'—इति वनिप् धकारश्चान्तादेशः । अदनं स्वलि-गच्छतां पथ्यादीनां विश्रम्स्थानाभावात् । यद्वा, अध्विर्गत्यर्थः कश्चिद् धातुः, बाहुलकात् पूर्वेण वनिप्, गच्छन्त्यस्मिन् देवादय इत्यध्वा । 'अधेर्गतिक्रियात्'—इति माधवः । यद्वा, अध्वा मार्गोऽस्मिन् विद्यते मत्वर्थीयस्य लुक् सति व्याकाशे मेघपर्यायः । 'अतेर्धश्च'—इति भोजसूत्रम् । 'अत सातत्यगमने (भू० प०)' । सततं गच्छन्त्यत्र सूर्यादय इत्यध्वा । "भूमा रेजन्ते अध्वनि प्रविक्ते (ऋ० सं० ६, ५०, ५)" — "अममने अध्वनि वृजिने पथि (ऋ० सं० ६, ४७, १३)"—इति निगमौ ॥

(१३) पुष्करम् । 'पुष पुष्टौ (म्वा०प०)' । 'पुषः कित् (उ० ४, ४)'—इति करन्प्रत्ययः । पुषिरन्तर्णीतण्यर्थः, पोषयति भूतानि अवकाशप्रदानेन उदकदानाद्युपकारेण च । 'पुष्कं वारि राति पुष्करम्'- इति क्षीरस्वामी । पुषेरन्तर्णीतण्यर्थात् 'सृवृभू-शुषिमुषिभ्यः कित्'—इति विहितः करन्प्रत्ययो बाहुलकाद् भवति । 'हृद्रुहसृपृचीचीपुषिमुषिमृड्शूभ्यः किन्'—इति करः श्रीभोजदेवः । पोष्यति भूतानीति । पुष्कोपपदाद्रातेः 'आतो-... कः (३, २, ३)' । यद्वा, वपुरित्युदकनाम (निघ० १,१२),

तत्कर्तुं शीलमस्येति 'कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु (३,२,२०)' —इति टः, वपुष्करं सद् वकारलोपेन पुष्करम्, पृषोदरादिः। "विश्वे देवाः पुष्करे त्वाददन्त (ऋ० सं० ७, ३३, ११)"—इति निगमः॥

(१४) सगरः। सहशब्दपूर्वात् 'गॄ निगरणे (तु० प०)'—इत्यस्मात् 'ऋदोरप् (३, ३, ५७)', सहस्य सभावः (६, ३, ७८)। सह गिरन्त्यस्मिन् स्थिता आदित्यरश्मयो भौमरसमिति सगरः। सह उद्गिरन्त्यस्मिन् स्थिता मेघा वर्षोदकमिति वा। यद्वा, गीर्य्यते अभ्यवह्रियते विद्यते इति गरः उदकम्, तेन सह वर्त्तते इति सगरः। तथा च 'यस्मयश्च देवा गरगिरः'—इत्यत्र गृ (रा)-द्देवः 'गरमुदकं गिरन्ति गरगिरः' —इति भाष्यं कृतवान्। यद्वा, 'गॄ शब्दे (क्र्या० प्या० प०)'—इत्यादि। गीर्य्यते इति गरः शब्दः पूर्ववत्, गरेण शब्देन सह वर्त्तते इति सगरः,—आकाशो हि स्वगुणेन शब्देन सहैव सर्वदा वर्त्तते। "अपः प्रेरयं सगरस्य बुध्नात् (ऋ० सं० १०, ८९, ४)"—इति निगमः॥

(१५) समुद्रः। समुद्द्रवन्ति सङ्गता ऊर्ध्वं द्रवन्ति गच्छन्त्यस्मादापो रश्मिभिराकृष्यमाणा आदित्यमण्डलम्। समुत्पूर्वात् द्रवतेर्गत्यर्थात् 'अन्येष्वपि दृश्यते (३, २, १०१)'—इति अपादाने डप्रत्यये टिलोपे च रूपम्। यद्वा, संहता अभिद्रवन्त्येनमापो भौमरसलक्षणा वायुना प्रेर्य्यमाणाः आदित्यमण्डलाद्वा वर्षाकाले रश्मिभिः प्रवर्त्तमानाः। अत्र उदित्येव उपसर्गोऽभ्यर्थे वर्त्तते, कर्मणि डप्रत्यय इति विशेषः। सम्मोदन्तेऽस्मिन् भूतानि

समत्रिश्रनार्त्तीति वा । सम्पूर्वात् 'मुद हर्षे (भ्वा० आ०)'—इत्य-स्मात् 'स्फायितञ्चिवञ्चि (उ० २, १३)'—इत्यादिना अधिकरणे रक्प्रत्यये, मकारो सकारे च लोपः । यद्वा, 'सम्'—इत्येकीभावे, उत्काम् उद्गमः, सो मत्वर्थीयः । एकीभूतमुदकमस्मिन् विद्यते सलिलमिति उदकमात्रलोपमावश्छान्दसः । यद्वा, सम्पूर्वात् 'उन्दी क्लेदने (रु० प०)'—इत्यस्मात् 'स्फायितञ्चिवञ्चि (उ० २, १३)' —इत्यादिना कर्त्तरि रक्प्रत्यये क्रियाफललोपे च समुद्रः । समुनत्ति पर्जन्येन भुवनं समुद्रः । "एकः सुपर्णः स समुद्रमा विवेश ( ऋ० सं० ८, ६, १६, ४ )"—इति निगमः ॥

(१६) अध्वरम् । अध्वा व्याख्यातः ( ४८ पृ० ) । अध्वानं मार्गं राति ददाति ( अदा० प० ) स्वस्मिन् गच्छतां पश्वादीनाम् । यद्वा, अध्वा मार्गो विद्यतेऽस्मिन् मेधावीनाम् । रो मत्वर्थीयः । यद्वा ध्वरतिर्हिंसाकर्मा ( निघ० २, १९ ), तत्प्रतिषेधः । अध्वरं ध्वरं न हिंस्यमित्यर्थः । नञ्पूर्वात् ध्वरतेः 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण ( ३, ३, ११८ )'—इति घः । "शिशू क्रीळन्तौ परि यातो अध्वरम् ( ऋ० सं० ८, ३, २३, ३ )"—इति निगमः । 'अध्वरं यज्ञम्'—इति स्कन्दस्वामी व्याख्याति, तदा निगमोऽन्वेषणीयः ॥

इति षोडशान्तरिक्षनामानि ॥ ३ ॥

स्वः (१) । पृश्निः (२) । नाकः (३) । गौः (४) । विष्टप् (५) । नभः (६) । इति षट् साधारणानि ॥ ४ ॥

खरादीनि षट् तु भाष्यकारेण स्कन्दस्वामिना च कृतव्याख्यातानीति नास्माभिरत्रोच्यन्ते ॥ ४ ॥

खेदयः (१) । किरणाः (२) । गावः (३) । रश्मयः (४) । अभीशवः (५) । दीधितयः (६) । गभस्तयः (७) । वनम् (८) । उस्राः (९) । वसवः (१०) । मरीचिपाः (११) । मयूखा (१२) । सप्तऋषयः (१३) । साध्याः (१४) । सुपर्णाः (१५) । इति पञ्चदश रश्मिनामानि ॥ ५ ॥

खेदयः । 'तेषामादितः साधारणानि पञ्चदश रश्मिनामानि (नि २, १५)'—इत्युक्तेः पूर्वमादित्यरश्मिनामान्यनन्तरमश्वरश्मीनाञ्च निर्वचनं प्रदर्श्यते। 'खिद दैन्ये' दिवादिः रुधादिश्च आत्मनेपदी, *खिद परिघाते तुदादिर्मुचादिः परस्मैपदी। 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् (३, ३, १९)'—इति घञ्। खिद्यते खिन्ने धाऽनया, लोको, घर्मकाले, अश्वो बन्धनकाले । यद्वा परिखिद्यन्ते सर्वतो हिंस्यन्ते अनया लोक आदित्येन, अश्वो बन्धनकाले । यद्वा, अनेकार्थत्वात् धातूनां खिदिः छेदने वर्त्तते । तथाच 'खेदनं छेदनम्'—इति माधवः । अस्मात् पचाद्यचि (३, १, १३, ४) खेदति छिनत्ति नाशयति तमः । तथाहि 'दीर्घद्विद्धः'—इत्यादौ छिदिर्नाशने दृष्टः । घञि छिद्यतेऽश्वोऽनयेति खेदा अश्वरश्मिः ।

गृणतीर्वैवस्वतानामस्य पादौ पादाङ्गुष्ठः । "भीरवः त्रिपुता दिव (ऋ० सं० १, ५, १५, ३ )"—इत्यश्वरश्मेर्निगमः, आदित्यरश्मेर-श्वेपर्यायः ॥

(२) किरणाः । "कॄ विक्षेपे' तुदादिः (प०), 'कॄञ् हिंसायाम्' क्र्यादिः (प०) । 'कॄगॄशॄवृञ्चिमिदिनिघाम्भ्यः क्युः (उ० २, ८६)'—इति क्यु-प्रत्ययः । किरन्ति तापम्, प्रकाशं वा अध्यायेन, इतरत्र पन्थानं वा । कीर्यन्ते वा, आदित्येन दिङ्मुखेषु, अश्वपालेना-श्वग्रीवादिषु । यद्वा, कृण्वन्ति हिंसन्ति तमः, हिंस्यन्त एभिरश्व-किरणाः । "सिया इल्हातः किरणा नैजन् (ऋ०सं० १, ५, ४, १)" —इति निगमः आदित्यरश्मेः । "रेणुं रेरिहत् किरणं ददश्वान् ( ऋ० सं० ३, ७, १२, १ )"—इत्यश्वरश्मेः ॥

(३) गावः । व्याख्यातः पृथिवीनामसु ( १, १ ) । गच्छन्ति सर्वतस्तमो विहन्तुं, भौमं रसं वा हर्तुं, गीयन्ते स्तूयन्ते स्वाभिमतसाधनाद् यजमानैरश्वपालैश्च । "यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः ( ऋ० सं० २, २, २४, ६ )"—"को अद्य युङ्क्ते धुरि गा ऋतस्य ( १, ६, ८, १ )"—आदित्यरश्मेर्निगमौ । अश्वरश्मेरप्ये-पर्यायः ॥

(४) रश्मयः । 'रशिर्यमनार्थो धातुः (सौ०)' । 'नियोमिः (उ० ४, ४३)'—इति विधीयमानो मिप्रत्ययो बाहुलकाद् भवति । रशना रश्मिरिति कतिपयप्रयोगविषय एवायं रशिः, भरत्या-दिवत्, न सर्वत्र, बन्धनप्रतीतेः । बध्नन्त्युदकमथवा बध्यते तैरुदकमश्वो वा । यद्वा, 'अशू व्याप्तौ ( स्वा० आ० )' । 'अशेरश

। ( उ० ४, ४६ )'—इति मि-प्रत्ययो रशादेशश्च। अश्नुवते सर्वं
गत् अश्वग्रीवादि वा रश्मयः। "सूर्य्यस्येव रश्मयो द्रावयित्नवो
ऋ० सं० ७, २, २२, १ )"—"विरश्मयोजना॑ अनु ( ऋ० सं०
, ४, ७, ३)"—इति आदित्यरश्मिनिगमौ। "मनः पश्चादनु यच्छन्ति
श्मयः ( ऋ० सं० ५, १, २०, १ )"—"ते रश्मिभिस्तऋक्वभिः
खादयः ( ऋ० सं० १, ६, १३, ६ )"—इति अश्वरश्मेः॥

(५) अभीशवः। अभिपूर्वात् 'अशू व्याप्तौ ( स्वा० आ०'—
इत्यस्मात् 'भृमृशीतृचरित्सरितनिधनिमिमस्जिभ्य उः ( उ०
७ )'—इति उप्रत्ययो बाहुलकाद् भवति धात्ववयवस्याका-
रे कारश्च। जम्। अभि व्याप्नुवन्ति जगदश्वग्रीवां वा। यद्वा,
भिपूर्वात् 'ईश ऐश्वर्य्ये ( अदा० आ० )'—इत्यस्मात् पूर्ववदु-
ययः। ईष्टे सूर्य्यस्तमोऽपहन्तुमेभिः, अश्वपालोऽश्वं यन्तुम्।
मीशूनां महिमानं पनायत ( ऋ० सं० ५, १, २०, १ )"—
श्वरश्मेर्निगमः। आदित्यरश्मेरन्वेषणीयः॥

(६) दीधितयः। एतदादीन्यादित्यरश्मिनामान्येव। 'दीधिङ्
सेदेवनयोः ( अदा० आ० )' 'क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्
, ३, १७४ )'—इति क्तिचि पृषोदरादित्वादेव ( ६, ३,
९ ) यथाकथञ्चिद्रूपसिद्धिरूह्या। दीयन्ते विधीयन्ते प्रेष्यन्ते
हरणादिकर्मस्वादित्येन, धार्य्यन्ते वा यथार्थमुदकमेभिरा-
येन तथा। 'अथास्य कर्म रसादानं रश्मिभिश्च रसधारणम्
, १० )'—इति निरुक्तम्। 'न वा स धृतं गर्भं भास्करस्य
रश्मिभिः। पीत्वा रसं समुद्राणां द्यौः प्रसूते रसायनम्'—

इति [illegible]। "[illegible] (ऋ० १. ४, १८. १)"— इति निगमः। '[illegible]'—इति (११. ६१) [illegible] ॥

(७) गभस्तयः। गो-शब्दपूर्वाद्भसतेर्निष्पन्नम् '[illegible] (उ० प०)'—इत्यस्मात् पूर्ववत् [illegible] न पूर्वपदस्थितात् गो-शब्दस्याकारान्तादेशः। गां भूमिम् भासयन्ति दीपयन्ति। यद्वा, गवि संसर्गे दीप्यते। यद्वा, भसतिर्गतिकर्मा (निघ० २, ८०)। गामुदकं भौमरसलक्षणं भसति अदन्ति। यद्वा, 'भसेर्गड् च'—इति भोज-सूत्रेण तिप्रत्ययः धातोर्गडागमश्च, गभसति दीप्यन्ते इति गभस्तयः। 'गृहेर्गभस्तिः'—इति माधवः, तदा पूर्वसूत्रेण तिप्रत्यये धातोरसुगागमः, 'हग्रहोर्भश्छन्दसि (सि० कौ० वै० ३ आ०)'—इति निर्वाहः, गृह्णन्ति भौमं रसम्। "गभस्तिपूतो नृभिरद्रिभिः सुतो (ऋ० सं० ७, ३, १८, ४)"—"पूष्णो अꣳशुभ्यां गभस्तिपूतः (य० वा० स० ७। १)"—इति च निगमौ ॥

(८) घनम्। "घन पण सम्भक्तौ" भ्वादिः परस्मैपदी। 'पुंसि संज्ञायां घः (३, ३, ११८)'। घन्यते सेव्यते शीतादिनिवारणाय। अथवा घनतिर्हिंसार्थः (भू० प०)। घन्यते हिंस्यतेऽनेन तमः। यद्वा, "घनु याचने" तनादिरात्मनेभाषा। घन्यते याच्यते वृष्टिप्रदानाय। यद्वा, 'घन शब्दे' भ्वादिः परस्मैपदी। घन्यते शब्दयते स्तूयते स्तोतृभिः। "अनुध्वे राजा घरुणो घनस्य (ऋ० सं० १, २, १४, २)"---इति निगमः। 'घननीयस्य तेजसः'—इति माधवः॥

(९) उस्राः । 'वस निवासे (भू० प०)' । "स्फायितञ्चिवञ्चि (उ० २, १३)"—इत्यादिना रक्, अदादिर्वाम् सम्प्रसारणं बाहुलकात्, 'शासिवसिघसीनाञ्च (८, ३, ६०)'—इति षत्वाभावः । वसन्त्येषु परतेजः वसन्त्येषु रसाः इति वा । यद्वा, उत्पूर्वात् 'स्रुगतौ (भू० प०)'—इत्यस्मात् 'उपसर्गे च सञ्ज्ञायाम् (३, २, ९९)'—इति डनेर्विधीयमानो डप्रत्ययो बाहुलकाद् भवति,उदोऽन्त्यलोपश्च । उत्स्रवन्ति यस्यो रसाः । "उस्रा इव स्वसराणि (ऋ० सं० १, १, ६, २)"—इति निगमः ॥

(१०) वसवः । 'वस निवासे (भू० प०)', 'वस आच्छादने (अदा० आ०)' । "शृस्वृस्निहित्रप्यसिवसिहनिक्लिदिबन्धिमनिभ्यश्च (उ० १, १०)"—इति उप्रत्ययः । वसन्ति लोकेषु, वसन्त्यत्र रसाः, वसन्त्यत्र परं तेजः, आच्छादयति वा लोकान् वृष्ट्या, पिपासयति वा तमः । "बहुलमन्यत्रापि सञ्ज्ञाच्छन्दसोः (६, ४, ५१ वा०)"—इति णिलुक् । वासयितारो वा लोकानां वृष्ट्यादिप्रदानेन । "उमया अत्र वसवो रन्त देवाः (ऋ० सं० ५, ४, ६, ३)"—"सुगावो देवाः सदना अकर्म य आजग्मुः,सवनमिदं जुषाणाः । जक्षिवांसः पपिवांसश्च विश्वेऽस्मे धत्त वसवो वसूनि (य० वा० सं० ८, १८)"—"हिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूनाम् (ऋ० सं० २, ३, १६, २)"—इति च निगमाः ॥

(११) मरीचिपाः । 'मृङ् प्राणत्यागे (तु० आ०)' । मृकणिभ्यामीचिः (उ० ४, ७०)'—इति ईचिः प्रत्ययः । म्रियते तमोऽस्मिन्निति मरीचिः रश्मिः । अत्र मरीचिशब्देन मरीचिमान् सूर्य उच्यते,

मरचर्पौयस्य लुक् साहचर्य्याद् भाव्यते, मरीचिमत्सूर्य्यम् पान्ति मरीचिपाः, 'आतोऽनुपसर्गे कः (३, २, ३)'। "देवेभ्यः मरीचिपेभ्यः ( य० वा० सं० ७, ३ )"—इति निगमः ॥

(१२) मयूखाः। 'डु मिञ् प्रक्षेपणे ( स्वा० उ० )'। अस्मात् 'मुहेः खो डयूट् च ( उ० ४, २२ )'—इति विधीयमानः खप्रत्ययः बाहुलकाद् भवति, डयूडागमश्च प्रत्ययस्य बाहुलकादेव। मिन्वन्ति तमः मयूखाः। खप्रत्ययाधिकारे 'मयेरूट् च'—इति श्रीभोजदेवः। मयतिर्गत्यर्थः (भ्वा० आ०)। गच्छन्ति सर्वलोकेषु मयूखाः। "दाधर्थ पृथिवीमभितो मयूखैः (ऋ० सं० ५, ६, २४, ३)" —इमे मयूखा उपसेदुरु सदः (ऋ० सं० ८, ७, १८, २)"—इति च निगमौ ॥

(१३) सप्तऋषयः। 'सप्त सृप्ता संख्या ( निरु० ४, २६ )'—इत्युक्तेः सृपेर्गत्यर्थात् 'सप्यशूभ्यां तुट् च ( उ० १, १५५ )—' इति सपेर्विधीयमानः कनिन् प्रत्ययस्तुडागमश्च बाहुलकाद् भवति ऋकारस्याकारश्च। सृप्यः सकाशात् सृप्ता संख्या सप्त। 'ऋष गतौ (तु० प०), अनेकार्थत्वाद्धातूनां दर्शनार्थः। 'इगुपधात् ( उ० ४, ११६ )'—इति इन प्रत्ययः। ऋषयः द्रष्टारः। सप्तसंख्याकाश्च ते ऋषयो द्रष्टारश्च त्रैलोक्यस्येति सप्तऋषयः। 'ऋत्यकः ( ६, १, १२८ )'—इति प्रकृतिभावः। "सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रम् (ऋ० सं० २, ३, १४, २)"—इत्यत्र 'सप्त आदित्यरश्मयः ( ४, २६ )'—इति वदन्ति नैरुक्ताः। यद्वा, 'षप समवाये ( भ्वा० प० ), 'सप्यशूभ्यां तुट् च ( उ० १, १५५ ),—इति कनिन्

प्रत्ययस्तुडागमश्च। समवेताः सप्त, ऋषिरपि गत्यर्थ एव प्रत्ययः। समवेता गच्छन्ति दिङ्मुखानि सप्तर्षयः। "यत्रा सप्त ऋषीन् पर एकमाहुः ( ऋ० सं० ८, ३, १७,२ )"—"सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे ( य० वा० सं० ३४, ५५ )"—अत्रासत ऋषयः सप्त साकम् ( अथ० सं० १०, २६, ६ )"—इति निगमाः॥

(१४) साध्याः। 'साध साध संसिद्धौ ( स्वा० दि० प० )'। 'ऋहलोर्ण्यत् ( ३, १, १२४ )'—इति ण्यत् प्रत्ययः, 'कृत्यल्युटो बहुलम् ( ३, ४, ११३)—इति कर्त्तरि भवति। 'रसाहरणादिकं स्वव्यापारं साध्नुवन्ति संसिद्धं कुर्वन्ति—इति स्कन्दस्वामी। साध्यन्ते आराध्यन्ते साध्याः—इति क्षीरस्वामी, अत्र यथाप्राप्तो ण्यत्। "यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ( ऋ० सं० २, ३, २३, ५)"—इति निगमः॥

(१५) सुपर्णाः। सुपसृष्टात् 'पॄ पालनपूरणयोः ( जु० क्र्या० प्या० प० )—इत्यस्मात् 'धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः (उ० ३, ६)'—इति नप्रत्ययः। 'पर्णं पततेः पृणातेः प्रीणातेः वा,—इत्यष्टादशाध्यायवृत्त्युक्तत्वात् पत्-धातोः बाहुलकात् नप्रत्ययः तकारस्य रेफादेशश्च। प्रीणातेरीकारस्य अकारादेशः स च पकारात् परः। शोभनं पृणन्ति पालयन्ति जगत् शीतादिनिवारणात्, अथवा पूरयन्ति वा वृष्ट्या, शोभनं पतनं गमनमेषामिति वा, सुष्ठु प्रीणन्ति तर्पयन्ति जगत् धर्मप्रदानेनेति वा सुपर्णाः। यद्वा, सुर्मत्वर्थः, भावे च ■ प्रत्ययः। पतनादिमन्तः सुपर्णाः।

तमाम—'बृहदुपरेम विदथे सुवीराः (ऋ० सं० २, ६, ६, ६)'—इत्यत्र 'वीरवन्तः कल्याणवीरा वा (निरु० १, ७)'। अष्टादशाध्याये च 'सुपर्णं विप्राः (ऋ० सं० ८, ६, १६, ५)'—इत्यत्र 'पर्णवन्तं कल्याणपर्णं वा,—इति चेति सुमन्यर्थे बहुशो दृष्टः। "यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागम् (ऋ० सं० २, ३, १८, १)"—"वयः सुपर्णा उप सेदुरिन्द्रम् (ऋ० सं० ८, ३, ४, ६)"—इति च निगमौ॥ रश्मिनां प्रायो बहुवचनान्तत्वेन दृष्टत्वात् रश्मिनामानि प्रायेण बहुवचनान्तानि पठितानि। एवं दिङ्नामस्वपि द्रष्टव्यम्॥

इति पञ्चदश रश्मिनामानि ॥ ५ ॥

आताः (१)। आशाः (२)। उपराः (३)। आष्टाः (४)। काष्ठाः (५)। व्योम (६)। ककुभः (७)। हरितः ८)। इत्यष्टौ दिङ्नामानि ॥६॥

(१) आताः। आङ्पूर्वादततेर्गतिकर्मणः (भ्वा० प०) 'अकर्त्तरि च कारके (३, ३, १९)'—इति घञ् आभिमुख्येन गम्यन्ते प्राणिभिस्तं तं कार्य्यं प्रति। यद्वा, आङ्पूर्वात् तनोतेः 'उपसर्गे च सञ्ज्ञायाम् (३, २, ९९)'—इति जनेर्विधीयमानो डप्रत्ययो बहुलवचनाद् भवति। आतताः आताः। "ऋजन्त्याताः सुसम्पृष्टासः (ऋ० सं० ३, ३, ७, ६)"—"उद्रातैर्जिहते बृहद्द्वारो (ऋ० सं० ६, ७, २४, ५)"—इति निगमौ॥

(२) आशाः। आङ्पूर्वात् 'शद्लृ शातने (भू० प०)'—इत्ययमत्र गत्यर्थः, अनेकार्थत्वाद्धातूनाम्। पूर्ववड्ः। तं तमर्थं प्रत्यागमनात्। यद्वा, आ इत्येषोऽभीत्यस्यार्थे वर्तते। 'अशू व्याप्तौ (स्वा० आ०)'—इत्यस्मात् घञि रूपम्। आशा उपदिशा भवन्त्यभ्यशनात् परस्परादिभिः संव्याप्तेः। 'आ अश्नुवते आशाः'—इति क्षीरस्वामी। अत्र पचाद्यच् (३, १, १३४)। "इन्द्र आशाभ्यस्परि (ऋ० सं० २, ८, ६, २)"—इति निगमः॥

(३) उपराः। उपरमन्ते आसन्नाणि प्राणिनो वा स्वस्वव्यापारेभ्यः। पूर्ववत् डः। "उपह्वरे यदुपरा अपिन्वन् (ऋ० सं० १, ५, २, १)"—इति निगमः। "तमस्य पृक्षमुपरासु धीमहि (ऋ० सं० २, १, १२, ५)"—इत्यत्र दिग्वाची न वेति चिन्त्यम्॥

(४) आष्ठाः। आङ्पूर्वात् तिष्ठतेः (भू० प०) धातोर्घञर्थे कविधानम्। 'स्थास्नापाव्यधिहनियुध्यर्थम् (३, ३, ५८ म० भा०)'—इति कप्रत्ययः। सुषामादित्वात् (८, ३, ९८) षत्वम्। आ समन्तात् स्थीयते आभिः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(५) काष्ठाः। काष्ठा दिशो भवन्ति (निरु० २, १५)'—इत्यत्र स्कन्दस्वामी—'क्रान्त्वा सर्वमतीत्य स्थिताः आकाशवद् व्यतिरेकपक्षे। अव्यतिरेकेऽपि त एव शब्दादयः सर्वत्र सन्ति संस्थिताश्चेति। उपदिशोऽप्येवमेव। व्यतिरेकेऽपि इतरेतरापेक्षया परत्वापरत्ववत् सर्वत्र व्यवहारोऽस्तीत्यमिति'। क्रान्त्वा-

-शब्दात् पूर्वार्द्धं स्थिताशब्दादुत्तरार्द्धमित्यर्थः। पृषोदरादि वैयाकरणपक्षे तु 'काशृ दीप्तौ (भ्वा० आ०)'। 'हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः क्थन् (उ० २, २)'—इति क्थन् प्रत्ययः। 'तितुत्रतथसिसुसरकसेषु च (७, २, ९)'—इति इडभावः। काशन्ते दीप्यन्ते काष्ठाः "नरस्त्यां काष्ठास्वर्वतः (ऋ० सं० ४, ७, २७, १)"—इति निगमः॥

(६) व्योम। व्याख्यातमन्तरिक्षनामसु (३)। स यथार्थो-ऽयापि। परिवीता वायुना। 'पवमानो हरित आ विवेश (ऋ० सं० ६, ७, ८, ४)'—इति श्रुतिः। यद्वा, विविधमोम-मवनमस्मिन् वियत इति व्योम। 'ओमानमापोमानुषीरमृक्तम् (ऋ० सं० ४, ८, ६, २)' इत्यत्र 'अवेर्या ओमन्' - इति माधवः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(७) ककुभः। 'ककुभानि विस्तारयन्तीति ककुभ'—इति क्षीरस्वामी। 'ककुभ् कुम्भेनद्धृयान्ति उन्मिता इव दिशो दृश्यन्ते वृणक्त्यमानाः'—इति माधवः। येन प्रजापतिना विस्तारिता इति वा। सर्वत्र 'क्विब्वचिप्रच्छ्यायतस्तु (३, २, १७८ वा०)'—इत्यत्र 'प्राक् प्रत्ययनिर्देशादिष्टसिद्धिः (म० भा०)' इत्युक्तेः क्विपि पृषोदरादित्वात् रूपसिद्धिः। "यः ककुभो निधारयः (ऋ० सं० ६, ३, २६, ४)"—इति निगमः॥

(८) हरितः। 'हृञ् हरणे' भ्वादिः (उ०) 'हृ प्रसह्य करणे' जुहोत्यादिः (प०)। 'हृसृहियुषिभ्यः (हृश्याभ्यामितन्। उ०

२, १० )'—इति हरितः। हरन्ति जहति वा यासु स्थितार्थोगादयो धनादिकम्। 'हरन्त्याभिः'—इति क्षीरस्वामी। "पवमानो हरित आ विवेश ( ऋ० सं० ६, ७, ८, ३ )"—इति निगमः॥ 'वायुर्वै दिशो हरित आविष्ट'—इत्युपनिषत् ( ऐ० आ० २, १ )॥

इत्यष्टौ दिङ्नामानि॥ ६॥

श्यावी (१)। क्षपा (२)। शर्वरी (३)। अक्तुः (४)। ऊर्म्या (५)। राम्या (६)। यम्या (७)। नम्या (८)। दोषा (९)। नक्ता (१०)। तमः (११)। रजः (१२)। असिक्नी (१३)। पयस्वती (१४)। तमस्वती (१५)। घृताची (१६)। शिरिणा (१७)। मोकी (१८) शोकी (१९)। ऊधः (२०)। पयः (२१)। हिमा (२२)। वस्वी (२३)। इति त्रयोविंशती रात्रिनामानि ॥ ७ ॥

(१) श्यावी। 'श्यैङ् गतौ (भ्वा० आ०)'। [illegible] वन् (उ० १, १५४)' इति निर्वचनात् [illegible] [illegible] भवति। [illegible] [illegible] [illegible]। श्यावो धूम्रवर्णो वर्णः, अतः [illegible] [illegible] इति श्यावी, 'अन्धो

ङीप् (४, १, ४०)। "श्यावी च यदरुषी च स्वसारौ (ऋ० सं० ३, ३, ३०, १)"—इति निगमः॥

(२) क्षपा। 'क्षप्यते सूर्यसंचारेण क्षपा'—इति क्षीरस्वामी। 'क्षप प्रेरणे,' 'क्षपि क्षान्त्याम्'—इति कथादिषु पठितोऽपि बहुलमेतन्निदर्शनमित्यस्योदाहरणत्वेन धातुवृत्तौ पठ्यते। 'क्षपेः क्षपयन्ति क्षान्त्यां प्रेरणे क्षपयेत्'—इति दैवम्। 'क्षपा क्षपयतेर्निशा'—इति च माधवः। क्षपा-शब्दोऽन्तोदात्तो रात्रिनाम, आद्युदात्तस्तु क्षपणवचनः। "नृणां नर्यो नृतमः क्षपावान् (ऋ० सं० ७, ७, २२, १)"—इतिनिगमः। "त्वमिदसि क्षपावान् (ऋ० सं० ६, ५, ११, २)"—इति क्षपणवचनः॥

(३) शर्वरी। 'शॄ हिंसायाम् (क्र्या० प०)'। 'कॄगॄशॄवृ-चतिभ्यः ष्वरच् (उ० २, ११४)'। टित्त्वात् (४, १, १५) ङीप्। शृणाति चेष्टाम्, रात्रौ हि स्वस्वव्यापारेभ्यः उपरमन्ते प्राणिनः, शीर्यन्ते वाऽस्यां प्राणिनो गतश्रीः। "अभि ष्यन्दन्ति शर्वरीः (ऋ० सं० ५, ३, ८, ३)"—इति निगमः॥

(४) अक्तुः। 'अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु (रु० प०)'। 'पः किच्च (उ० १, ६८)'—इति विधीयमानः तुप्रत्ययः किच्चात्र बाहुल्काद् भवति। 'पाञ्चनूभ्यः क्तुः'—इति कुरिति धातो-रादेशः। 'अनिदिताम् (६, ४, २४)'—इति नलोपः। अज्यते म्रक्ष्यतेऽन्धामयत्वेन जगत्, गच्छति वा प्रतिदिनम् अक्तुः। "पिरानक्तोरसः पुर्याहनी (ऋ० सं० ५, ४, ६, २)"—इति निगमः॥

(५) ऊर्म्या। 'ऊर्णुञ् आच्छादने (अदा० उ०)'। 'ऊर्णोतिर्णलो-
प (उ० १, २१)'—इति मिप्रत्ययः—इति केचित्। 'अर्त्तेरूच्च
० ४, ४४)'—इति मि-प्रत्ययः—इतिकमलनयनः। ऊर्मिः तमः-
ान्, आच्छादकत्वात् लोकस्य। 'तमर्हति (५, १, ६३)'
दसि च (५, १, ६७)'—इति यत् प्रत्ययः। "इन्द्राय नक्त-
र्याः सुधाय्यः (ऋ० सं० ६, ६, ३२, १)"—इति निगमः॥

(६) राम्या। 'रमु क्रीड़ायाम् (भू० आ०)'। अन्तर्णीतण्यर्थात्
ार्थविशिष्टादस्मात् 'कृत्यल्युटो बहुलम् (३, ३, ११३)'—इति
लवचनात् 'पोरदुपधात् (३, १, ९८)'—इति यतं बाधित्वा
हलोर्ण्यत् (३, १, १२४)' भवति, 'अचोञ्णिति (७, २, ११५)'
ति वृद्धिः। प्ररमयतिभूतानि नक्तञ्चराणि, उपरमयति
ाचराणि स्वव्यापारेभ्यः। भावयन्तु सर्वभूतानि रमयति।
ाव कौशीतकिः –'ये वै के चानन्दा यश्चे पाने मिथुने राम्या
ते सन्तता अविच्छिन्नाः क्रियन्ते, तेषां रात्रिः कारोनरः'
ति। 'अघोरामः सावित्रः (य० वा० सं० २१, ५८)"—इत्यत्र
तः कृष्णोदरः'—इति भाष्यम्। 'रामश्चारौ सितेऽसिते'—इति
तयन्ती। तस्माद्रामशब्दः कृष्णपर्यायः। स्वाश्रये रमते रामः
लिनि कसन्तेभ्यो णः (३, १, १४०)'। 'तदर्हति (५, १, ६३)',
इसि च (५, १, ६७)'—इति यत्। 'अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च
ऋ० सं० ४, ५, ११, १)' —इति श्रुतिः। यद्वा, रमणं रामः।
घञ् (३, ३, १८)। स्त्रीभिः सह क्रीड़ा रामः। 'तत्र साधुः
४, ९८)'—इति यत्। "सद्यान उषसो राम्या अनु (ऋ० सं०

२, ५, २१, ३)"—इति "भाग्निर्नेता भग्नोद्राम्नामाम् (ऋ० सं० ३, २, १५, ३)"—इति च निगमौ ॥।

(७) यम्या। 'यम उपरमे (भू० प०)'। अघ्न्यादयश्च (उ० ४, १०८)—इति यक्प्रत्ययान्तो निपात्यते। उपरमयन्ति प्राणिनो येषाः। अथवा 'गदमदचरयमश्चानुपसर्गे (३, १, १००)'—इति यत् कर्तरि बाहुलकेन। यद्वा, यमनीया उपरमयितव्या आदित्य-धारैणेति कथमानो यत् निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(८) गम्या। (९) दोषा। (१०) नक्ता। (११) तमः। (१२) रजः। (१३) असिक्नी ॥

(१४) पयस्वती। पयोऽस्या अस्तीति। 'अस्मायामेधास्रजो विनिः (५, २, १२१)'। 'बहुलं छन्दसि (५, २, १२२)'—इत्युक्ते मतुपि परधे च 'उगितश्च (४, १, ६)'—इति ङीप्। 'तसौ मत्वर्थे (१, ४, १९)'—इति भसञ्ज्ञाविधानात् रुत्वं न भवति। निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१५) तमस्वती। ताम्यन्त्यनेनेति (दि० प०) तमोऽन्धकारं तेन तद्वती। पूर्ववत् प्रकृत्या। निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१६) घृताची। 'घृ क्षरणदीप्त्योः (चु० प०)' 'घृ घृ सेचने (भू० प०)'। 'अञ्जिघृसिभ्यः क्तः (उ० ३, ८९)'—सेचयत्यनेन भूमिं पर्जन्यः, क्षरति मेघात् दीप्तं वा स्वेन तेजसा देवतात्वादिति घृतमत्रावश्यायलक्षणं जलम्, तदञ्चति। ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चु युजिक्रुञ्चां च (३, २, ५९)'— इति अञ्चेर्गत्यर्थात् (भू० प०) क्विनि 'अनिदिताम् (६, ४, २४)"—इति नलोपे, 'अचः

(६, ४, १३८)'—इत्यकारलोपे, चौ (६, ३, १३८)'—इति दीर्घे, 'अञ्चतेश्चोपसङ्ख्यानम् (४, १, ६ वा०)'—इति ङीप्, घृताचीति। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(१७) शिरिणा। शीङ् (अदा० आ०) अन्तर्णीतण्यर्थात् 'बहुलमन्यत्रापि (उ० २, ४६)'—इति इनच्प्रत्यये रुगागमो धातो-र्ह्रस्वश्च। शाययति प्राणिनः शिरिणा। शाययेन्निरीति माधवः। "शिरिणायां चिदक्तुनामहोभिः (ऋ० सं० २, ६, २, २)"—इति निगमः॥

(१८) मोकी। 'मुच्लृ मोक्षणे (तु० उ०)'। 'इन् सर्व-धातुभ्यः (उ० ४, ११४)',—इति इनि बाहुलकात् कुत्वम्। 'कृदिकारादक्तिनः (४, १, ४५ वा०)'—इति ङीष्। मुञ्चत्यस्याम-यस्यार्थं मध्यमः, मुञ्चन्ति प्राणिनः स्वस्वव्यापारात् मोक्। तदस्यामस्तीति 'छन्दसीवनिपौ च (५, २, १२२ वा०)',—इति मत्वर्थीय ईकारप्रत्ययः, व्यत्ययेन (३, १, ८५) हल्ङ्यादिलोपः (६, १, ६८)। "अनुमतं सवितुर्मोक्यागात् (ऋ० सं० २,८, २,३)" —इति निगमः॥

(१९) शोकी। 'शुच् शोके (भू० प०)', ज्वलतिकर्मा (निघ० १, १७) वा। पूर्ववत् प्रक्रिया। शोचन्त्यस्यां विरहिणः, शोकस्तेजोऽस्या अस्तीति वा, 'अग्निना वै तेजसा रात्रिस्तेज-स्वती'—इति ब्राह्मणम्। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(२०) ऊधः। रात्रिनाम-निर्वचनार्थंप्रसिद्धं तावदुच्यते।

भवति। यद्वा, उपोन्नद्धमुपरि सूष्ममूर्ध्वमिव केनचित्। तत् स्नेहं रसानुप्रदानसामान्याद् रात्रिरप्यूध उच्यते। यद्वा, 'उन्दी क्लेदने (रु० प०)'। असुनि (उ० ४, १८४), बाहुलकान्नलोपे दकारस्य धत्वे दीर्घे च रूपम्। उनत्त्यवश्यायेन भूतानि। उनत्त्यूधः'—इति क्षीरस्वामी। "यो अस्मै घ्रंस उत वा य ऊधनि (ऋ० सं० ४, २, ३,३)"—"ऊधर्न नग्ना अरन्ते (ऋ० सं० ५, ७, ११, १२)"—इति च निगमौ। ऊधनीत्यत्र छान्दसत्वादनङ् (५, ४, १३१,—१४२)॥

(२१) पयः। व्याख्यातं पयस्वतीत्यत्र, मत्वर्थीयस्य लुक्। निगमोऽप्यन्वेषणीयः॥

(२२) हिमा। 'हन्तेर्हि च (उ० १, १४४)'—इति मक्प्रत्ययो हिरादेशश्च। हन्ति (अदा० प०) पद्मानीति हिमम्, अर्शआदित्यादच् (५, २, १२७)। "शं भानुना शं हिमा शं घृणेन (ऋ० सं० ७, ८, १३, ॥)"—इति निगमः।

(२३) वस्वी। 'वस आच्छादने (अदा० आ०)'। 'भृमृशीङ्तॄचरित्सरितनिधनिमिमस्जिभ्य उः (उ० १, १०)'—इति उ-प्रत्ययः। वस्ते आच्छादयते लोकमिति भयस्थायस्तमो वा, तद्युक्ता वस्तुः। 'छन्दसीवनिपौ च (५, २, १२२ वा०)'—इति ईकारः 'वृषादीनां च (६, १, २०३)'—इत्याद्युदात्तत्वम्। यद्वा, प्रशस्यवचनाद् वसुशब्दात् 'वोतो गुणवचनात्(४, १,४४)'—इति ङीप्, सर्वगुणरमणत्वाद्रात्र्याः प्राशस्त्यम्। निगमोऽन्वेषणीयः॥

इति त्रयोविंशती रात्रिनामानि ॥ ७ ॥

विभावरी (१)। सूनरी (२)। भास्वती (३)। ओदती (४)। चित्रामघा (५)। अर्जुनी (६)। वाजिनी (७)। वाजिनीवती (८)। सुम्नावरी (९)। अहना (१०)। द्योतना (११)। श्वेत्या (१२)। अरुषी (१३)। सूनृता (१४)। सूनृतावती। (१५)। सूनृतावरी (१६)। इति षोडशोषोनामानि॥ ८॥

(१) विभावरी। 'भा दीप्तौ (अदा० प०)' विपूर्वः। 'आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च (३, २, ७४)'—इति वनिप्। 'वनो र च (४, १, ७)'—इति ङीब्रेफौ। विशेषेण भाति दृश्यते आदित्यकिरणसम्बन्धात्। "भावसुरी विभावरि (ऋ० सं० ३, ८, ३, ६)" —इति निगमः॥

(२) सूनरी। शोभना नरा अस्यां सन्ति, मत्वर्थीय ईकारः, छान्दसेन टाबादिलोपः। अथवा बहुव्रीहिः, पिप्पल्यादेराकृतिगणत्वादीकारः। नराणां प्रसन्नचित्तत्वेन धर्मादिविशिष्टतया तदानीं शोभनत्वम्। तथाच महाकविः—'प्रधिमाद्धार्मिकाणाम् प्रसादमिव चेतना'—इति। यद्वा, सूनरी शोभनं नयति कालम्। 'नृ नये (क्र्या० प०)' सुपूर्वात् 'अच इः (उ० ४, १३४)' 'कृदिकारादक्तिनः (४, १, ४५ वा०)'—इति

माघयः। 'अन्येषामपि दृश्यते ( ६, ३, १३७ )'—इति दीर्घः। व्यत्ययेनावधारणाभावगुणने। "ज्योतिष्कृणोति सूनरी (ऋ० सं० ५, ६, १, १)"—इति निगमः॥

(३) भास्वती। 'भासृ दीप्तौ ( भ्वा० आ० ),' क्विप्। भासत इति भासः प्रकाशः। भासा, सहती भास्वती 'तसौ मत्वर्थे ( १, ४, १९ )'—इति भ-सञ्ज्ञया पदकार्य्यं रुत्वं न भवति भास्वती। "भास्वती नेत्री सूनृतानाम् (ऋ० सं० १, ८, १, ४)"—इति निगमः॥

(४) ओदती। 'उन्दी क्लेदने ( रु० प० )'। उन्देर्लटः शतरि 'छन्दस्युभयथा ( ३, ४, ११७ )'—इति शतुरार्द्धधातुकत्वेन विकरणाभावः सार्वधातुकत्वात् 'सार्वधातुकमपित् ( १, २, ४ )'—इतिङिद्वद्भावात् 'अनिदिताम् ( ६, ४, २४ )'—इति न-लोपः, व्यत्ययेन गुणः 'उगितश्च ( ४, १, ६ )'—इति ङीप्। उनश्यवश्यायेन ओदती। "पदं न वेत्योदती ( १, ४ ४, १ )"—इति निगमः॥

(५) चित्रामघा। 'चिञ् चयने (स्वा० उ०)'। 'अमिचिमिमिदिशंसिभ्यः क्त्रः (उ० ४, १५६)'—इति क्त्र-प्रत्ययः, चित्रम्। मंहतिर्दानकर्मा ( निघ० ३, २० ), घञर्थे कविधानमित्यत्र परिगणनस्योपलक्षणार्थत्वात् कप्रत्यये 'अनिदिताम् ( ६, ४, २४ )'—इति न-लोपः, पृषोदरादित्वात् ( ६, ३, १०९ ) घत्वम्। महते दीयतेऽथिभ्यः इति मघं घनम् चित्रमाश्चर्य्यकृतं धनं यस्या इति चित्रामघा, 'अन्येषामपि दृश्यते (६, ३, १३७)'—इति दीर्घः। "उषर्निती

सूर्यस्य योषा चित्रामघा (ऋ० सं० ५, ५, २२, ५)"—इति
मः ॥

(६) अर्जुनी। 'अर्ज सर्ज अर्जने (चु० प०)'। अर्जेर्णिलुकि उन-
यथः (उ० ३, ५८), अर्जेति। यद्वा, 'अर्ज गतिस्थानार्जनेषु (भू०
'। बाहुलकादुनन्। गम्यते तदर्थिभिः तिष्ठति स्वाश्रये। अर्जु-
ति रूपनाम (निघ० ३, ७), तथाऽऽदित्यरश्मिसम्बन्धात् श्वे-
अर्जुनी श्वेता, 'अन्यतो ङीप् (४, १, ४०)', यद्वा, अर्जुन्यो
: ता अस्याः सन्ति वाहनत्वेन मत्वर्थीय ईकारः, व्यत्ययेन
त्यादिलोपः। "या गोमतीरुषसः सर्ववीरा (ऋ० सं० १,
, ३)"—इति श्रुतिः। "द्विपच्चतुष्पदर्जुनि (ऋ० सं० १, ४,
)"—इति निगमः ॥

(७) वाजिनी। वाज इत्यन्ननाम (निघ० २, ७), वाजो
र्भक्षणमन्नमस्या अस्ति, 'अत इनिठनौ (५, २, ११५)'—
भ्यो ङीप् (४, १, ५)'। यजमानेभ्यो यानि देयान्यन्नानि
दुषती या। "वाजयन्निन्द्र चेतथः सुतानां वाजिनीवसू
सं० १, १, ३, ५)"—इति निगमः ॥

(८) वाजिनीवती। वाजो बलं वेगो वा तेन तद्वती वाजिनी,
णि उषसः स्वभूता तेन तद्वती वाजिनीवती। यद्वा, वाजो
र्जैरणम् अन्नाधम्या अस्तीति वाजिनी यागसन्ततिः, तद्वती
नीवती। यद्वा, वाजमन्नं तद्वती वा वाजिनी, कासौ
ाचभूतेनान्नेन तद्वती अत्र संहतिः, तया अन्नसंहत्या तद्वती
नीवती। यद्वा, द्वावेतौ मत्वर्थीयौ तयोरेकार्थेणातिशयेम-

स्पर्धीयः अतिशयेनासवर्तास्पर्धः 'वाजिनीवतीभिरया हि सर्वैस्तं लभन्ते'—इति माधवः। 'राम्नायाम् (८, २, ११)'—इति वा 'छन्दसीरः (८, २, १५),—इति वा मतुपो वत्वम्। "व्यश्वेभ्यः सुभगे वाजिनीवति (ऋ० सं० ६, २, २२, ३)"—"अश्वावती वाजिनीवति (ऋ० सं० ३, ८, ७, ४)" इति निगमौ॥

(९) सुम्नावरी। सुपूर्वान् 'म्ना माने (अदा० प०)'—इत्यस्मात् 'उपसर्गे च सञ्ज्ञायाम् (३, २, ९९)'—इति जनेर्विधीयमानो डप्रत्ययो बाहुलकाद् भवति। सुष्ठु आम्नायते अभ्यस्यते इति सुम्नं सुखं, तद्धि सर्वैः सर्वदा ममेदं भूयादित्यभ्यासेन प्रार्थ्यते। तथाच—'सुखं सुम्नातेः, प्रजा वै पशवः सुम्नम्,—इति माधवः। तदस्या अस्ति। 'छन्दसीवनिपौ च (५, २, १२२ वा०)'—'वनो र च (४, १, ७)'—इति ङीप्रौ, 'अन्येषामपि दृश्यते (६, ३, १३७)'—इति दीर्घः। 'सुम्नावतीत्यर्थः। "सुम्नावरी सूनृता ईरयन्ती (ऋ० सं० १, ८, ३, २)"—इति निगमः।

(१०) अहना। 'अहि गतौ,' भ्वादिरात्मनेपदी, 'अह व्याप्तौ,' स्वादिः परस्मैपदी। 'युच् बहुलम् (उ० २,७४)'—इति युच्प्रत्ययः बाहुलकात् पूर्वत्र नकारलोपः। अहन्तेगच्छत्याकाशे प्रतिदिनं स्वयं गच्छतीति वा। व्याप्नोति स्वभासा लोकं व्याप्यते वादित्यरश्मिभिः। "गृहं गृहमहना यात्यच्छा (ऋ० सं० २, १, ४, ४)"—इति निगमः॥

(११) द्योतना। ण्यन्तात् 'द्युत दीप्तौ (भ्वा० आ०)'—इत्यस्मात् 'ण्यासश्रन्थो युच् (३, ३, १०७)'—इति बाहुलकात् कर्त्तरि युच्

'णेरनिटि (६, ४, ५१)'—इति णिलोपः। द्योतयति सर्वान् पदार्थान् प्रकाशकत्वात्। यद्वा, केवलात् 'अनुदात्तेतश्च हलादेः (३, ३, १४१)'—इति युच्। द्योतते स्वयं द्योतना। "सिषासन्ती द्योतना शश्वदागात् (ऋ० सं० २, १, ४,४)"—इति निगमः।

(१२) श्येत्या। 'श्विता वर्णे (भू० आ०)'। अघ्यादित्वात (उ० ४, १०८) यक्, ह्रस्वश्च। श्वेतते श्येत्या। 'श्विता वर्णे' इति वर्णसामान्यं सामर्थ्यात् शुक्लवर्णेऽपि शैवे पर्यवसितं द्रष्टव्यम् उषसि तथा दर्शनात्। "स्थाहत्सा रुशती श्वेत्यागात् (ऋ० सं० १, ८, १, २)"—इति निगमः॥

(१३) अरुषी। 'ऋ सृ गतौ' जुहोत्यादिः (प०), 'ऋ गतिप्रापणयोः' भूवादिः (प०)। 'ऋतन्हिभ्यामुषन् (उ० ४, ७४)', पिप्पल्यादेराकृतिगणत्वान्ङीकारः। इयर्ति गच्छति यातित्यौदये-नान्तं प्रतिदिनम् प्रापयति वा स्तोतॄन् ऐश्वर्यादि। यद्वा, आङ्पूर्वात् 'रुच दीप्तौ (भू० आ०)'—इत्यस्मात् बाहुलकात् डुषच्, टिलोपः, आङो ह्रस्वश्च, आरोचते अरुषी। यद्वा, अरुषमिति रूपनाम (निघ० ३, ७), सामर्थ्यादत्र शुक्लविषयम्, शुक्लवर्णा अरुषी। 'अन्यतो ङीष् (४, १, ४०)'। "आवे ■ चित्रारुषी (ऋ० सं० ३, ८, ३, २)"—इति च निगमः॥

(१४) सूनृता। (१५) सूनृतावती। (१६) सूनृतावरी। सुष्ठु ऊन्यते अप्रियैरिति सून्। सुपूर्वात् 'ऊन परिहाने (दि० आ०)'—इत्यस्मात् क्विप्। ऋतमिति सत्यनाम (निघ० ४, १६)। सूंश्च तदृतञ्च सूनृतम्, पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०९) नलोपा-

भाषः। प्रियश्च सत्यश्च। पूर्वं मत्वर्थीयोऽकारः, उत्तरत्र मतुप्। 'अन्यत्र छन्दसि विनिर्णी च (५, २, १२२ वा०)'—इति वनिप्, मत्वौ प्रत्ययौ, 'अन्येषामपि दृश्यते (६, ३, १३७)'—इति दीर्घः। यद्वा, प्रियसत्यरूपा वाचः सूनृता उच्यन्ते। "सुप्रावरी सूनृता ईरयन्ती (ऋ० सं० १, ८, ३, २)"—"उदीरय प्रति मा सूनृता उषः (ऋ० सं० १, ४, ३, २)"—इत्यादिदर्शनात् तद्वत्यः सूनृतावत्यः। दीर्घो नापेक्षणीयः। यद्वा सूनृतेत्यन्ननामसु (निघ० २, ७) पाठादन्नम्। सूनृता धननाम साधयपक्षेण अन्नवत्यो धनवत्यो वा सूनृतावत्यः। "रेवमस्तोत्रे सूनृते जारयन्ती (ऋ० सं० २, १, ८, ५)"—"रेवदस्मे व्युच्छ सूनृतावति (ऋ० सं० १, ६, २६, ४)"—"चिकित्वित् सूनृतावरि (ऋ० सं० ३, ८, ३, ४)"—इति च निगमाः क्रमेण॥

इति षोडशोषोनामानि॥ ८॥

वस्तोः (१)। द्यौः (२)। भानुः (३)। वासरम् (४)। स्वसराणि (५)। घ्रंसः (६)। घर्मः (७)। घृणः (८) दिनम् (९)। दिवा (१०)। दिवेदिवे (११)। द्यविद्यवि (१२) इति द्वादशाहर्नामानि॥ ९॥

(१) वस्तोः। अत्र स्कन्दस्वामी—'वस्तोरित्यूष्मेणेदं नाम, न विभक्त्यन्तरम्, "दोषावस्तोर्वहिष्मती घृताची (ऋ०

सं० ५, १, २४, १)"—दोषावस्तोर्वर्हीयसः प्रपित्वे (ऋ० सं० १, ७, १८, १)"—इति समस्तस्यापि दर्शनात्। वस्ते ज्योतिरिति वस्तोः, द्युयोतत इति द्यौः। एवं सर्वत्र'—इति। वस्ते (अदा० आ०) आच्छादयतीति ज्योतिः। व्यत्ययेन कर्तरि तोसुन् (३, ४, १३)। "कुह स्विद्दोषा कुह वस्तोरश्विना (ऋ० सं० ७, ८, १८, २)"—इति निगमः। कुह क्वेति सप्तमीसामानाधिकरण्यात् दोषावस्तोरित्यपि सप्तम्या एवाव्यय-लुगध्यवसितः॥

(२) द्यौः। 'द्युत दीप्तौ (भ्रू० आ०)', बाहुलकात् डोप्रत्ययः (उ० २, ६४)। द्योतते किरणसम्बन्धात्। यद्वा, 'द्यु अभिगमने (अदा० प०)', 'द्युगमिभ्यां डोः'—इति श्रीभोजदेवः। अभिगच्छन्त्यस्मिन् स्वं स्वमभिमतप्रदेशं प्राणिनः। 'गोतोणित् (७, १, ९०)'—इति वृद्धिः। "मध्व आरोधने दिवः (१, ७, २२, १)"—इति निगमः॥ केचित् द्युरिति पठन्ति। तदा 'दिव'—इत्यधिकारे 'द्युद्रुभ्यां म'—इति भोजसूत्रेण उप्रत्ययः। 'द्यु अभिगमने (अदा० प०)' द्युनेरेव वा 'अहःघादयश्च (उ० ५, ३०)'—इति डुन्-प्रत्ययान्तो निपातितो द्रष्टव्यः। उभयत्र पूर्वोक्त एवार्थः। "द्युभिरक्तुभिः परिपातमस्मान् (ऋ० सं० १, ७, ३३, ५)"—"त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणि (ऋ० सं० २, ५, १७, १)"—इति निगमौ॥

(३) भानुः। 'भा दीप्तौ (अदा० प०)', 'भादाभ्यां नुः (उ० ३, ३१)। भात्यादित्याधिकरणतत्कन्यादेव। "उद्ध्या उपसो

भानुरत्नं ( ऋ० सं० ३, ४, १०, २ )" इति निगमः। र्व
भानुरिति माधवोक्तमहमंधिनुमर्हति ॥

(४) वासरम्। 'वस निवासे ( भू० प० )', णिजन्तः शु
ऽपि विपूर्वस्त्यागे वर्त्तते। 'अर्त्तिकमिभ्रमिदिविचमिवासि
छिम् ( उ० ३, १२८ )'—इत्यरच् प्रत्ययः। विवासयति अप
नयति शीतादिकम्। यद्वा, वसेः स्वार्थे णिचि अधिकरणेऽच्
वसत्यस्मिन् सुखेनेति वासरम्। यद्वा, 'वास्र दीप्तौ (दि० आ०
पूर्वस्मादेव सूत्रादरच् दीप्यते वासरम्। यद्वा, विपूर्वा
सर्त्तेर्गत्यर्थात् पचाद्यचि वीत्यस्यैकारस्याकारः पृषोदरादित्वात्
विविधं सराणि सृतानि विस्तीर्णानीत्यर्थः। 'वासराणि वेसराणि
(निरु० ४, ७)'—इति भाष्ये स्कन्दस्वामी—'वेसरशब्दस्यायमेकार-
स्याकारः। सादृश्येन चात्र वर्त्तते। यथा वेसरो निष्पादकगताभ्यां
विरुद्धाभ्यां जातिभ्यामश्वत्वजात्या गर्दभत्वजात्या सम्पन्नः।
एवं यावत् द्वौ निष्पादकौ पूर्वभागापरभागौ तद्गताभ्यां
विरुद्धाभ्यां शीतोष्णाभ्यां पूर्वभागगतेन शीतेनापरभागगतेन
चोष्णेन सम्बन्धाद् वेसरसदृशत्वाद् वासरम्'—इति। "अहानीव
सूर्य्यो वासराणि ( ऋ० सं० ६, ४, १२, २ )"। अहानीत्यनेन
पौनरुक्त्यादन्योऽपि निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(५) स्वसराणि। स्वशब्दे उपपदे सर्त्तेर्गत्यर्थात् (भू० प०)
पचाद्यच् ( ३, १, १३४ )। स्वेन आत्मनैव गच्छन्ति। अपि
, स्वरित्यादित्यनाम ( निरु० २, १४ )। सर्त्तेः 'पुंसि सञ्ज्ञायां
: प्रायेण ( ३, ३, ११८ )'। अन्तर्णीतण्यर्थश्चात्र सर्त्तिः।

स्वरित्येतस्य रेफलोपः पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०९)। आदित्येन सार्य्यते। ▪ हि स्वोदयास्तमयाभ्यां तानि गमयति। यद्वा, सुपूर्वान् 'असु क्षेपणे (दि० प०)'—इत्यस्मात् इन्द्रादित्वादृत्(उ० ५, ४२) प्रत्ययः। सुष्ठु अस्यन्ते क्षिप्यन्ते सूर्येण स्वोदयास्तमयाभ्याम्, तथाच 'स्वसर इहेत्युपरुद्धात्'—इति माधवः "उस्रा इव स्वसराणि (ऋ० सं० १, १, ६, २)"—इति निगमः॥

(६) घ्रंस। 'ग्रह उपादाने (क्र्या० उ०)' अस्मात् घञि पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०९) गकारस्य घकारो नुमागमः हकारस्य सकारः। गृह्यन्तेऽस्मिन् रसा अवश्यायादित्येन। "यो अस्मै घ्रंस उत वा य ऊधनि (ऋ० सं० ४, २, ३, ३)"—इति निगमः॥

(७) घर्मः। 'घृ क्षरणदीप्त्योः (जु० प०)', 'घर्मः (उ० १, १४६)'—इति मकप्रत्ययान्तो निपातः। जिघर्त्ति दीप्यते रश्मिसम्बन्धात्। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(८) घृणः। जिघर्त्तेः (जु० प०) 'इणूसिञ्जिदीङुष्यविभ्यो नक् (उ० ३, २)'—इतीणादिभ्यो विधीयमानो नक्प्रत्ययो बाहुलकाद् भवति। पूर्ववदर्थः। "घृणा वयोऽरुषासः परिग्मन् (ऋ० सं० ३, ७, ११, ६)"—इति निगमः॥

(९) दिनम्। 'दो अवखण्डने (दि० प०)', पूर्ववदौणादिके नक्प्रत्यये बाहुलकात् (उ० २, ४६), 'द्यतिस्यतिमास्थाम् (७, ४, ४०)'—इतीत्वम्। द्यतितमः दिनम्। "अधो सरिभ्यः। सुदिना व्युच्छान् (ऋ० सं० ५, २, २८, १)"—इति निगमः॥

(१०) दिवा। द्योनाम। अव्ययमिदम्। "दिवा मि स्येऽस्याणामिष्टा (ऋ० सं० ४, ४, १७, २)"—"दिवा नक्तं मघा शासमेन (ऋ० सं० ४, ४, १७, ३)"—इति निगमौ ॥

(११) दिवेदिवे। 'दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युति स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु (दि० प०)'। 'दिवेर्डिविः'- इत्यधिकरणे डिविप्रत्ययः। दिव्यन्तेऽस्मिन्निति दीः। दि शब्दात् परस्य सप्तम्या एकवचनस्य 'सुपां सुलुक् (७, १, ३९)'- इत्यादिना ङे आदेशः, प्रगृह्यत्वं (१, १, १२) तु व्यत्ययेना न भवति। चतुर्थी वा व्यत्ययेन। ततो वीप्सादिः (८, १, ४ दिवसे दिवसे इत्यर्थः। यथाश्रुतं पठितमिदं नाम। "उपत्वाग्ने दिवेदिवे (१, १, २, २)"—"दिवे दिवे वाममस्मभ्यं सावीः (ऋ सं० ५, १, १५, ६)"—इति च निगमौ ॥

(१२) द्यविद्यवि। द्योशब्दो व्याख्यातः (२)। सप्तम्येकवचनं वीप्सादि पूर्ववत्, "मित्रोमसि द्यविद्यवि (ऋ० सं० १, २, १६, १)"—इति निगमः ॥

इति द्वादशाहर्नामानि ॥ ९ ॥

आद्रिः (१)। ग्रावा (२)। गोत्रः (३)। वलः (४)। अश्नः (५)। पुरुभोजाः (६)। वलिशानः (७)। अश्मा (८)। पर्वतः (९)। गिरिः (१०)। व्रजः (११)। चरुः (१२)।

वराहः (१३)। शम्बरः (१४)। रौहिणः (१५)।
रैवतः (१६)। फलिगः (१७)। उपरः (१८)।
उपलः (१९)। चमसः (२०)। अहिः (२१)।
अभ्रम् (२२)। वलाहकः (२३)। मेघः (२४)।
दृतिः (२५)। ओदनः (२६)। वृषन्धिः (२७)।
वृत्रः (२८)। असुरः (२९)। कोशः (३०)।
इति त्रिंशन्मेघनामानि ॥ १० ॥

अा उपर उपल इत्येताभ्यां साधारणानि पर्वतनामभिः (निरु० २, २१)'—इत्युक्तेर्मेघनामत्वं पर्वतनामत्वं क्रमेण निरुच्य प्रदर्श्यते।

(१) अद्रिः। 'अद भक्षणे (अदा० प०)'। 'अदिशदिभूशुभिभ्यः क्रिन् (उ० ४ पा०)'—इति क्रिन्प्रत्ययः। अत्ति हि मेघो वर्षार्थमादित्यरश्मिभिराहृतान् भौमरसान्, अत्ति मेघैरभिवृष्टं जलम्, अद्यते वा प्राणिभिस्तत्प्रभवपदार्थभक्षणं तन्त्रोपपत्त्याम्, अदन्त्यस्मिन् पदार्थान् मनुष्या इति वा। यद्वा, आङ्पूर्वात् 'दृ विदारणे '(क्र्या० प०)'—इत्यस्मात् बाहुलकात् रिक्प्रत्ययः टिलोपश्च। 'अदरणीय इत्यद्रिः पर्वतः। "विजयुगा ययसुः सान्यद्रेः (१, ८, १६, १)"—इति मेघस्य निगमः। "नान्तरिक्षं नाद्रयः सोमो अक्षाः (ऋ० सं० ८, ४, १५, २)"—इति पर्वतस्य॥

(२) ग्रावाः। हन्तेः ( अदा० प० ) 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (३, २, ७५)'—इति कनिप्। पृषोदरादित्वात् ( ६, ३, १०९ ) धातोर्ग्रादेशः। हन्यते हि मेघ इन्द्रेण 'अहन्नहिम् (ऋ० सं० १, २, ३६, १)'—इति श्रूयते। हन्यतेऽनेन सोमः। यद्वा, 'गॄ निगरणे ( तु० प० )', गॄ शब्दे ( क्र्या० प० )', गृणातिस्तुतिकर्मा ( निरु० ३, ५ )', एभ्यः पूर्ववत् कनिपि अडागमः। दृशिग्रहणात् ( ३, २, ७५ ) सर्वं सिद्धम्। गिरत्युदकं वर्णितुम् अत्र गिरतिरुत्पूर्वस्यार्थे वर्तते, समुद्गिरति जलं वृष्टिसमये अमुद्गीर्णं इति वा अन्तरिक्षेण, गृणाति गर्जितलक्षणं शब्दं करोति स्तूयते वा वर्षार्थिभिरिति ग्रावा मेघः। पर्वतोऽपि इन्द्रेण हन्यते पक्षच्छेदसमये, गिरति मेघैरभिवृष्टं जलमुद्गिरति निर्झरजलम् समुद्गीर्णं इव वा गुहादिगतसिंहादिशब्देन, शब्दकारी, स्तूयते च पदार्थबाहुल्यात् प्राणिभिस्तदाश्रयिभिरिति ग्रावा। "इन्द्र ग्रावाणो अदितिः सजोषाः ( ऋ० सं० ४, १, २६, ४)"—इति मेघस्य निगमः। "ग्रावाणो अप दुच्छुनामप सेधत (ऋ० सं० ८, ८, ३३, २)"—ग्रावाण उपरेष्वा महीयन्ते ( ऋ० सं० ८, ८, ३३, ३)"—इति पर्वतस्य निगमौ॥

(३) गोत्रः। 'गुङ् अव्यक्ते शब्दे ( भ्वा० आ० )'। 'गुधृवीपचिवचियमि [ सदिक्षदिभ्यस्त्रः ] सदिक्षदिभ्यस्त्रः (उ० ४, १६२)'—इति त्रप्रत्ययः। मेघो गर्जितलक्षणमव्यक्ताक्षरं शब्दं करोति, स्तूयते शब्द्यते वा,—'अहो ! अयमतीवघर्मकाले वर्षार्थमागतः'—इति। यद्वा, गामुदकं रश्मिभिराहृतं वर्षाव्यतिरिक्तेषु त्रायते

पालयति। 'आतोऽनुपसर्गे कः (३, २, ३)'। शब्दादिषु हि मेघेषु घर्नाभूतास्तिष्ठन्त्यापः। गां पशुजातिं त्रायते या वृष्ट्वा पानीयप्रदानात्। पर्वतोऽपि निर्झरादिपतनजन्यमस्पष्टं शब्दं करोति, अभिवृष्टमुदकमुदकाधारेषु धारणात् रक्षति च गोत्रः सुपचलपचतया गोत्राः। "गोत्रा शिक्षन् दधीचे मातरिश्वने (ऋ० सं० ८, १, ५, २)"—"उद्गोत्राणि ससृजे दंसनावान् (ऋ० सं० ३, २, २५, ४)"—इति च मेघनिगमाः। "गोत्रभिदं गोविदं वज्रबाहुम् (ऋ० सं० ८, ५, २२, ६)"—इति पर्वतस्य ॥

(४) बलः। 'वृ आवरणे (स्वा० उ०)'। 'ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च (३, ३, ५८)'—इत्यप्। अपि लकादित्वात् लत्वम्। यद्वा, 'बल संवरणे (भू० आ०)'अस्मात् 'पुंसि सञ्ज्ञायां घः प्रायेण ३, ३, ११८)'—इति घः। व्रियतेऽनेन दिश आकाशश्च मेघः पर्वतेनापि स्वशरीरेण भूमिराकाशश्च संव्रियते। "अलातृणो बल इन्द्र व्रजो गोः (ऋ० सं० ३, २, २, ५)"—इति निगमो मेघस्य। "इन्द्रो बलं रक्षितारं दुघानाम् (ऋ० सं० ८, २, १५, ६)"—इति पर्वतस्य ॥

(५) अश्मः। 'अशू व्याप्तौ (स्वा० आ०)', 'अश भोजने (क्र्या० प०)', आभ्याम् 'इणसिञ्जिदीङुष्यविभ्यो नक् (उ० ३, २)'—इति विधीयमानो नक्प्रत्ययो बाहुलकाद् भवति, णत्वं च न भवति 'शात् (८, ४, ४४)'—इति प्रतिषेधात्। उभावपि व्याप्नुत आकाशमाश्रितश्चोदकम्, एको धर्षितव्यमपरो वृष्णम्। अशनेन चात्र तत्स्वत्वं लक्ष्यते। "अश्मापिनद्धं मधुपर्यं पश्यन्

(ऋ० सं० ८, २, १८, २ )"—इति मेघस्य। निगमोऽन्वेषणी-
यः ॥

(६) पुरुभोजाः। 'भुज पालनाभ्यवहारयोः ( रु० प० )'-
इत्यस्मात् 'विदिभुजिभ्यां विश्वे ( उ० ४, २३१ )'—इति विश्व
शब्दे उपपदे विहितोऽसुप्रत्ययः पुरुशब्देऽप्युपपदे बाहुलकात्
( ३, ३, १ ) भवति, पुरु बहु प्राणिजातं भुनक्ति पालयति
वृष्टिप्रदानेन मेघः, पर्वतो हि दुर्भिक्षादेरक्षति। 'समुद्रः पर्वतो
राजा इव दुर्भिक्षनाशकः'—इत्युक्तेः। पुरु अभ्यवहरति, साम-
र्थ्याज्जलमत्र विशेष्यम्, एको वर्षितव्यमपरो हि वृष्टमिति
विशेषः। बहुभिर्भुज्यते पाल्यते अभ्यवह्रियते वा। मेघस्य
त्विन्द्र आदित्यरश्मयश्च रक्षितारः, पर्वतस्य तत्तद्देशाधिपतयः।
मेघः स्ववृष्ट्युदकद्वारेण अभ्यवह्रियते। द्वयोरपि निगमायन्वे-
षणीयौ ॥

(७) वलिशानः। वल संवरणे ( भ्वा० आ० ),' औणादिकः
क्विप्। 'ईश ऐश्वर्ये' अदादिकः ( आ० )। लट् शानच्। संवृ-
ण्वन्नाकाशमीष्टे वर्षितुम्, पर्वतोऽपि स्वमोघेन भूमिमाकाशं
संवृण्वन्नीष्टे दुर्भिक्षादेर्मनुष्यादीन्रक्षितुम् वलीशान इति, लोकवे-
दनिघण्टौ दृष्टान्तात् पृषोदरादित्वात् ह्रस्वः। निगमावन्वेष-
णीयौ ॥

(८) अश्मा। 'अशू व्याप्तौ ( स्वा० आ० ),' 'अश भोजने
( क्र्या० प० )'। 'मन्श्विकिभ्यां छन्दसि ( उ० ४, १४४ )'—
इति मनिन्। अश्म इत्यनेन समानार्थः। "अपावृणोदुरो अश्म-

व्रजानाम् (ऋ० सं० ८, ७, २७, ६)"—इति मेघस्य निगमः।
"यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान (ऋ० सं० २, ६, ७, ३)"—इति
र्वतस्य। अत्र स्कन्दस्वामिना मेघत्वेन व्याख्यातम्॥

(६) पर्वतः। 'पॄ पालनपूरणयोः (क्र्या० प०)'। 'स्नाम-
देपद्यर्त्तिपृशकिभ्यो वनिप् (उ० ४, १०६)'। पृणन्ति पालयन्ति
रयन्ति पूर्यन्ते वा तेन इति पर्वाणि। यद्वा, प्रीणातेर्बाहुल-
कात् (३, ३, १) वनिपि ईकारस्याकारः स च पकारात् परः
णयन्ति स्वाश्रयमिति। पर्वाण्यवयवाः सन्त्यस्य 'पर्वमरुद्भ्यां
प् वक्तव्यः (५, २, १२२ वा०)'—इति मत्वर्थीयस्तप्प्रत्ययः।
घस्य पर्वतस्य च देवतात्मकस्य च विद्यमानत्वात् अवयविनि
क्तुं शक्यम्। यद्वा, परिदृश्यमानाकारेणापि मेघस्य धूमादि-
ङ्घातत्वात्, पर्वतस्य च शिलादिसङ्घातत्वादवयवित्वम्। यद्वा 'पर्व
रणे (भ्वा० प०)', अस्मात् 'भृमृदृशियजिपर्विपच्यमितमिनमिह-
र्यिभ्योऽतच् (उ० ३, १०७)'—इत्यतच्प्रत्ययः। पर्वेति पूरयति
णेण भूमिं स्वशरीरेणाकाशं वा पर्वतोऽपि निर्झरनदीप्रवाहादिना
मिं स्वोच्छ्रायाकाशञ्च पूरयति। "नि पर्वता अद्मसदो न सेदुः
ऋ० सं० ४, ७, २, ३)"—बल्हिथा पर्वतानाम् (ऋ० सं० ४,
, २६, १)"—इति मेघस्य निगमौ। "यदद्र्यः पर्वताः
ाकमायाव...(ऋ० सं० ८, ४, २१, १)"—"प्र पर्वतानामुशती
पस्थात्' (ऋ० सं० ३, २, १२, १)"—इति च पर्वतस्य॥

(१०) गिरिः। 'गॄ निगरणे (तु० प०)', अथवा 'गॄ शब्दे
क्र्या० प०)', गृणातिः स्तुतिकर्मा (निरु० ३, ५)। किरिति

वर्त्तमाने (उ० ४, १३७), 'कृगृशृपृकुटिभिदिछिदिभ्यश्च इः (उ० ४, १३८)'—इति इप्रत्ययः, 'ऋत इद्धातोः (७, १, १००)'—इत्वम्, गिरिः। ग्रावेत्यनेन समानार्थः। "निराविध्यद् गिरिभ्य आ धारयत्पक्वमोदनम्" ... भृं प्रिनं भ्राजते तुजा शवः (ऋ० सं० १, ४, २१, ३)"—इति पर्वतस्य। "मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः (ऋ० सं० २, २४, २)"—इत्युभयस्य॥

(११) व्रजः। व्रज गतौ (भू० प०)'। 'गोचरसञ्चरवहव्रजव्यजापण निगमाश्च (३, ३, ११९)'—इति निपातनात् घः करणाधिकरणयोस्तद्व्यतिरिक्ते कारकेऽपि घो भवति। व्रजत्यन्तरिक्षे व्रजत्यनेनेन्द्र इति वा व्रजो मेघः, मेघवाहनो हीन्द्रः पर्वतोऽपि पक्षच्छेदात् पूर्वमन्तरिक्षे व्रजति। अथवा स्वशरीरेण भूमिमन्तरिक्षञ्च व्रजति। व्रजन्ति तत्र प्राणिन इति वा। "अप व्रजमूर्णुथः सनात्यम् (ऋ० सं० ७, ८, १६, ३)"—इति मेघस्य निगमः। "व्रजं गोमन्तमुशिजो विवव्रुः (ऋ० सं० ३, ४, १४, १)"—इति पर्वतस्य॥

(१२) चरुः। 'चर गतिभक्षणयोः (भू० प०)'। 'भृमृशीतृचरित्सरितनिधनिमिमस्जिभ्य उः (उ० १, ७)'—इति उप्रत्ययः। चरन्ति गच्छन्त्यस्मादापो मेघात्वर्षाकाले, पर्वतान्निर्झररूपेणाः चरयन्ति जलं वर्षितृत्वमिति चरुर्मेघः, चरन्ति तत्र प्राणिनः, चर्यते भक्ष्यते स्वभ्रमयपदार्थरूपेणेति चरुः पर्वतः। "स मो वृषभमुं चरुम् (ऋ० सं० १, १, १५, १)"—इति मेघस्य निगमः। पर्वतस्याप्युदाहार्यः॥

(१३) वराहः। 'वृणोतेः (स्वा० प०)'। 'ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च (३, ३, ५८)'—इत्यकारः (अप्), वरशब्दे कर्मण्युपपदे आङ्पूर्वाद्धरतेः 'कर्मण्यण् (३, २, १)'। वरमुदकमाहरतीति वराहः। वर उदकलक्षणः आहारोऽस्येति वा वराहः (निरु० ५, ४) आङ्पूर्वाद्धरतेर्घञ्। 'वरमाहारमाहार्षीः'—इति ब्राह्मणम्। पृषोदरादित्वात् आहारशब्दस्याकाररेफयोर्लोपः यद्वा, वरशब्दे उपपदे हरतेराङ्पूर्वात् 'अन्येष्वपि दृश्यते (३, २, १०१)'—इति बाहुलकात् डप्रत्ययः। वराहाकारो वा कृष्णो मेघो वराहसादृश्येन वर्त्तते। वरमुत्कृष्टमुदकं वृहति उद्यच्छति वर्षितुम् 'वृह उद्यमने (तु० प०)'। हन्तेः पूर्ववत् डः। यद्वा वरशब्द उपपदे जुहोतेर्दानार्थात् डः। वरमुदकं ददाति आददं वा वर्षितुमिति वराहो मेघः, पर्वतोऽपि वरमुत्कृष्टं पदार्थमाहारयति प्राणिभिः, पदार्थानां सर्वत्र सौलभ्यादाहरयतीत्युच्यते वर आहारोऽस्येति वा। वराहवत् कृष्णवर्णो इति वा। ॥ मूलं वृहत्युद्यच्छत्यस्मादिति वा (निरु० ५, ४)। वरं वरमित्य त्रैकस्य वरशब्दस्य निवृत्तिः। वरशब्दात्तु वृहेश्च वराह इत्यर्थः। वरमुदकमाददाति आर्द्रीयते च तस्मात् पुरुषैर्वेदः पदार्थं उदकमेव वा। "विध्यद्वराहं तिरो अद्रिमस्ता (ऋ० सं० १, ४, २८, २)"—"वराहमिन्द्र एमुषम् (ऋ० सं० ६, ५, ३०, ५)"—इति च मेघस्य निगमौ। पर्वतस्यान्वेषणीयः॥

(१४) शम्बरः। 'शमु उपशमे (दि० प०)' अन्तर्णीतण्यर्थः। 'शमेर्बन् (उ० ४, ११)'—इति बन्प्रत्ययः। शमयति

शातयति, अतुणनिति शम्बरो घनः। यद्वा, शानं पांसुलत्वात् अनयत्यर्थे पृषोदरादित्वात् शम्बरोगः। शम्बोऽस्य प्रत्यं तेनास्ति। सं मत्वर्थीयः। प्रहरति हि घनः इन्द्रोऽपि मेघान् पर्वतानाञ्च पक्षच्छेदसमये। यद्वा, सम्पूर्वात् वृणोते ( स्वा० प० ) 'ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च ( ३, ३, ५८ )'—इत्यपि सम्वरः तत्र वर्णव्यत्ययेन शम्बरः। सं त्रियते मेघेनाकाशं, भूमिः पर्वतेन। यद्वा, शम्बरमित्युदकनाम ( निघ० १, १२) मत्वर्थीयस्य लुक्, उदकमस्यास्तीति वा, उभयत्रापि तुल्यम्। "उ तादृद्मंयुना शम्बराणि वि ( ऋ० सं० २, ७, १, २ )"— "अधूनोत् काष्ठा अव शम्बरं भेत् ( ऋ० सं० १, ४, २५, ६ )" -इति मेघस्य निगमौ। पर्वतस्यान्वेषणीयः॥

(१५) रौहिणम्। 'रुह बीजजन्मनि ( भू० प० )'। भावे घञ् ( ३, ३, १८ ) रोहः आरोहणम् आदित्यपक्ष्यादीनामस्त्यस्तीति। 'अत इनिठनौ ( ५, २, ११५ )', रोहि अन्तरिक्षम्। 'तत्र भवः ( ४, ३, ५३ )'—इत्यण्, 'इनण्यनपत्ये ( ६, ४, १६४ )' —इति प्रकृतिभावः रौहिणः। अन्तरिक्षेण हि गच्छति मेघः, पक्षच्छेदात् पूर्वं पर्वतश्चेति तत्र भव इति वक्तुं शक्यते। यद्वा, 'बहुलमन्यत्रापि ( उ० २, ४६ )'—इति इनच्प्रत्यये रोहिण इन्द्रः। 'तस्येदम् ( ४, ३, १२० )'—इत्यण् रौहिणः। आरोहति मेघमिन्द्रः स्ववाहनत्वात्, 'तुराषाण्मेघवाहनः ( अम० को० १, ४७ ),—इति तत्पर्यायेषु पठ्यते। अप्सरोभिः सह रिरंसया पर्वतेष्विन्द्रस्य गमनात् तदीयता। यद्वा, उभयत्रापि

छेद्यछेदकभावेन सम्बन्धः। तथाच चरकाध्वर्यूणां ब्राह्मणे इतिहासः श्रूयते—'प्रजापतेर्वा एतज्ज्येष्ठं तोकं यत्पर्वतास्ते पक्षिण आसन्, ते यत्र यत्र कामयन्ते तत्परा तमासत, इयं हि शिथिलासीत्, तेषामिन्द्रः पक्षानच्छिनत्, तैरिमां दृंहदेति'। "अहन्नहिमभिनद्रौहिणम् (ऋ० सं० १, ७, १६, २)"—"यो रौहिणमस्फुरद्वज्रबाहुः (ऋ० सं० २, ६, ६, २)"—इति निगमौ क्रमेण॥

(१६) रैवतः। रेवत्यो गावः 'पशवो वै रेवतीः'—इति श्रुतेः। 'तस्येदम् (४, ३, १२०)'—इत्यण्। मेघो हि सर्वत्र वर्षति पयसं पानीयं च जनयित्वा तदीयो भवति, पर्वतस्तद्वत्तया। यद्वा, रयिरस्यास्तीति मतुपि 'रयेर्मतौ बहुलम् (६, १, ३४ वा०)'—इति सम्प्रसारणम्, 'संज्ञायाम् (८, २, ११)'—इति वत्वम्, सर्वस्य धनस्येशितृत्वात् रेवान् इन्द्रः, मघवेति हि तस्य नाम, तदीयो रैवतः। पूर्ववत् तदीयत्वं द्रष्टव्यम्। निगमावन्वेषणीयौ॥

(१७) फलिगः। प्रतिफलति तम् फलम्। तदस्मिन्नस्तीति फलि स्वच्छमुदकं तद्गच्छत्याधारत्वेन मेघो वर्षिष्यमाणं पर्वतो हि धृतमिति विशेषः। डप्रकरणे 'अन्येष्वपि दृश्यते (३, २, १०१)'—इति गमेर्डप्रत्ययः, स्वच्छोदकपूर्ण इत्यर्थः। यद्वा, फलवत्-स्नानपानादिप्रयोजनवत् उदकं फलि, तद्गच्छतीति पूर्ववत्। माधवस्तु—'फलिर्भेदनकर्मापि भिन्दन् गच्छति फलसंयुक्तो गच्छतीति वा'—इति निरवोचत्। तस्यायमभिप्रायः प्रायेण मेघो हि वर्षासु ग्रीष्मजन्यं तापं भिन्दन् गच्छति, पर्वतोऽपि

स्वभारेण भूमिं भिन्दन्नधोगच्छति, भग्नकाले वा शतधा स्वयं भिद्यमानो गच्छति नाशम्। कृषिफलस्य मेघायत्तत्वात् फलसंयुक्तो गच्छति इत्युच्यते। तथाच कालिदासः—'त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविकारानभिज्ञैः'—इति मेघकाव्यम्। पर्वतोऽपि शस्याविरुद्धवृक्षादिफलसंयुक्तो गच्छति च। फलवत्यद्रावायाम्। फलेर्गमि गम्यादित्यादिन्, गमेः पूर्ववत् डः (३, २, १०१) इति वा। "वलं रुरोज फलिगं स्वेण (ऋ० मं० ३, ७, २६, ५)"—इति निगमः॥

(१८), (१९) उपरः, उपलः। 'आ उपर उपल इत्येताभ्यां साधारणानि पर्वतनामभिः (निरु० २, २१)'—इत्यादिभाष्यस्य स्कन्दस्वामिग्रन्थः—'आ उपर उपल इति, आङ् अभिविधौ मर्य्यादायामित्यन्ये, विना उपर उपल इत्येताभ्यां साधारणानीत्यर्थः। आ उपरादिति वक्तव्ये उभयोरुपादानं रलयोरविशेषत्वप्रदर्शनार्थम्। तयोश्चैकनिर्वचनत्वप्रदर्शनार्थमेकयोगपक्षत्वं चाङ्गीकृत्याह— 'उपर उपलो मेघो भवति ( निरु० २, २१ )' —इति। वक्ष्यमाणनिगमापेक्षया उपलशब्दस्य च पाषाणे प्रसिद्धत्वात् 'तेषामुपरः स्थविष्ठो मध्यमः'—इति सत्सङ्घातशब्दे पर्वत उपलशब्दवाच्यत्वेन प्रसिद्ध एवेति मेघग्रहणं कृतम्। मर्य्यादापक्षस्य च मेघग्रहणमेव लिङ्गमिति उत्तराणि मेघस्यैवेति। यदा पर्वतस्तदा उपेत्य रमन्ते ह्यस्मिन् अभ्राणीति, मेघपक्षे आप इति। अभिविधिपक्षे 'नेदं निर्वचनम्'—इति। जनेर्विधीय-
[illegible] डप्रत्ययः (३, २, ६७) बाहुलकाद्रमेर्भवति (३, ३, १),
[illegible] (६, २, १३९) बाधित्वा अव्ययपूर्वपदप्रकृ-

तिस्वरत्वम् (६, २, २)। 'उपरो जलवापनात्' – इति माधवः। वपेः कृदादित्वात् ( उ० ५, ४२ ) अरन् प्रत्ययः, सम्प्रसारणं च बाहुलकात्। 'उपरमिव हि नमस्यन्नं भूमौ पर्वतश्च'—इति माधवः। अत्र श्रीभोजः—'पृपिपटिदेविकेचिपचिचिम्य-श्चिन्'—इत्यलच्प्रत्ययः। व्युत्पत्यनवधारणाद्यावगृह्यते। मेघ-नामत्वे तत्र—"परामुपरा उदायन् ( ऋ० सं० ७, ७, १६, ३)" —इति निगमः। पर्वतानां वान्येपणीयः "हिरण्यनिर्णिगुपरा न ऋष्टिः ( ऋ० सं० २, ४, ५, ३ )"—इति। अत्र 'उपरा अस्माच्छिला दीर्घाः'—इति माधवः॥

(२०) चमसः। 'चमु अदने ( भू० प० ),' 'अत्यविचमि (उ० ३, ११३)'—इत्यादिना असच्॥

(२१) अहिः। 'इण् गतौ ( अदा० प० ),' 'इन् सार्वधातुभ्यः ( उ० ४, ११४ )'—इतीन्प्रत्ययः, गुणावादेशौ, यकारस्य हकारो व्यत्ययेन। पत्यन्तरिक्षे। अयतेरेव गत्यर्थादिन्प्रत्यये पूर्ववद् व्यत्ययः। यद्वा, 'अहि गतौ' भौवादिकः (आ०), इन्प्रत्ययः, बाहुलकान्नलोपः, आगमानित्यत्वाद्वा नुम् न क्रियते। इन्प्रत्ययाधिकारे श्रीभोजदेवः—'आहिकुण्डलिर्क पात्रलोपश्च'—इति। यद्वा, 'अहव्याप्तौ' स्वादिः (प०), इन्, अह्नोति व्याप्नोति आकाशं दिगन्तराणि वा। यद्वा, आङ्पूर्वाद्धन्तेः हिंसार्थाद् गत्यर्थाद्वा 'आङि श्रिहनिभ्यां ह्रस्वश्च ( उ० ४, १३३ )'—इति इण्प्रत्ययो डिच्च, आ समन्तात् हन्ति भिनत्ति उष्मामि-मुख्येन, हन्ति गच्छत्यन्तरिक्षम्। यद्वा, केवलादेव हन्तेर्बाहुल-

कारिण्प्रत्ययो डिच्च; अहिः हन्ता, नहन्ता अहन्ता; अहिः अहिंस्र इत्यर्थः; सर्वदा लोकस्य वर्षप्रदत्वात्। माघवेन तु—'त्वमपामपिधाना वृणोरप (ऋ० सं० १, ४, ६, ४)'—इत्यत्र वाजसनेये तु 'सोऽग्निषोमावभिसम्बभूव सर्वां विद्यां सर्वं यशः सर्वमन्नाद्यं सर्वां श्रियं स यत्सर्वमेतत् सममवत् तस्मादहिः'—इति प्रदर्शितम्। तेन चैतद् युक्तम्। अहिशब्दोऽसुरवाचक आद्युदात्तः। "यदिन्द्राहन् प्रथमजामहीनाम् (ऋ० सं० १, २, ३६, ४)"—इति। मेघवचनोऽन्तोदात्तः। 'इन्द्रोदसं परि जानादहीनाम् (ऋ० सं० ८, ७, २७, ६)"—इति। अत्राहिशब्दम्मेघनामत्वेनाभाषत् स्कन्दस्वामी। "दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन् (ऋ० सं० १, २, ३८, १)"—इति निगमः॥

(२२) अभ्रम्। 'अभ्र गतौ (भ्वा० प०),' पचाद्यच् (३, १, १३४)' अभ्रत्यन्तरिक्षे। आपो बिभर्तीति वा अप्शब्दे कर्मण्युपपदे बिभर्तेरन्तर्भावितण्यर्थात् 'आतोऽनुपसर्गे कः (३, २, ३),' पकारस्य भकारो छान्दसत्वेन (३, ४, १८)। न भ्रंशत्यस्मादापो वर्षसमयात्प्रागिति वा। यास्कः—'न भ्रंशते यतस्तेभ्यो [illegible] मन्तः'—इति अभ्रपदानि 'भ्रंशु अधः पतने (भ्वा० आ०)'—इत्यस्मात् 'अन्येष्वपि दृश्यते (३, २, १०१)' —इति डप्रत्ययः। न भ्रंशते वा वर्षासु मलिनवर्णत्वात् भ्राजतेर्वा डः (३, २, १०१)। "भ्राजः चित्रमित्रवहुरोदसी [illegible] ७, ३, १, ३)"—"उदप्रुतो न अभ्रवर्षयन्ति (ऋ० सं० [illegible])"—इति च निगमौ॥

(२३) बलाहकः। बलाकाभिर्हीयते गम्यते इति बलाहकः। वारिवाहको वा, पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०९) वर्णागमादिना साधुः। वराहशब्दवद्वा 'कपिलकादीनां संज्ञाछन्दसोर्वा लो वक्तव्यः (८, २, १८)', रेफस्य लकारः। उकार्थो वराहशब्दः (१२), चिरन्तस्यासाधारण्यार्थत्वप्रदर्शनाय पुनः पाठः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(२४) मेघः। 'मिह सेचने (भ्वा० प०)', पचाद्यच् (३, १, १३४), न्यङ्क्वादित्वात् कुत्वम्। मेहति सिञ्चति वर्षजभूमिं मेघः। "वृषा वो मेघो वृषणा पीपाय (ऋ० सं० २, ४, २६, ३)"—"अस्मिन् मेघे विद्युत्"—इति च निगमौ॥

(२५) दृतिः। 'दृ विदारणे (क्र्या० प०)'। 'दृणातेर्ह्रस्वश्च (उ० ४, १७८)'—इति तिप्रत्ययः, ह्रस्वविधानसामर्थ्याद्गुणो न भवति। दीर्यते इन्द्रेण, दृतिवत् जलन्धमलाधारत्वाद्वा। "दृतिं सुकर्षं विषितं न्यञ्चम् (ऋ० सं० ४, ४, २८, २)"—"ईशानो विस्रजद् दृतिम्"—इति च निगमौ॥

(२६) ओदनः। उदकशब्दे उपपदे ददातेः 'कृत्यल्युटो बहुलम् (३, ३, ११३)'—इति कर्तरि ल्युट्। ओदनः उदकदातेत्यर्थः। यद्वा, 'उन्दी क्लेदने (रु० प०)', 'उन्देर्नलोपश्च (उ० २, ७२)'—इति युच्प्रत्ययः, गुणः, उनत्ति धनभूमिम् ओदनः। "धारयत् पक्मौदनम् (ऋ० सं० ६, ५, २०, १)"—इति निगमः॥

(२७) वृषन्धिः। 'वृष सेचने (भ्वा० प०)', 'कनिन्युवृषीत्यादिना (उ० १, १५४) कनिन्, वृषा। शत्रुजयादिसाधनत्वात् कामानां वर्षिता यज्ञः, सन्निधीयतेऽस्मिन्निन्द्रेन प्रहारकाले 'कर्मण्यधिकरणे

च (३, ३, ९३)'—इति क्विप्रत्ययः नलोपाभावश्छान्दसः। "विषन्धिः"—इति केषुचित् कोशेषु दृष्टम्। तदा विषं जलं धीयतेऽस्मिन्निति निर्वाहः, मुमागमश्छान्दसः। निगमदर्शनान्निर्णयः। "वृषा वृषन्धिश्चतुरश्रिमस्यन् (ऋ० सं० ३, ६, ७, २)"—इति मेघनाम न वेति सन्दिग्धम्॥

(२८) वृत्रः। वृणोतेराच्छादनार्थात् (स्वा० प०) 'अमिचिमिमिदिशसिभ्यः क्त्र (उ० ४, १६४)'—इति क्त्रप्रत्ययो बाहुलकाद् भवति, आच्छादयति ह्यसौ कृत्स्नं नभः। वर्ततेर्वा गतिकर्मणः (निघ० २, १४) 'स्फायितञ्चिवञ्चि (उ० २, १३)'—इत्यादिना रक्प्रत्ययः, गच्छत्यसौ कृत्स्नं नभः। वर्धतेर्वा वृद्ध्यर्थात् (भ्वा० आ०) बाहुलकात् क्त्रन्, धकारस्य तकारो व्यत्ययेन, वर्धते हि वर्षासु मेघः। ब्राह्मणोक्ता एवामी अर्थाः—'यदिमांल्लोकानवृणोत् तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम्, स इषुमात्रमिषुमात्रं विष्वङ् अवर्धत'—इति। "वृत्राय वज्रमीशानः कियेधाः (ऋ० सं० १, ४, २१, २)"—"अहन्वृत्रं वृत्रतरं व्यंसम् (ऋ० सं० ८, ८, ५, १)" इति च निगमौ॥

(२९) असुरः। 'असु क्षेपणे (दि० प०)', 'असिमसोरुरन् (उ० १, ४२—४३)'—इति उरन्प्रत्ययः, अस्यति क्षिपति भूमौ जलम्। यद्वा, अस्यते क्षिप्यते स्थाने इन्द्रेण वर्षार्थम्। यद्वा, असन्ति (भू० प०) तिष्ठन्ति 'शृस्वृस्निहित्रप्यसिवसि (उ० १, १०)'—इत्यादिना उप्रत्ययः असुः। प्राणे वर्तमानोऽप्यसुः प्रायः। "प्राणा वा असवः"—'प्राणैर्वा अस्मिन् प्राणाः'—इत्यादिदर्शनात्

असुशब्देनात्र जलमुच्यते। तद्दाति, 'आतोऽनुपसर्गे कः (३, २, ३)' यद्वा, जलवान् प्राणवान् वा। रो मत्वर्थीयः। यद्वा, 'अस गतिदीप्त्यादानेषु' भौवादिकः स्वरितेत्, पूर्वस्मादेव सूत्रादुरन् असति गच्छत्यन्तरिक्षे, दीप्यते स्वयम्, आदत्ते वा जलं वर्षि तुम्। यद्वा, 'सुर ऐश्वर्ये ( तुदा० प० )', इगुपधलक्षणः क ( ३, १, १३६ ), सुरतीति सुर ईश्वरः स्वतन्त्र इत्यर्थः असुरः अनीश्वरः, इन्द्रादिपरतन्त्र इत्यर्थः। "दिवः श्येनासं असुरस्य नीळयः (ऋ० सं० ८, ४, २४, १)"—"दीर्घाधियोर क्षमाणा असुर्यम् (ऋ० सं० २, ७, ६, ४)"—इति निगमौ ॥

(३०) कोशः। कोशतेः शब्दकर्मणः ( भू० प० ) पचाद्यच् (३, १, १३४) पृषोदरादित्वात् ( ६, ३, १०९ ) रेफलोपः कोशः मेघो हि गर्जितलक्षणं शब्दं करोति। कुष्यतेर्वा 'कुष निष्कर्षे ( दि० प० )' अस्मिन्नेवार्थे षकारस्य शकारः, इगुपधलक्षणः कः उत्। कोशतिश्छादनार्थ इति माधवः, पूर्ववदच्छादयत्यन्त कृत्स्नं नभः। जलस्य कोशस्थानीयत्वात् कोश इत्यन्ये यद्वा, 'कुङ् शब्दे ( तु० आ० )', 'कुवापाभ्यः शः'—इति श्रीभ अद्वैतः, कौति ( अदा० प० ) गर्जितशब्दं करोति कोशः। "दिव न कोशासो अभ्रवर्षाः ( ऋ० सं० ७, ३, २४, ६ )"—"महान्त कोशमुदचा नि षिञ्च ( ऋ० सं० ४, ४, २८, ३ )"—इति निगमौ ॥

इति त्रिंशन्मेघनामानि ॥ १० ॥

श्लोकः (१)। धारा (२)। इला (३)। गौः (४)। गौरी (५)। गान्धर्वी (६)। गभीरा (७)। गम्भीरा (८)। मन्द्रा (९)। मन्द्राजनी (१०)। वाशी (११)। वाणी (१२)। वाणी ची (१३)। वाणः (१४)। पविः (१५)। भारती (१६)। धमनिः (१७)। नालीः (१८)। मेना (१९) मेलिः (२०)। सूर्य्या (२१)। सरस्वती (२२)। निवित् (२३)। स्वाहा (२४) वग्नुः (२५)! उपब्दिः (२६)। मायुः (२७)। काकुत् (२८)। जिह्वा (२९)। घोषः (३०)। स्वरः (३१)। शब्दः (३२)। स्वनः (३३)। ऋक् (३४)। होत्रा (३५)। गीः (३६)। गाथा (३७)। गणः (३८)। धेना (३९)। ग्नाः (४०)। विपा (४१)। नना (४२)। कशा (४३)। धिषणा (४४)। नौः (४५)। अक्षरम् (४६)। मही (४७)। अदितिः (४८)। शची (४९)। वाक् (५०)। अनुष्टुप् (५१)। धेनुः (५२)।

वल्गुः (५३)। गल्दा (५४)। सरः (५५)। सुपर्णी (५६)। बेकुरा (५७)। इति सप्तपञ्चाशद् वाङ्नामानि ॥ ११ ॥

'आ उप उपल इत्येताभ्यां साधारणानि पर्वतनामभिः। वाङ्नामान्युत्तराणि (निरु० २, २१—२३)'—इति भाष्ये स्कन्दस्वामी-'उत्तराणि सप्तपञ्चाशत् श्लोकेत्यादीनि वाङ्नामानि। उच्यते इति वाक् इन्द्रियम्, तत्कार्यः शब्दोऽप्युच्यते इति वाक्, उच्यतेऽनया अर्थः इतिवाक् स्तनयित्नुलक्षणा माध्यमिका साप्युच्यते इति वाक्, तदधिष्ठात्र्यपि देवता वागित्युच्यते। सर्वतश्चास्या मेघहेतुत्वात् मेघनामस्व उक्तापीति। स च वाक्शब्दः 'वच परिभाषणे (अदा० प०)'—इत्यस्माद् धातोः 'क्विब् वचि (उ० २, ५५) (३, २, १७८ पा०)'—इत्यादिना क्विपि दीर्घत्वे सम्प्रसारणाभावे च व्युत्पन्नः॥

(१) श्लोकः। 'श्रु श्रवणे (भ्वा० प०)' 'इण्भीकापाशल्यतिमर्चिभ्यः कन् (उ० ३, ४३)'—इति कन्प्रत्ययो बाहुलकाद्भवति, गुणः, कपिलकादित्वात् लत्वम्, श्रूयते इति श्लोकः। यद्वा, श्लोक सङ्घाते (भ्वा० आ०)' 'पुंसि संज्ञायां घः (३, ३, ११८)' श्लोकयते पद्यते रूपेण संहन्यते कविभिः श्लोकः 'पद्ये यशसि च श्लोकः (३, ३, २)'—इत्यमरसिंहः। "शतस्य-श्लोको बधिरा ततर्द (ऋ० सं० ३, ६, १०, ३)" - "श्लोको न यातामपि वाजो अस्ति (ऋ० सं० ७, ६, ११ ,"॰ निगमौ॥

(२) धारा। 'धृञ् धारणे (भ्वा॰ उ॰)' 'हेतुमति च (३, १, २६)' इति णिचि 'एरजण्यन्तानाम् (३, ३, ५६ आ॰)'—इत्यस्याप्रापकत्वादेव 'कृत्यल्युटो बहुलम् (३, ३, ११३)'—इति कर्तरि भवति। यद्वा, धारेः पचाद्यच् (३, १, १३४) लोकस्य धारयित्री धर्मप्रदानेन स्वामिधेयस्य वा। "तनसहे सुधारा"—इत्यत्र धारा वाङ्नाम। "धारा सुतस्य रोचते (ऋ॰ सं॰ ७, ५, २४, १)"—"यः ससाद धारामृतस्य (ऋ॰ सं॰ १, ५, ११, ४)"—इति च निगमौ॥

(३) इला। 'इल क्षेपणे (तु॰ प॰)' इगुपधेभ्यः (३, १, १३५) कर्त्तरि विधीयमानः कः प्रत्ययो बाहुलकात् (३, ३, १) भवति। क्षिप्यते प्रेर्य्यते उच्चारणकाले प्राणेन, इला। धातूनामनेकार्थत्वमुक्तं पूर्वमेव। यद्वा, 'ईड़ स्तुतौ (अदा॰ आ॰)'—'ञि इन्धी दीप्तौ (रु॰ आ॰)' आभ्यां पूर्ववत् कः (३, ३, १), पृषोदरादिः (६, ३, १०९), ईड़ति स्तूयतेऽनया देवता ईड्यते वा या स्वयं देवतात्वात्, दीपयति प्रयोक्तारं, दीप्यते वा स्वेन तेजसा। यद्वा, इलेत्यन्ननाम (निघ॰ ३, ७), अकारो मत्वर्थीय यजमानानां देवेनान्नेन हविर्लक्षणेन वा तद्वती इला। "अभि न इला यूथस्य माता (ऋ॰ सं॰ ४, २, १६, ४)"—इति निगमः॥

(४) गौः। व्याख्याता पृथिवीनामसु (१)। गच्छति यज्ञेष्वाहुता, गीयते स्तूयते वा। "अयं स शिङ्क्ते येन गौ रभी-(ऋ॰ सं॰ २, ३, १६, ४)"—इति निगमः॥

(५) गौरी। रोचतेर्ज्वलतिकर्मणः (निघ० १, १६)। 'ऋज्रेन्द्राग्रवज्रविप्रकुत्र (उ० २, २७)'—इत्यादिसूत्रेण रन्-प्रत्ययान्तो गौरशब्दो निपातितः, तस्माद्रुचेर्धातोर्गावादेशः, 'षिद्गौरादिभ्यश्च (४, १, ४१)'—इति ङीष्। स्वया दीप्त्या ज्वलति वाग्देवतात्वात्। यद्वा, 'गूरी उद्यमने (भु० आ०)' अस्मात् इति पूर्ववन्निपातनादुकारस्यौकारः, रोरि (८, ३, १४)'—इति रेफलोपः, ङीष्, गुरते उद्गच्छति सममिप्रेयम्, उद्यमनं चात्र प्रकाशनम्। यद्वा, 'गुङ् अव्यक्ते शब्दे (भू० आ०)'—इत्यस्मान्निपातनादिति वृद्धिः, गवते गर्जितलक्षणमव्यक्तशब्दं करोतीति गौरी। यद्वा, शुक्लवर्णत्वात् गौरी, 'मास्वत्कपर्दां शशिकलामिन्दुकुन्दावदन्ताम्'—इत्याचार्याः, 'सर्वशुक्ला सरस्वती'—इति च। "गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षति (ऋ० सं० २, ३, २२, १)"—"सोमो गौरी अधिश्रितः (ऋ० सं० ६, ७, ३८, ३)"—इति च निगमौ॥

(ऐ० ब्रा० २, ४, २)'—इति। यद्वा, गन्धर्वा देवानां गायकाः तेषामियम्। तथाचैतरेयब्राह्मणे—'सोमो वै राजा गन्धर्वेष्वासीत् (ऐ० ब्रा० १, ५, १)'—इत्यस्मिन् खण्डे वाचो गान्धर्वीत्वं स्पष्टमुक्तम्। 'तां गन्धर्वोऽब्रवीत् गर्भे अन्तः'—इति श्रुतिः। "अग्निर्गान्धर्वी पथ्या ऋतस्य (ऋ० सं० ८, ३, १५, ६)"—इति निगमः॥

(७) गभीरा, (८) गम्भीरा। भीयन्ति (ञि० प०) रातीति (अदा० प०) भीराः। 'आतोऽनुपसर्गे कः (३, २, ३)'। गवां भीरा गभीरा गम्भीरा च। पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०९) गोशब्दस्य गभावो गम्भावश्च। स्तनयित्नु-लक्षणा हि माध्यमिका वाक् श्रूयमाणैव सर्वप्राणिनां भियमादधाति। यद्वा, उणादौ गभीरादिसूत्रेण गमेर्धातोरीरन्प्रत्यये नुमागमो भकारस्य विकल्पेन लोपो निपात्यते (उ० ४, ३५)। गच्छति यां, अधिगम्यते वा ज्ञानार्थिभिः। यद्वा, 'गाधृ प्रतिष्ठालिप्सयोर्ग्रन्थे च' भ्वादिकः (आ०), अस्य ह्रस्वत्वं भकारादेशः, वा च नुम् निपात्यते। प्रतिष्ठिता अस्मिन् स्थाने, लिप्स्यन्ते वा प्राणिभिः, ग्रथिता वा गद्यपद्यादिरूपेण गभीरा गम्भीरा। उभयोरपि निगमावन्वेषणीयौ॥

(९) मन्द्रा। 'मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु (भ्वा० आ०)'। गच्छति व्याप्तिमेव प्राप्नोति, अधिगम्यते वा तदर्थिभिः। "स मन्द्रया च जिह्वया (ऋ० सं० ५, ५, २२, ३)"—इति निगमः॥

(१०) मन्द्राजनी। मन्द्रशब्दो व्याख्यातः। 'अज गतिक्षेपणयोः (भ्वा० प०)' ल्युट्। मन्द्रमजनं गमनं क्षेपणं प्रेरणमुच्चारणं वा यस्याः सा मन्द्राजनी, पिप्पल्यादिषु द्रष्टव्यम्। (४, १, ४१ ग०) "मन्द्राजनी चोदते अन्तरासनि (ऋ० सं० ६, २, २१, २)"—इति निगमः ॥

(११) वाशी। 'वाशृ शब्दे' दैवादिकः (आ०)'। 'वसिवपियजिराजिव्रजिसदिहनिवाशिवादिवारिभ्य इञ् (उ० ४, १२१) कर्मणि कारके वा दृश्यते, वाशिः। 'कृदिकारादक्तिनः (४, १, ४५ वा०)'—इति ङीष्, वाशी। "ते वाशीमन्त इष्मिणो अभीरवो (१, ६, १३, ६)"—वाशीमिन्द्र क्षतास्मन्मयीभिः (ऋ० सं० ८, ५, १६, ४)"—इति च निगमौ ॥

(१२) वाणी। 'वण शब्दे (भ्वा० प०)'। बाहुलकादिञ् (उ० ४, १२१) (३, ३, १), ङीप् (४, १, ४५ वा०)। "वाणीः पुरुहूतं धमन्तीः (ऋ० सं० ३, २, २, १०)"—"अभि वाणीर्ऋषीणां सप्त नूषत (ऋ० सं० ७, ५, ६, ३)"—इति निगमौ ॥

(१३) वाणीची। वाणीं स्तुतिरूपां वाचमञ्चति गच्छतीति विगृह्य 'ऋत्विगित्यादिना (३, २, ५९) क्विनि, नलोपे, 'अचः (६, ४, १३८)'—इत्यकारलोपे 'अञ्चतेश्चोपसङ्ख्यानम् (४, १, ६ वा०)'—इति ङीप्। "रथे वाणीच्याहिता (ऋ० सं० ४, ४, १५, ४)"—इति निगमः ॥

(१४) वाणः। वण्यते शब्द्यते वाणः। "अकर्तरि च कारके सञ्ज्ञायाम् (३, ३, १९)'—इति घञ्। यद्वा वणनं शब्दनं

घाणः, मार्षे घञ् ( ३, ३, १८ ), अर्शआदित्वादच् ( ५, २, १२७ ) स्तुतिमती हि वाक्। "होता यक्षद् वि दुहन्ति प्र वाणम् ( ऋ० सं० ३, ६, १२, ४ )"—इति निगमः ॥

(१५) पविः। 'पूञ् पवने ( क्र्या० उ० )' 'अच इः (उ० ४, १३४)'—इति इप्रत्ययः। पुनाति हि वाक्। 'पावका नः सरस्वती ( ऋ० सं० १, १, ६, ३ )'—इति मन्त्रः। पूयते वा सङ्कीर्तनादिना, 'वाचं शौरिकथालापप्रसङ्गे पुनीमहे' इत्युक्तेः। पूयतेऽनयेति वा शुद्धिकरणं हि वाक्। 'पवित्रं हि वाग् विदुषाम्'—इति माधवः। "घाणस्य चोदया पविम् ( ऋ० सं० ७, १, ७, १ )"—इति निगमः ॥

(१६) भारती। 'डु भृञ् धारणपोषणयोः ( भू० उ० )' 'भृमृदृशियजिपर्विपच्यमितमिनमिहर्यिभ्योऽतच् ( उ० ३, १०७ )' भरतशब्दात् 'प्रज्ञादिभ्यश्च ( ५, ४, ३८ )'—इति स्वार्थिकोऽण् ङीप् ( ४, १, १५ )। बिभर्त्ति जगद्व्यवर्णप्रदानेन, स्वाभिधेयं वा ध्रियते [प्राणिभिः व्यवहारसाधनत्वेन। अथवा 'अग्निर्भरतः प्राणो भूत्वा हवींषि बिभर्त्ति'—इति वाजसनेयकम्, तदीया भारती। तथाच 'अग्निर्वाक् भूत्वा मुखं प्राविशत्'—इत्युपनिषद् ( ऐ० उ० १, ६ )। अथवा 'भरतः ( निघ० ३, १८ )'—इति ऋत्विङ्नाम, तदीया, स्तुतिसाधनत्वात् भारती। "आ भारती भारतीभिः सजोषा (ऋ० सं० २, ८, २३, ३)"—इति निगमः ॥

(१७) धमनिः। धमतिर्गतिकर्मा (निघ० २, १४), 'अर्त्तिसृधृधम्यम्यश्यवितॄभ्योऽनिः ( उ० २, ६५ )'—इत्यनिप्रत्ययः।

गत्यर्था बुद्ध्यर्थाः। गम्यते ज्ञायते अनया अर्थः, ज्ञायते वा विद्वद्भिः साध्वसाधुविभागेन। यद्वा, 'धमति'—इति वधकर्मस्वपि पठ्यते (निघ० २, १६)। हन्यतेऽनया शापाक्रोशादिरूपयेति। तथाच 'वज्र एव वाक्'—इति ब्राह्मणम् (ऐ० ब्रा० २, ३, ३)। 'वाक्सायका वदनान्निःसरन्ति यैराहतः'—इति च महाभारतम्। "इन्द्रेषितां धमनि पप्रथन्नि (ऋ० सं० २, ६, ४, ३)"—इति निगमः॥

(१८) नालीः। 'नल गन्धे (भू० प०)' 'वसिवपियजिराजिव्रजि (उ० ४, १२१)'—इत्यादिना विहितः इञ्प्रत्ययो बाहुलकाद्भवति, 'कृदिकारात् (४, १, ४५ वा०)'—इति ङीष् व्यत्ययेन सोर्विसर्जनीयः। 'गन्ध अर्दने (चु० आ०)' 'अर्द हिंसायाम् (भू० प०)' इति पठ्यते। गन्धनं हिंसात्मकं सूचनम्, सूचयति मर्माणि। "श्यामस्य धम्यते नालीः (ऋ० सं० ८, ७, २३, ७)"—इति निगमः॥

(१९) मेना। 'मान पूजायाम् (चु० आ०)'—इत्यस्मात् 'बहुलमन्यत्रापि इनच् भवति (उ० २, ४६)'—इति वचनादिनच्, बहुलग्रहणादलोपः। पूज्यतेऽनया गुर्वादिरुपदेशवाक्येन, पूज्या वा देवतात्वात्। "ग्नास्मेनां कृण्वन्नच्युतो भुवद्गोः (ऋ० सं० ८, ६, १०२)"—इति निगमः। 'मेना गर्जितशब्दम्'—इति माधवः॥

(२०) मेलिः। सम्पर्कार्थो धातुः (चु० आ०)। पूर्ववत् बाहुलकादिन्। सम्पृक्ता ह्यर्थेन वाक्। तथाच—'वागर्था-

पिय सम्पृक्तौ'—इति ( रघौ १, १ ) कालिदासः। "मेलि मद्भ पित्रोरुपस्थे ( ऋ० सं० ३, १, २७, ४ )"—इति निगमः। मत्वर्थीयस्य लुकि वाग्मिनमित्यर्थः। "मेलिः स्थान् ; वाग्योजनात्"—इति माधवः॥

(२१) सूर्म्या। सर्त्तेर्गत्यर्थात् ( भू० प० ), सुवतेर्वा प्रेरणार्थात् ( तु० प० ) 'राजसूयसूर्य्य ( ३, १, ११४ )'—इत्यादिना निपातनात् क्यपि सर्त्तेरुत्वं सुवतेर्वा रुडागमः। सरति गच्छति स्तोतॄन् प्रति, कर्णशष्कुलिं वा सुवति प्रेरयति बोधरूपा पुरुषादीनिदं कुर्विति। यद्वा, सुपूर्वादीरतेः 'कृत्यल्युटो बहुलम् ( ३, ३, ११३ )"—इति कर्मणि क्यपि निपातनाद्रूपसिद्धिः। सुष्ठु ईर्य्यते उच्चार्य्यते इति सूर्म्या। यद्वा 'षु प्रेरणे ( स्वा० उ० )' 'सुसूधीगृधिभ्यः क्रन् ( उ० २,२३ )'—इति क्रन्प्रत्ययः। प्रेर्य्यते उच्चारणकाले प्राणेन सूरा 'छन्दसि स्वार्थे'—इति यत्प्रत्ययः, सूर्म्या। यद्वा, सूरयो मेधाविनः, भवाईति 'छन्दसि च ( ५, १, ६७ )'—इतिःयत्प्रत्ययः। यद्वा, सूरिषु साधुः 'तत्र साधुः ( ४, ४, ९८ )'—इति यत्। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(२२) सरस्वती। सर्त्तेरसुन् ( उ० ४, १८४ ) सरः। गद्यपद्यादिरूपेण प्रसरणमस्यास्तीति 'असमायामेधास्रजो विनिः ( ५, २, १२१ )' 'बहुलं छन्दसि ( ५, २, १२२ )'—इत्युक्ते मतुपि ङीप्। यद्वा, सर इत्युदकनाम ( निघ० १, १२ )। सर्त्तेर्वा दुपर्ता वृष्ट्यधिदेवतात्वादुदकवती हि माध्यमिका वाक्। सैव चास्मिन्दा सरस्वती। तदुक्तं भाष्यकारेण—'तत्र सरस्वती'

त्येतस्य नदीवन् देवतावद्य निगमा भवन्ति ( निरु० २, २३ )'
—इत्यादिना । "पावका नः सरस्वती ( ऋ० सं० १, १, ६,
३)"—इति निगमः देवतायाः । "इयं शुष्मेभिः ( ऋ० सं० ४, ७,
३०, २)"—इत्येष नद्याः ॥

(३) निविन् । 'विद ज्ञाने ( अदा० प० )', निपूर्वः
'सत्सूद्विषद्रुहयुज ( ३, २, ६१ )'—इत्यादिना क्विपि [ अन्तर्णी-
तण्यर्थश्चात्र विदिः ] नितरां वेदयति ज्ञापयति स्वमभिधेयम् ।
"अग्निं पूर्वया निविदा हुमहे वयम् ( ऋ० सं० १, ६, १५, ३ )"
—इति निगमः ॥

(४४) स्वाहा । अस्य नाम्नो यास्कनिर्वचनं पृथ्वं तत्सर्वं
तद्रूपेणैव लिख्यते । अत्र निरुक्तम्—'स्वाहेत्येतत् सु आहेति
वा स्वा वागाहेति वा स्वं प्राहेति वा स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा
( निरु० ८, २० )'—इति । अस्य स्कन्दस्वामी—स्वाहेत्येतत्
स्वाहाकारेतिशब्दस्य पूर्वपदं स्वाहाकारान्तो होममन्त्राणां कर्तव्यः,
'न ह वै आहुतयो देवान् गच्छन्ति या अस्वधाकृता वा अस्वाहा-
कृता वा भवन्ति ( शत० ब्रा० १, ३, ६, १४ )'— इतिश्रुतिः ।
स्वाहाकारस्य सम्प्रदानस्येन मन्त्रान्तेऽवश्यम्भावित्वात् । अय-
मर्थः यस्यान्ते श्रूयते स होममन्त्रः शोभनमर्थमाह । अथवा
प्रजापतेः स्वा आत्मीयता वागाहेति स्वाहाकाररूपा वाक् प्रजा-
पतिसृष्टेत्यर्थः । अथवा स्वं प्राहेति यजमानस्य, स्वं हविः
देवताये दत्तं तदुद्देशेन त्यागात्, तस्य यजमानो स्वीयं प्राहेति
स्वाहा, सम्प्रदानत्वं स्वाहाकारस्य स्पष्टमनेन प्रकारेण दर्शितं

स्वाहुतमित्यादिना। अथवा यदनेन स्वाहाकारेण जुहोति तदेव सुष्ठुमर्य्यादया जुहोतीति, एवञ्च सति पूर्वकाणि निर्वचनानि ब्रूमः। इदन्तु जुहोतेरिति। अत्र भास्करमिश्रः—'स्वयं सरस्वती आह ब्रूते'। 'स्वैव ते वागित्यब्रवीत्'—इति ब्राह्मणम्। स्वयमेवाहेत्यस्यार्थस्य द्योतकोऽयं निपातः प्रदेशान्तरेऽपि विकल्पन्तस्समुदायात्मनिपातः स्वाहेति। संस्कारविशेषानवधारणात्मायगृह्यते। अत्र क्षीरस्वामी—'सुष्ठु आह्वयति स्वाहा'। अ स्वाहाशब्दो नाव्ययम् अग्निजायावाचित्वमित्यर्थः। भाष्ये तु स्वाहाशब्दस्य वाङ्नामत्वेनाभिव्यक्तेः हानि निर्वचनानि लिखितानि, तेषु यथोचितं तत् गृह्णन्तु विद्वांसः। तस्याः वाचः स्रष्टी पृथिवी वागग्निश्चेति वाचोऽग्नेश्च कारणकार्यभाव श्रूयते। 'अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत् ( ऐ० उ० १, ४ )' —इति। तस्मादग्नेर्वाचश्च सम्बन्धात् अग्नायी स्वाहा वागित्युच्यते। वाणि वातारमन्वेन वागुच्यते इति सन्देहः। निगमः सुलभः स्वाहाकारपरो, अन्यत्रान्वेषणीयः॥

(२०) वग्नुः। 'वच भाषणे ( अदा० प० )', 'वचेर्गश्च ( उ० ३, ३२ )' इति नुप्रत्ययः, चकारस्य गकारश्च। वग्नुः वाचा समानोऽर्थः। "वग्नु मिरर्ति यं विदे ( ऋ० सं० ६, ८, ४, १ )" —"इन्द्रस्येव वग्नुरा शृण्व आजौ ( ऋ० सं० ७, ४, १३, २ )" —इति च निगमौ॥

(२१) उपब्दिः। उपब्दाम् परंणत्यर्थात् ( दि० आ० ) सर्वधातुभ्यः ( उ० ४, ११४ )"—इतीनप्रत्ययो बाहुलकात्

पघालोपः, 'न पदान्तद्विर्वचन (१, १, ५८)'—इत्यनेन जश्विधिं प्रति स्थानिवद्भावनिषेधात् 'झलां जश् झशि (८, ४, ५३)'—इति पकारस्य बकारः। उप समीपे भकानां गच्छति, उप आचार्यसमीपे गम्यते इति वा। यद्वा, उपपूर्वात् दशतेः (जु० उ०), दधतेः (दि० प०), दयतेः (भू० आ०) वा 'कृत्यल्युटो बहुलम् (३, ३, ११३)'—इति बहुलवचनात् 'उपसर्गे घोः किः (३, ३, ९२)'—इति किप्रत्ययः कर्तरि भवति बकारश्चोपजनः। उपेत्य ददातीत्यभिलषितम्, प्रयोक्तॄणां, अपदयत्यज्ञानं तर्कादिसमये प्रतिवादिनां वा, दयति भक्तानिति वा उपब्दिः। "आघोपयन्तः पृथिवीमुपब्दिभिः (ऋ० सं० ८, ५, २१, ४)—उपब्दिरयसिसोमः (ऋ० सं० ७, ३, २४, ५)"—"शृण्व आयता मुपब्दिः (ऋ० सं० २, ४, ६, २)"—इति निगमा॥

(२७) मायुः। 'डु मिञ् प्रक्षेपणे (स्वा० उ०)'। कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण् (उ० १, १)', 'मीनातिमिनोतिदीङां ल्यपि च (६, १, ५०)'—इत्यात्वम्, 'आतो युक् चिण्कृतोः (७, ३, ३३)'—इति युक्। क्षिप्यते प्रेर्य्यते उच्चार्य्यते इति मायुः, प्रक्षिपति वृष्ट्युदकं भूमाविति वा। "मिमाति मायुं ध्वसनावधिश्रिता (ऋ० सं० २, ३, ११, ४)"—इति निगमः॥

(२८) काकुत्। 'कै गै रै शब्दे (भू० प०)'। सम्पदादित्वात् (३, ३, ९४ वा०) क्विप्। कानं शब्दनं करोतीति का, मृगय्वादित्वात् कुः (उ० १, ३६) बाहुलकात् तकार उपजनः। यद्वा, 'कक वक लौल्ये (भू० आ०)', 'मृग्रोरुतिः (उ० १,

११ )'—इत्येव पाठुल्काल् ( ३, ३, १ ) भस्मातु भवति चित्र फाकुत्। ककुदं ककुत् भवति एकस्मिन्नर्थे न प्रतिनियती-त्यर्थाः, तथाहि शब्दा अनेकार्था बहवः, एकार्थाश्च काकादिनाऽभि-धीयमाना अनेकार्था भवन्ति। ककुत्सुखस्थानमस्यास्तीति काकुत्। मत्वर्थीयस्य लुक्, छान्दसो दीर्घः, सर्वथा पृषोदरादित्वं शब्दः। "या ते काकुत् सुकृता या वरिष्ठा (ऋ० सं० ४, ७, १३, २)" —इति निगमः।

(२९) जिह्वा। 'शेवयह्वजिह्वाग्रीवाप्वमीवाः'—इतिनिपाताः। 'लिह आस्वादने ( अदा० उ० )', वप्रत्यये, अस्यादेर्जकारो निपात्यते। लेढ्यास्वादयत्यनया अन्यविषयावसारान्। यद्वा, आह्वयतेः ( भू० उ० ) जुहोतेः ( जु० प० ) वायं यङन्तस्य कः, सम्प्रसारणम् 'अभ्यस्तस्य च ( ६, १, ३३ )'—इति, सम्प्रसारणे च 'न धातुलोप आर्द्धधातुके ( १, १, ४ )'—इति गुणनिषेधाद्युवङादेशे रूपम्। जोहुवाति पुनः पुनराह्वयति शब्दं करोति रसान् वादत्ते जुहोत्यस्यात्मनि, जोहुवा सति ओकारस्ये-कारादेशे उकारलोपे च जिह्वा। "पुरो विप्रा दधिरे मन्द्रजिह्वम् ( ऋ० सं० ३, ७, २६, १ )"—"अनर्वाणं वृषभं मन्द्रजिह्वम् ( ऋ० सं० २, ५, १२, १ )"—इति च निगमौ॥

(३०) घोषः। 'घुष शब्दार्थः ( भू० प० )', 'हलश्च (३, ३, १२१ )'—इति घञ्। घुष्यते शब्द्यते घोषः। "उतो पितृभ्यां प्रविदानु घोषम् ( ऋ० सं० ३, १, २, १ )"—"इन्द्रे घोषा असृ-( ऋ० सं० ६, ४, ४२, १ )"—इति च निगमौ॥

(३१) स्वरः। 'स्वृ शब्दोपतापयोः ( भू० प० )', पुंसि सञ्ज्ञायां घः ( ३, ३, ११८ )। स्वर्यते शब्द्यतेऽनेन देवता, उपतप्यतेऽनया मर्मस्पृक्प्रयुक्तयेति वा। स्वरतिरर्चतिकर्मा वा (निघ० ३, १)। स्वर्यते स्तूयते देवतात्वात्। 'गोचरसञ्चर (३, ३, ११९ )'—इत्यत्र चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वाद् घः। यद्वा, स्वरति देवतामिन्द्रादिम्, पचाद्यच् ( ३, १, १३४ )। "स्वरश्च मे श्लोकश्च मे ( य० वा० सं० १८, १ )"—इति निगमः॥

(३२) शब्दः। शपत्याक्रोशे शाशपिर्या शानी। अस्य वृत्तिग्रन्थः—'शपते अनेनेति शब्दः संस्कृता वाक्। भलां तृतीये इति योगविभागात् अचतुर्थेऽपि तृतीयं भवति'—इति। 'शब्दनं शब्दः'—इति क्षीरस्वामी। खेऽस्तस्थिते शब्दं करोतीति वा। "शब्दो दोगिणी मीमांसा च"—इति निगमः॥

(३३) स्वनः। 'स्वन शब्दे ( भू० प० )' 'स्वनहसोर्वा (३, ३, ६२)'—इत्यप्। स्वन्यत इति स्वनः। "सिन्धोरूर्मेरिव स्वनः (ऋ० सं० ७, १, ७, २)"—इति निगमः॥

(३४) ऋक्। ऋच्यते ( तु० प० ) स्तूयतेऽनया। यद्वा, स्तूयते स्वयं देवतात्वात्। 'ऋच स्तुतौ ( तु० प० )'—इत्यस्मात् सम्पदादित्वात् ( ३, ३, ६४ वा० ) क्विप्। "ऋचा धने मानुषः (ऋ० सं० ८, ५, २७, ३)"—इति निगमः॥

(३५) होत्रा। 'हु दानादानयोः ( जु० प० )'—'हुयामाश्रुभसिभ्यस्त्रन् (उ० ४, १६६)'। हूयतेऽनया मन्त्ररूपया हविः, हूयतेऽस्यां प्राणः, हूयते वा प्राणः। तथाच—'वाचि हि प्राणं

ज्जुहुमः प्राचे या यानाम्'—इत्युपनिषत् ( ऐ० )। यद्वा, होत्रेति यज्ञनाम (निघ० ३, १७)' हूयतेऽस्मिन् हविरिति यज्ञस्य यानित्युच्यते तरसाऽयस्यात्। यानं यच्छति यामी यमः'—इति ब्राह्मणम् (ऐ० ब्रा० ५, ४, ५, ४, ५)। भ्रातुयाग्नीयेषु यज्ञे प्रैरे—"यनेन तद्दोत्रया चित्तान्त्या (ऋ० सं० २, १, १७, २)"—इति निगमः "पीतिहोत्रं त्वा कवे (ऋ० सं० ४, १, ११, ३)"—इति निगमः॥

(३६) गीः। गृणातिरर्चतिकर्मा (निघ० ३, १४), औणादिक क्विप्, 'ऋत इद्धातोः (७, १, १००)' 'पोरुपधाया दीर्घ इक (८, २, ७६)'—इति दीर्घः, हल्ङ्याब्लोपः (६, १, ६८), रेफस्य विसर्जनीयः। गृणात्यनया गीः। "समिद्धयर्दन्तु नो गिरः (ऋ० सं० ६, १, १०, ३)"—इति निगमः॥

(३७) गाथा। 'गै शब्दे (भू० प०)' अर्चतिकर्मा च ( निघ० ३, १४), 'उषिकुषिगार्तिभ्यस्थन् ( उ० २, ३ )'। गायतीत्यसौ देवताः, गायन्ति तामिति वा गाथा। "तं गाथया पुराण्या ( ऋ० सं० ७, ४, २५, ४ )"—"युञ्जन्ति हरी इषिरस्य गाथया (ऋ० सं० ६, ७, २, ३)"—इति निगमौ॥

(३८) गणः। गण 'गणने' चुरादिरदन्तः ( प० )। 'अकर्त्तरि च कारके सञ्ज्ञायाम् (३, ३, १९)'—इति घञ्। 'अतो लोपः (६, ४, ४८)। गण्यते या गणः, अतो लोपस्य स्थानिवद्भावात् ... भवति। गणेति केचित् पठन्ति। निगमोऽन्ये-

(३६) धेना। दधातेर्लटः शानचि व्यत्ययेन पत्वाभ्यासलोपौ दधाना समभिधेयं धर्मप्रदानेन लौकिकार्थं वा। यद्वा, 'धेट् पाने (भू० प०)' 'धेट इच्च (उ० ३, १०)'—इति नप्रत्ययः इकारश्चान्तादेशः, गुणः, धयन्ति तामिति धेना। पानमत्र स्वीकारः। यद्वा, आस्वादः। धीयते पीयते आस्वाद्यते वानेन, धयन्ति प्राणमिति वा धेना। तथाच—'तं माता रे हि स उ रेहि मातरम्'—इति श्रुतिः ( ऋ० सं० ८, ६, १६, ४ )। यद्वा, 'धिविः प्रीणनार्थः (भू० प०)' बाहुलकात् नप्रत्ययो नकारवकारयोर्लोपश्च, गुणः, धेना। प्रीणयति हि वाक् सुष्टु प्रयुक्ता। 'धेना वाक् प्रीणनाद्वि वा'—इति माधवः। "धेना जिगाति दाशुषे ( ऋ० सं० १, १, ३, १)"—जनानां धेना अवबाकशनुषुपा (ऋ० सं० ७, ८, २५, १)"—इति च निगमौ॥

(४०) ग्नाः। गमेर्धातोः (भू० प०) 'धापृवस्यज्यतिभ्यो नः (उ० ३, ६)'—इति बाहुलकात् नप्रत्ययो भवति टिलोपश्च। टाप् ( ४, १, ४ )। गत्यर्था बुद्ध्यर्थाः। जानन्ति काममिति ग्नाः। यद्वा, गच्छति, यशोव्याभूत्। 'अभि यज्ञं गृणीहि नो ग्नावः (१, १, २८, ३)' इत्यत्र 'छन्दांसि वै ग्नाः'—इति ब्राह्मणम् —इति माधवः। तस्मात् छन्दसां गायत्र्यादीनां वाग्रूपत्वात् ग्नाव्यपदेशः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(४१) धिषा। 'धिष् प्रेरणे ( चु० प० )'। सम्पदादित्वात् ( ३, ३, ९४ वा० ) क्विप्। तृतीयैकवचनम्। प्रेर्यते मनसा धिषा। 'मनसा वा इषिता वाग्वदति (ऐ० ब्रा० २, १५)'—इति

ब्राह्मणम्। "पक्वाय पित्रा गिरा (ऋ० सं० ४, ४, ६, १)"—इति निगमः। गिरेति पदं निम्नगया योजनीयम्॥

(४२) नग्ना। न गच्छति पितृकुलात् बाल्यात् अनावरणापि न गच्छति लज्जामिति वा। 'नग्निकाऽनागतार्तवा'—इत्यमरः (२, ६, ८)। नग्ना कन्या। नाग्नाग्नः पूर्वमेव निरुक्तः, स नपूर्वः। नायं नञ्, किन्तु प्रतिषेधार्थोऽयं निपातः, अतः 'न लोपो नञः (६, ३, ७३)'-इति न भवति। "नना"—इति केचित्। नमतेर्नप्रत्ययो बाहुल्यकान्मकारलोपश्च। नमयत्यनयेति नना। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(४३) कशा। 'काशृ दीप्तौ (भू० आ०)'। अन्तर्णीतण्यर्थः। पचाद्यच् (३, १, १३४)। आकारस्य ह्रस्वत्वं छान्दसम्। प्रकाशयत्यर्थान्। यद्वा, केशाया सती वर्णव्यत्ययादिना कशा, वाग्विमुखात् काशते तत उपलब्धेः। यद्वा, 'कश शब्दे (भू० प०)'। अत्र शब्दायते कशा। यद्वा, 'कश गतौ (भू० प०)' अच् (३, १, १३४)। गच्छति गन्त्र्यम्। "या वां कशा मधुमती (ऋ० सं० १, २, ४, ३)"—इति निगमः॥

(४४) धिषणा। धारयत्यर्थमिति धीः बुद्धिः। धारयति कर्तारं फलप्रदानेनेति धीः कर्मबुद्धिः कर्म वा। सनोति सम्भजते इति सनोतेः (षणु त० उ०) पचाद्यचि (३, १, १३४), पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०९) पूर्वपदह्रस्वत्वे च धिषणा। यद्वा, 'ञि धृषा प्रागल्भ्ये (स्वा० प०)'। 'धृषेर्धिष् च सञ्ज्ञा- ... )'—इति क्युप्रत्ययो धिषादेशश्च धिषणा।

प्रगल्भसमर्था रक्षितुं जगद् वर्षप्रदानेनेत्यर्थः। यद्वा, 'दिधिषामि विल्मैः ( ऋ० सं० २, ७, २३, १२ )'—इत्यत्र स्कन्दस्वामिना पठितात् 'धिषि धारणे'—इत्यस्मात् 'धिष शब्दे ( जु० प० )'—इति धातुपाठपठिताद्वा बाहुलकात् क्युप्रत्ययो धिषणा धारयति स्वामिवदेवं धारयति सम्बन्धस्य नित्यत्वात्। शब्दायते वा मेघे अधिश्रिता 'मिमाति मायुं धिषणायधिश्रिता ( ऋ० सं० २, ६, १६, ५ )'—इति श्रुतिः। "आपश्च मित्रं धिषणा च साधन् ( ऋ० सं० १, ७, ३, १ )"—इति निगमः॥

(५५) नौः। 'णुद प्रेरणे ( तु० उ० )' 'ग्लानुदिभ्यां डौः ( उ० २, ६० )'—इति डौप्रत्ययः। नुद्यते प्रेर्यते मूलाधारादिस्थानेभ्यः प्राणेन। णमतेर्वा ( भ्वा० प० ) बाहुलकात् (३, ३, १) डौः, नम्यते वा देवतात्वात्। "सुनर्माणमधिनावं रुहेमेति वाग्वै सुनर्मा नौः कृष्णाजिनं वै सुनर्मा नौर्वाग्वै सुनर्मा नौः ( ऐ० ब्रा० १, ३, २ )"—इति ब्राह्मणम्, "समितो नव्याहिनम् ( ऋ० सं० ८, ७, २३, ४ )"—इति च निगमौ॥

(५६) अक्षरम्। 'अक्षू व्याप्तौ ( स्वा० प० )' 'अश भोजने ( क्र्या० प० )'। 'अशेः सरन् ( उ० ३, ६७ )'—इति सरन्प्रत्ययः, व्रश्चादिना ( ८, २, ३६ ) षत्वम्, 'षढोः कः सि ( ८, २, ४१ )'। अश्नुते धाम व्याप्नोत्यभिधेयम्, व्याप्नोति वा अश्नाति वा हविः। अक्षेर्वा ( स्वा० प० ) बाहुलकात् सरन् सकारलोपश्च। 'खरि च ( ८, ४, ५५ )'—इति चर्त्वम्। अक्षति प्रक्षरति सेचयति वर्षेण भूमिम्। यद्वा, नञ्पूर्वात् क्षरतेः ( भू० प० ) पचाद्यच्

( ३, १, ११३ )। न क्षरति, सर्वदा सर्वैः प्रयुज्यमानापि न क्षीयत इत्यर्थः। 'वाग्वै समुद्रो न वै वाक् क्षीयते'—इति ( ऐ० ब्रा० ५, ३,-१ ) ब्राह्मणम्। "अक्षरेण प्रति मिम एताम् ( ऋ० सं० ७, ६, १३, ३ )"—इति निगमः। 'वाचा विरूपनित्यया'—इत्यर्थे माधवोऽवादीत्। "उपाक्षरा सहस्रिणी ( ऋ० सं० ५, २, १६, ४ )"—इति च निगमः॥

(४७) मही। व्युत्पादिता पृथिवीनामसु (१, १४,)। महते पूज्यतेऽनया देवता इति वा। "अमात्रं त्वा धिषणा तित्विषे मही (ऋ० सं० १, ७, १५, २)"—इत्यत्र वाङ्नामत्वमपि युज्यते॥

(४८) अदितिः। व्युत्पादिता पृथिवीनामसु ( १, १४ )। अदीना, सर्वदा सर्वैः प्रयुज्यमानापि न क्षीयत इत्यर्थः। "अनागसो अदितये स्याम ( ऋ० सं० १, २, १५, ५ )"—इति निगमः॥

(४९) शर्या। अत्र क्षीरस्वामी—'शस्त्र श्वयथ गतौ'। शर्यतीति तु धातुपाठे गत्यर्थो न दृष्टः। 'शब्द व्यक्तायां वाचि ( भू० आ० )' 'इन् सर्वधातुभ्यः ( उ० ४ पा० ११४ )। 'कृदिकारात् ( ४, १, ४५ पा० )'—इति ङीप्। शायते गच्छति यज्ञम्, शप्यते शस्यते आत्मनेऽनयाऽर्थः, शायते व्यक्तं वाचं करोतीति वा। "शर्यानैरस्य उत शृङ्गिस्माभिर्नैक्षितायस्यो अर्क्षं यताम ( निरु० १, ११ )"—इति निगमः॥

( ) निरुक्ता पूर्वमेव ( पृ० ४३ )। "यज्ञाग् पर· ( ऋ० सं० १, ७, ५, ४ )"—इति निगमः॥

(५१) अनुष्टुप् । स्तोभतिर्वृद्ध्यर्थः (भू० आ०)। क्विप्। अनुपूर्वेण क्रमेण, पूर्वमकारात्मना ततः स्पर्शादिभिर्व्यज्यमाना वर्द्धते। तथाचोपनिषत्—'अकारो वै सर्वा वाक् सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा 'परा' 'पश्यन्ती' 'मध्यमा' 'वैखरी' इति। तथाच 'विरूपं वक्ति वाक् तावकं वपुः'—इति संवित्प्रकाशे वामनदत्तः। 'ध्वनिः वर्णः पदं वाक्यमित्याहुः पदचतुष्टयम्। यस्याः सूक्ष्मादिरूपेण वाग्देवीं तामुपास्महे'—इति श्रीभोजदेवः। श्रुतिस्तु 'चत्वारि वाक्परिमितानि पदानि (निरु० १३, ९)'—इत्यत्र निरुक्त्या एव वा वृद्धिः प्रतिपादिता। यद्वा, पूर्वं पञ्चाशदक्षरात्मना सती नयपदादिरूपेण वर्द्धते। तथाहि—'परिमिता वर्णा अपरिमिता वाचो गतिमाप्नुवन्ति'—इति भगवानाश्वलायनः। यद्वा, स्तोभतिरर्चतिकर्मा (निघ० ३, १४)। आनुपूर्व्येण स्तौति देवताः। "अनुष्टुभमनु च चर्य्यमाणमिन्द्रम् (ऋ० सं० ८, ७, १०, ४)"—इति निगमः॥

(५२) धेनुः। 'धेट् पाने (भू० प०)'। 'धेट इच् (उ० ३, ३४)'—इति नुप्रत्ययः, इकारोऽन्तादेशः। धयति तामिति धेनुः, धीयते हि वा तनूस्तनूरुच्चारेण, धेनुपदोपार्थी सर्वकामान् इति वा। 'अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् (ऋ० सं० ८, २, २३, ५)'—इति श्रुतिः। "गौर्गौः कामदुघा सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्यते बुधैः"—इति स्मृतिः। तथाचागमः—'एकः शब्दः सम्यक् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च

कामधुग् भवति (शि० भा०)'—इति। "अभि सप्त धेनवः (ऋ० सं० ७, ३, १६, ५)"—"नैष्टुः सचन्त धेनवः (ऋ० सं० २, ५, २६, ५)"—इति च निगमौ॥

(५३) वल्गुः। 'वल संवरणे (भू० आ०)'। 'वलेगुक् च (उ० १, १६)'—इत्युप्रत्ययः। संवृणोत्याच्छादयति आन् व्याप्नोतीति वाचम्। यद्वा, वल्गतिः शब्दार्थः (भू० प०), बाहुलकादुप्रत्ययः। गर्जितादिलक्षणं शब्दं करोति वल्गुः। "अयं नाभा वदति वल्गु वो गृहे (ऋ० सं० ८, २, १, ४)"—इति निगमः॥

(५४) गल्दा। 'गल अदने' भौवादिः (प०)। गलनं पूर्णं कामानां, गलः पूरणार्थः स्कन्दस्वामिनोक्तः, तद्ददाति। 'आतोऽनुपसर्गे कः (३, २, ३)' गल्दा। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(५५) सरः। 'सृ गतौ (भू० प०)' असुन्प्रत्ययः (उ० ४, १८९)। गत्यर्थाः बुद्ध्यर्थाः। सरति जानाति सर्वं देवतास्थानम्, ज्ञायते वा विद्वद्भिः, सरति गच्छत्येव वाहृता। "सरो न पर्वमभितो वदन्तः (ऋ० सं० ५, ७, ४, २)"—इति निगमः। अत्र प्रकरणात् स्तोत्रशब्दात्मिका वागुच्यते एवं भाष्ये चेष्टम्॥

(५६) सुपर्णी। सुपर्णशब्दो रश्मिनामसु व्याख्यातः (१,५)। 'पाककर्णपर्णपुष्पफलमूल (४, १, ६४)'—इत्यादिना 'ङीष्'। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(५७) बेकुरा। 'भा दीप्तौ (अदा० प०)'—कान्तिं करोतीति किञ्चिद् विगृह्य करोतेरौणादिके कप्रत्यये कृते 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य

(७, १, १०२)'—'बहुलं छन्दसि (७, १, १०३)'—इति आकारस्या-
नोष्ठ्यपूर्वस्यापि उकारो मकारस्य यकारेण आकारस्य एकारेण
च व्युत्पत्तिश्छान्दसत्वात् येकुरा दीप्तिकारिणी प्रयोक्तुः।
"येकुरानामासि जुष्टा (ता० म० ब्रा० १, १, ३)"—इति निगमः।
छन्दोगानां सामकल्पे पठितोऽयं मन्त्रः। 'यचेर्द्योतिकर्मणः
येकुरा'—इति भरतस्वामिभाष्यम्॥

इति सप्तपञ्चाशत् वाङ्नामानि॥ ११॥

अर्णः (१)। क्षोदः (२)। क्षद्मः (३)।
नभः (४)। अम्भः (५)। कबन्धम् (६)।
सलिलम् (७)। वाः (८)। वनम् (९)।
घृतम् (१०)। मधु (११)। पुरीषम् (१२)।
पिप्पलम् (१३)। क्षीरम् (१४)। विषम् (१५)।
रेतः (१६)। कशः (१७)। जन्म (१८)।
बृबूकम् (१९)। बुसम् (२०)। तुग्र्या (२१)।
बुर्बुरम् (२२)। सुक्षेम (२३। धरुणम् (२४)।
सिरा (२५)। अररिन्दानि (२६)। ध्वस्मन्वत्
(२७)। जामि (२८)। आयुधानि (२९)।
क्षपः (३०)। अहिः (३१)। अक्षरम् (३२)।

स्रोतः (३३)। तृप्तिः (३४)। रसः (३५)। उदकम् (३६)। पयः (३७)। सरः (३८)। भेषजम् (३९)। सहः (४०)। शवः (४१)। यहः (४२)। ओजः (४३)। सुखम् (४४)। क्षत्रम् (४५)। आवयाः (४६)। शुभम् (४७)। यादुः (४८)। भूतम् (४९)। भुवनम् (५०)। भविष्यत् (५१)। महत् (५२)। आपः (५३)। व्योम (५४)। यशः (५५)। महः (५६)। सर्णीकम् (५७)। स्वृतीकम् (५८)। सतीनम् (५९)। गहनम् (६०)। गभीरम् (६१)। गम्भरम् (६२)। ईम् (६३)। अन्नम् (६४)। हविः (६५)। सद्म (६६)। सदनम् (६७)। ऋतम् (६८)। योनिः (६९)। ऋतस्य योनिः (७०)। सत्यम् (७१)। नीरम् (७२)। रयिः (७३)। सत् (७४)। पूर्णम् (७५)। सर्वम् (७६)। अक्षितम् (७७)। बर्हिः (७८)। नाम (७९)।

सर्पिः (८०)। अपः (८१)। पवित्रम् (८२)। अमृतम् (८३)। इन्दुः (८४)। हेम (८५)। स्वः (८६)। सर्गाः (८७)। शम्बरम् (८८)। अभ्वम् (८९)। वपुः (९०)। अम्बु (९१)। तोयम् (९२)। तूयम् (९३)। कृपीटम् (९४)। शुक्रम् (९५)। तेजः (९६)। स्वधा (९७)। वारि (९८)। जलम् (९९)। जलापम् (१००)। इदम् (१०१)। इत्येकशतमुदकनामानि ॥ १२ ॥

'उदकनामान्युत्तराण्येकशतम् ( निरु० २, २४ )'—

(१) अर्णः। 'ऋ गतौ (भू० प०)'। 'उदके नुट् च (उ० ४, १९२)'—इति असुन् प्रत्ययः। अर्च्यते तत् प्राणिभिरित्यर्थः। ऋच्छति निम्नं प्रदेशमिति वा अकारान्तोऽप्यस्ति। 'ऋ गतौ ( क्र्या० प० )' पचाद्यच् (३, १, १३४)। ऋणाति गच्छति दिवो भूमिं धूयमाणम्। "सृजदर्णांस्यव यद्युधा ( ऋ० सं० २, ४, १६, ४ )"—"अग्ने दिवो अर्णं मच्छा जिगासि ( ऋ० सं० ३, १, २२, ३)"—इति निगमौ ॥

(२) क्षोदः। 'क्षुदिर् सम्पेषणे' औधादिः स्वरितेत्। असुन् ( उ० ४, १८९ )। क्षुद्यते क्षोदः। क्षुण्णं हि जलं पर्वतादिभ्यः

शिलादिष्वधःपतनात्। "नाया न क्षोदः प्रदिशः पृथिव्याः (ऋ० सं० ८, १, १८, ७)"—"यासां रसाद्‌क्षोदसोदः पिपिन्वथुः (ऋ० सं० १, ७, ३५, २)"—इति च निगमौ॥

(३) क्षम। 'क्षद स्थैर्ये (सौ०)'—इति स्कन्दस्वामी। 'क्षद गतिहिंसनयोः (सौ०)'—इति सुबोधिनीकारः। 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते (३, २, ७५)'—इति मनिन्। क्षदीति पिपासादनियतत्वे। यत्कार्ये स्थिरं भवति जलाशयं व्याप्य स्थिरं भवतीति वा। तथाच 'स्थावराद् गृह्णामि'—इति श्रुतिः, गतावर्ण सोरसमित्यर्थः। हिनस्ति पिपासामुष्णं वा अतीप्सितं वा पुरुषम्। "क्षद्मेवार्येषु तर्त्तरीथ उग्रा (ऋ० सं० ८, ६, २, २)"—इति निगमः॥

(४) नभः। 'णह बन्धने (दि० उ०)' 'नहेर्दिवि भश्च (उ० ४, २०५)'—इति विधीयमानोऽसुन् भकारादेशश्च बाहुलकादुदकेऽपि भवतः। नह्यते हि तन्मेघैर्दिवि भूमौ सेचादिभिः, नह्यति प्राणिनां मनांसीति वा। प्राणिनो हि यत्रोदकं विद्यते तत्रैव स्थातुं मनः कुर्वते। तथा—'समनसः खलु वै पशवोऽनावृतास्ते पशवो हि समनसः'—इति श्रुतिः। न न भातीति वा, एकस्य नञो लोपः इतरस्य नलोपाभावः। भातेरसुनि टिलोपश्च बाहुलकात्। भात्येव स्वया दीप्त्या देवतात्वात्। यद्वा, नभ इव नभः। तथाम्बरनिर्वचने 'अम्बुचराअते'—इत्यादिना ग्रन्थेन आकाशस्य जलसाम्यमुक्तम्, साम्यस्योभयनिष्ठत्वात् अत्र जलमप्याकाशसदृशमित्युच्यते। "मदच्युतमौशानं नभोजाम् (ऋ०

१ ७, ७, २५, ४ )"—"नमोवसानः परियात्यध्वरम् (ऋ० सं० ३, ८, ५)"—इति च निगमौ ॥

(५) अम्भः । 'आप्लृ व्याप्तौ (स्वा० प० )' । उदके नुम्भौच उ० ४, २०४ ), अत्रापो ह्रस्वोऽसुन्निति ( उ० ४, २०२ ) ॥ ति । व्याप्नोति सर्वमम्भः । तथाचाथर्वणी श्रुतिः—'सर्व-मम्भः ( अथ० ब्रा० )'—इति, 'आपो वा इदं सर्वम् ( अथ० )'—इत्यादिरनुपाकाश्च । "अम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ० सं०.८, ७, १७, १)"—इति निगमः ॥

(६) कबन्धम् । 'बन्धिरनिभृतत्वे ( निरु० १०, ४ )' निभृतं लमतोऽन्यदनिभृतमचञ्चलम् तदनिभृतं, कबन्धः कमनीयश्च बन्धं चेत्यर्थः । कर्मेऽप्रत्यये कः, बन्धेः पचाद्यचि बन्धः र निर्वाहः । यद्वा, कं सुखं बध्नाति स्नानपानादिना । कर्म-न । बयोरविशेषात् बकारः, कबन्धम् । नीचीनबारं वरुणः बन्धम् ( ऋ० सं० ४, ४, ३०, ३ )"—"अर्यमणो न मरुतः बन्धिनः ( ऋ० सं० ४, ३, १५, ३ )"—इति च निगमौ ॥

(७) सलिलम् । 'सल गतौ ( भू० प० )' । 'सलिकल्य-महिमड्भिण्डिशण्डिपिण्डितुण्डिकुकिभूभ्य इलच् ( उ० १, ) । सलति गच्छति निम्नं देशं, गम्यते प्राणिभिरिति वा । गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षति ( ऋ० सं० २, ३, २२, १ )" इति निगमः ॥

(८) वाः । 'वृञ् वरणे ( स्वा० उ० )' । स्वार्थिकोऽण् न्दसः, तदन्तात् क्विप्, णिः लोपः, हल्ङ्याद्लिोपः, रेफस्य

विसर्जनीयः । ।वृतं हि तदिन्द्रेण । तथा च श्रुतिः—'अपकामं स्यन्दमाना अचीवरत वाहिकम्'—इति । इन्द्रो दिवः शक्तिनिर्देवः तस्मादर्णमयो हितमिति । "धार्णं यथा रथ्ये व सार्तव (ऋ० सं० २, ५, २५, १)"—इति निगमः ॥

(९) वनम् । "वन षण सम्भक्तौ (भ्वा० आ०)' । पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण (३, ३, ११८)') । वन्यते सेव्यते वनम् । "यथा वातो यथा वनम् (ऋ० सं० ४, ४, २०)"—"सोमो विश्वान्यतसा वनानि (ऋ० सं० ८, ४, १४, ५)"—इति च निगमौ ।

(१०) घृतम् । 'घृ घृ सेचने (भू० प०)' । 'अग्निघृसिम्भ्यः क्तः (उ० ३, ८९)'—इति क्तप्रत्ययः । सेचयत्यनेन भूमिं वरुणः, सिञ्चत्यनेनेति वा । 'कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णाः (ऋ० सं० १, ३२, ८, ४७)'—इत्यत्र 'घृतमित्युदकनाम (निघ० १, १२) जिघर्तेः सिञ्चतिकर्मणः (निरु० ७, २४)'—इति भाष्यम् । यद्वा, 'घृ क्षरणदीप्त्योः (जु० प०)' । गत्यर्थाकर्मकश्लिषादिनाऽकर्मकत्वात् कर्तरि क्तः (३, ४, ७२) । जिघर्ति क्षरति मेघात् पर्वतादिभ्यो वा, दीप्यते वा स्वया दीप्त्या । "आदिद्घृतेन पृथिवी व्युद्यते (ऋ० सं० २, ३, २२, १)"—इति निगमः ।

(११) मधु । मेघोदरवर्ति सलिलं मध्वित्युच्यते । तत्र पुनर्बहुनाम्ना दह्यमानं ततः स्पर्शेन तन्मेनैव वायुना ध्मायमानं धमति (भू० प०) । धमतिर्गतिकर्मा (निघ० २, १४) वा अन्तरायदौ निष्कासने ग्रहणः निर्धार्यते निष्कास्यते हि तत्संघात् ।

यद्वा, 'मद तृप्तौ (दि० प०)'। अस्माद्बाहुलकादुप्रत्ययो धान्तादेशश्च। माद्यन्ति हि तेन पीतेन प्राणिनः। यद्वा, मधुवत् स्वादुत्वात् मध्वित्युच्यते। इमानि स्कन्दस्वामिनिर्वचनानि। वैयाकरणपक्षे तु 'मन ज्ञाने (दि० आ०)'—इति, अस्मात् निदिति (उ० १, ६) वर्तमाने 'फलिपाटिनमिमनिजनां गुक्पटिनाकिधतश्च (उ० १, १८)'—इत्युप्रत्ययो धोऽन्तादेशश्च। मन्यते अतिशयेन जनैः इति मधु। 'मननीयं मधु'—इति भट्टभास्करमिश्रः। "पिद्वान् मध्व उज्झमाना इषो कम् (ऋ० सं० ७, ५, ३३, ५)"—इति निगमः॥

(१२) पुरीषम्। 'पॄ पालनपूरणयोः (जु० प०)'। 'शॄपॄभ्यां किच्च (उ० ४, २७)'—इति ईषन्प्रत्ययः। 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य (७, १, १०२)'—इति उरपरत्वम्। पूरयति जगत् प्रलयकाले, पूर्णोदकेन तडागादि, पालकं वा जगतः शस्योत्पत्तिहेतुत्वात्। प्रीणातेर्वा (क्र्या० उ०) बाहुलकात् कीषन्प्रत्ययः, ईकारस्योकारादेशः च पकारात् परो द्रष्टव्यः। प्रीणाति जगत् पुरीषम्। "उपनम्समुद्रादुत वा पुरीषात् (ऋ० सं० ७, ३, ११, १)"—इति निगमः।

(१३) पिप्पलम्। 'पॄ पालनपूरणयोः (जु० प०)'। 'कल पूपादिभ्यः'—इति कलप्रत्यये 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य (७, १, १०२)'—इति 'बहुलं छन्दसि (७, १, १०३)'—इति बहुलवचनात् उत्वाभावे, बाहुलकात्वात् द्वित्वे, अभ्यासस्य इत्वे, 'अर्तिपिपर्त्योश्च (७, ४, ७७)' 'बहुलं छन्दसि (७, ४, ७८)'—इतीत्वे, उत्तरस्य

पकारस्य द्वित्वमृकारलोपश्चापि। पिपर्त्ति पिप्पलम्। पुरी
समानार्थम्। 'अपि प्लुवते'—इति नैरुक्ताः'—इति क्षीरस्वा
प्लुवतेऽपि। 'प्लुङ्गतौ (भू० आ०)'। गच्छत्यपि। अपिशब्द
तिष्ठतीति च गम्यते। तथाहि—जलं नदीषु प्रवाहवत्त्वा
गच्छति निम्नं प्रदेशं वा। 'जलाशयादिषु तीरादिनिरुद्धत्वा
क्वचिद् गच्छति'—इति माधवः। अपि वा प्लुवतेर्गत्यर्थाद् ऊर्णो
तेरर्ईप्रत्ययो बाहुलकाद् भवति, टिलोपाभावो बाहुलकादेव
पकारस्य द्वित्वमकारोपजनश्च। 'वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुप-
सर्गयोः (२, ४, ८२ आ०)'—इत्यपिशब्दस्याकारलोपः, पिप्पलम्,
पृषोदरादिः। "तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे (ऋ० सं० २, ३, १८
२)"—इति निगमः।

(१४) क्षीरम्। 'घस्लृ अदने (भू० आ०)'। 'घसेश्चि
(उ० ४, ३३)'—इति ईरन् प्रत्ययः, चकारात् किदिति अनुवर्त्तते,
कित्वात् 'गमहनजन (६, ४, ९८)'—इत्युपधालोपः, 'शरि च
(८, ४, ५५)'—इति खर्त्वं घकारस्य ककारः, 'शासिवसिघसीनाञ्च
(८, ३, ६०)'—इति षत्वम्। अदन्ति तदिति क्षीरम्। 'क्षर सञ्च-
लने (भू० प०)'—इत्यस्माद् बाहुलकात् ईरन्प्रत्ययः टिलोपश्च।
क्षरति हि तद् मेघात्। "क्षीरेण स्नातः कुयवस्य योषे (ऋ० सं०
१, ७, १८, ३)"—इति निगमः॥

(१५) विषम्। 'विष्लृ व्याप्तौ (जु० उ०)'। 'विषेर्व्याप्तिकर्मणि'
—इति क प्रत्ययः। वेवेष्टि व्याप्नोति सर्वं विषम्। यद्वा, विष्-
धातुः 'एषा शोषे (अदा० प०)'—इत्यस्मात् 'अन्येष्वपि दृश्यते

(३, २, १०, १)'—इति जनेर्विधीयमानो डप्रत्ययो बाहुलकाद् भवति, णकारलोपोऽपि बाहुलकादेव। विशेषेण स्नात्यनेनेति विस्नम्, तद्धि प्रथमं शौचसाधनम्। विपूर्वात् सन्तेर्वा पूर्ववत् डप्रत्ययः। तद्धि स्नानपानावगाहनादिभिः सेव्यते। "आर्त विष्याचो अहते विषेण (ऋ० सं० १, ८, १६, १)"—"केश्य ऽग्निं केशी विषम् (ऋ० सं० ८, ७, २५, १)"—इति च निगमौ॥

(१६) रेतः। 'रि रीङ् स्रवणे' दैवादिकः (आ०)। स्नुरिभ्यां तुट् च (उ० ४, १६७)'—इत्यसुनप्रत्ययो तुडागमश्च गुणः। रीयते स्रवति रेतः। यद्वा, दृष्टिलक्षणानामपां देवानां रेतस्त्वाद्रेत उच्यते तथाचोपनिषत्—'देवानां रेतो वर्षम्'—इति। "अस्मे रेतः सिञ्चतं यन्मनुर्हितम् (ऋ० सं० ५, १, २४, २)"—"सप्तार्द्धगर्भा भुवनस्य रेतः (ऋ० सं० २, ३, २१, १)"—इति निगमौ॥

(१७) कशः। 'कश गतौ (भू० प०)' 'कश शब्दे (भू० प०)' उभयोरसुन् (उ० ४, १८४)। कशति गच्छति निम्नं प्रदेशम्, मेघेभ्यः पतन् शब्दं करोतीति वा कशः। "याभिर्महामतिथिग्वं कशो जुवम् (ऋ० सं० १, ७, ३५, ४)"—इति निगमः॥

(१८) जन्म। 'जनी प्रादुर्भावे (दि० आ०)'। 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (३, २, ७५)'—इति मनिन्, औणादिको वा (उ० ४, १४०)। जायते सृष्टिकाले सकारणात्। 'अग्नेरापः (तै० उ०)'—इत्युपनिषत्। जायन्ते वास्मिन् जलचारिणो मत्स्यादयः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(१९) पृथूकम्। प्रथतिः शब्दार्थात् (अदा० उ०), भ्रंशतेर्वा-
धःपतनार्थात् (भू० आ०), उभाभ्यां समुदिताभ्यां 'उल्का-
दयश्च (उ० ४, ४०)'—इति ऊकप्रत्यये निपातनाद्रूपसिद्धिः।
'ऊकप्रत्यये धातुद्वयस्य पृथूभावः,—इति श्रीनिवासः।' प्रमे-
यार्थः—तद्धि विपतन् साध्याकारं शब्दं करोति, भ्रश्यति
दिवोऽनावरणत्वात्, मेघेभ्यो भ्रश्यति शब्दयत्येति "पृषा
पृथूकं वहतः पुरीषम् (ऋ० सं० ७, ७, १६, ३,)"—इति
निगमः॥

(२०) वुसम्। विपूर्वात् स्नातेः (अदा० प०) 'आतश्चोप-
सर्गे (३, ३, १०६)'—इति कप्रत्यये उपसर्गेकारस्योकारो
बाहुलकाद् भवति, धातोर्नकारलोपोऽपि बाहुलकादेव। विशेषेण
स्नात्यनेनेति वुसम्। तद्धि प्रथमं शौचसाधनम्। भ्रंशतेर्वा
पचाद्यचि (३, १, १३४), पृषोदरादित्वादूदर्तायं रूपम्।
पूर्ववदर्थः। यद्वा, 'वुस उत्सर्गे (दि० प०)'। 'गेहे कः
(३, १, १४४)'—इति बाहुलकादस्मादपि भवति। वुस्यते
उत्सृज्यते मेघैरिति वुसम्। "भायिः स्वः कृणुते गूहते वुसम्
(ऋ० सं० ७, ७, १९, ४)"—इति निगमः॥

(२१) तुम्रः। तुजनिर्हिंसायाम् (भू० प०)। 'स्फि च
(३, २, ७६)'—इति क्विप्। तुजन्ति हिंसन्ति तम औरण्येन
जनानिति वा तुजो यमरः। तद्वान् तुम्रः। तं मन्यतीं-
यां निरालयने। तुम आदित्यः, तत्र भवा तुम्रा। 'मर्त
(४, ४, ११०)'

वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः'—इति मनुः ( ३ अ० ७६ श्लो० )। यद्वा, तुभ्रशब्देन ग्रीष्म उच्यते, अतिशयेनादित्य किरणवान् हि ग्रीष्मकालः। 'तत्र साधुः ( ४, ४, ९८ )'—इति यत्। तुभ्र्या। 'अभ्राकाशयज्ञपरिच्छेदेषु तुभ्रशब्दः'—इति वृत्तिकारः। तत्र भवे इत्यर्थे 'तुग्राद् घन् ( ४, ४, ११५ )'—इति घन्प्रत्यये प्राप्ते व्यत्ययेन 'भवे छन्दसि ( ४, ४, ११० )'—इति यत्। 'तुभ्र्या आपः'—'तुभ्र्यमुदकम्' उभयमपि दृश्यते। 'अग्नेरापः ( तै० उ० )'—इत्यपां कारणत्वेन अग्नेः श्रुतत्वात्, अग्नेर्वै धूमो जायते, धूमादभ्रम्, अभ्राद् वृष्टिः ( मु० उ० २, ५ )—इति क्रमेण वा आकाशे वृष्टिलक्षणेनापां विद्यमानत्वात्, यज्ञस्यापि 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिः'—इति ( मनुः ३ अ० ७६ श्लो० ) पारम्पर्येण वृष्टिहेतुत्वात्। सर्वैश्वर्यवत्तया वरिष्ठ इन्द्रो विवक्षितः, वृष्टिप्रदानाद्वा, तस्मात् तत्र भव इत्येषोऽर्थः सर्वत्र यथाकथञ्चित् सङ्गमयते। "आधः शर्म वृषभं तुभ्र्यासु ( ऋ० सं० १, ३, ३, ५ )"—"उत वस्तुभ्र्ये सचा ( ऋ० सं० ६, ३, ४, ५ )"—इति च निगमौ॥

(२२) वुर्वुरम्। 'पॄ पालनपूरणयोः ( क्र्या० प० )'। 'गेहे कः ( ३, १, १४४ )'—इति बाहुलकात् कः। 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य ( ७, १, १०२ )'। पुरम्। वपुषः शरीरस्य पूरकं पालकं वा वपुः पुरं सत्। पृषोदरादित्वात् ( ६, ३, १०९ ) वकाराकारलोपेन पकारद्वयस्य बकारादेशो विसर्जनीयस्य रेफादेशोऽ

चुर्वुरम्। घुर्वुरमस्मिन्नस्तीति वा मत्वर्थीयोऽकारः (५, २, १२७) घुर्वुरत्वन्। निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(२३) सुक्षेम। 'क्षि निवासगत्योः (तु० प०)' 'क्षि क्षये (भू० प०)'—इत्यस्माद्वा 'अर्त्तिस्तुसुहुसृधृक्षिक्षुभायावापदियक्षिनीभ्यो मन् (उ० १, १३७) बाहुल्यकादभिधानलक्षणाद्वा। 'क्षि ण्वकारस्यैत्त्वमत्र न भवति'—इति उणादिवृत्तिः। क्षियन्ति निवसन्त्यनेन प्राणिनः, गच्छन्त्यनेन पन्थानमिति वा, उपरिभागेन क्षीयते वा। यद्वा, पूर्वस्माद् धातुद्वयान्मनिनि रूपसिद्धिः। 'सुक्षेम'—इति माधवः पठति, निगमदर्शनान्निर्णेयः। 'वृष्टे त्वा क्षेमाय त्वा (य०)'—इत्यत्र क्षेमशब्द उदकनामानि भवितुमर्हति ॥

(२४) धरुणम्। 'धृञ् धारणे (भू० उ०)'। 'हेतुमति च (३, १, २६)'—इति णिच्। धारेर्णिलुक् च उनन्प्रत्ययः। धारयति जगत् धरुणम्। "वशां पिनर्वा धरुणेषु तस्थौ (ऋ० सं० ७, ५, ३३, ६)"—"धीता इव उ पृथवीं धरुणम् (ऋ० सं० ७, ९, ४१, १)"—इति निगमौ ॥

(२५) सिरा। 'सृ गतौ (भू० प०)'। 'स्फायितञ्चि (३, १, १३४) रक् (४, १, ४)' इत्वम्, ऋकारस्येकारो व्यत्ययेन (३, १, ८५)। "वृषभस्यार्ते सिराणु (ऋ० सं० १, ८, २६, १)"—इति सिराः। 'सरणशीलास्वप्सु'—इति माधवभाष्यम्। 'सूर्य'—इति केचित् पठन्ति। 'षुञ् अभिषवे (स्वा० उ०)' [illegible] वर्तन्यम्—इति [illegible]। 'पृ प्रसवे' [illegible]

दादित्व (ग०)। 'सृवृभूशुषिमुषिभ्यः कक् (उ० २, २३)'—इति कक्प्रत्ययः। मृजोति बलेदयति मृक्तिमिति। प्रार्तीति अनु-जानाति स्वस्यानुरूपमिति स्वस्वत्वा, मृजते वा यौवाँ व्याप्तिना मिलित्वेत्यर्थः। यद्वा, 'सुर ऐश्वर्ये' तुदादिः (ग०)। सुरति ईष्टं भवति आत्मवन्तं समर्थो भवतीत्यर्थः। निगमोऽन्वे-षणीयः॥

(२१) अरिन्दानि। 'दा दाने (भ्वा० प०)'। 'आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च (३, २, १७१)'—इति किन्प्रत्ययः। लिड्वद्भावात् द्विर्वचनादिः। ररिर्दाता। ररिर्धनस्य प्र-यितने तद्ररि, अत्यन्तदानमित्यर्थः। तद्दाति 'आतोऽनुपसर्गे कः (३, २, ३)' अररिदम्। मकार उपजनः अररिन्दम्। अथवा 'हरपत्सुदो बहुलम् (३, ४, ११३)'—इति कर्मणि क्विम्पनि। ररि-दानम्, न ररि अररि-अदत्तम् पृथिव्यादिभिः, किन्तम्? सुखम्। अररि दत्तानि पूर्वम्। उदकेन यदीयते सुखादिकं तथान्यैः पृथिव्यादिभिः दातुमशक्यमत्यादत्तमित्युच्यते। "अधा-रयदररिन्दानि सुक्रतुः (ऋ० मं० ८, २, ४, ५)"—इति निगमः। अत्र 'अदत्तदानमुदकैः'—इति माधवनिर्वचनानुक्रमणी॥

(२२) ध्वस्मन्वत्। 'ध्वंसु गतौ च (भ्वा० आ०)'। चकारा-दधःपतनेऽपि। औणादिको मनिन् भावे (उ० ४, १४०)। बाहुलकादुल्लोपः (६, ३, १)। ध्वस्म ध्वंसनं मेघेभ्यः पर्वता-दिभ्यो वा अधःपतनं निम्नप्रदेशागमनम्। जलादिपतनं वा गम-नमस्यास्तीति मतुप्, 'अनो नुट् च (८, २, १६)'—इति मतुपो-

नुडागमः, नुटोऽसिद्धत्वात् (८, २, १) तस्य च षत्वं भवति (८, २, ३)। 'ध्वसन्वत् स्यात् ध्वंसनवत्'—इति माधवनिर्वचनानुक्रमणी। "सं त्वा ध्वसन्वदभ्येतु पाथः (ऋ० सं० ४, ५, ११, २)—इति निगमः। माधवस्तु 'समभ्येतु त्वां प्रवृद्धं यद्धमानं ध्वंसनक्रियायुक्तमन्नं यचनं स्पृहणीयं सहस्रसङ्ख्याकम्'—इत्यभाषयत् ॥

(२८) आमि। आमेर्गतिकर्मणः (निघ० २, १४) 'घसिवपियजि (उ० ४, १२१)'—इत्यादिना विहित इम् बाहुलकात् भवति। जमति गच्छति निम्नं प्रदेशं, गम्यते वा जलार्थिभिः। यद्वा, 'जनी प्रादुर्भावे (दि० आ०)'। अस्मात् 'जनिघसिभ्यामिण् (उ० १२६)'—इति इण्प्रत्ययो बाहुलकादकारादेशश्च दीर्घः (३, ३, १)। आयतेऽस्मात् पृथिव्यादि, जायते वा सं कारणात् 'अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवीति (तै० उ०)' श्रुतेः। "आमियत्"—इत्यन्ये पठन्ति। निगमदर्शनाभिप्रायः ॥

(२९) आयुधानि। 'युध सम्प्रहारे (दि० आ०)'। 'घञर्थे कविधानम् (३, ३, ५८ वा०)'—इति कः। आयुध्यन्त्यनेनेत्यायुधम्। यद्वा, 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः (३, १, १३५)'—इति कर्तरि कः। आयुध्यन्ते सम्प्रहरन्ति रक्षांसि। जनि आयुधानि। "इन्द्रे सन्त्विषु भक्तायुधानि (ऋ० सं० ७, ४, ८, २)"—"आपि प्रवाल आयुधानि वेति (ऋ० सं० ७, ६, ५, १)"—इति च निगमौ ॥

(३०) श्वल:। 'श्वल शीघ्रगतौ (भ्वा० प०)'। कलादिभ्यश्च-कोऽपि 'कुर्भ्रश्चिर्गाम् (उ० ना० सू०)'—इत्यलोपादन-

त्वेन धातुवृत्तौ पठ्यते। असुनि णिलोपः। क्षिपयति प्रेरयति नाशयति पिपासाम्। "क्षपो जिन्वन्तः पृषतीभिर्ऋष्टिभिः ( ऋ० सं० १, ५, ७, ३ )"—इति निगमः॥

(३१) अहिः। मेघनामसु निरुक्तम् (१, १०) गच्छन्ति निम्नं प्रदेशम्, आभिमुख्येन हन्ति तापम्, अहिंसकं वा प्राणिनाम्। "पृथिव्या निशशा अहिम् ( ऋ० सं० १, ५, २१, १ )"—इत्यत्र 'शश प्लुतगतौ ( भ्० प० ), अन्तर्णीतण्यर्थः, निर्गमभूमौ पातन-मुच्यते, अहिम् मेघं वृत्रमित्यर्थः'—इति स्कन्दस्वामिभाष्यम्। उदकं भवितुमर्हति। अन्वेषणीयो निगमः॥

(३२) अक्षरम्। निरुक्तं वाङ्नामसु (१, ११) व्याप्नोति जगत्, अश्यते भुज्यते वा प्राणिभिः, अनक्ति सेचयति भूमिं वा, न क्षरति क्षीयते कदाचिदपीति वा। "ततः क्षरत्यक्षरम् ( ऋ० सं० २, ३, २२, २ )"—इति निगमः॥

(३३) स्रोतः। 'स्रु गतौ ( भ्० प० )'। 'स्रुरीभ्यां तुट् च (उ० ४, ११७)'—इत्यसुन्। स्रवति निम्नं देशम्। "अन्वन् स्रोतः कृणुते गातु मूर्मिम् ( ऋ० सं० १, ७, २, ५ )—इति निगमः॥

(३४) तृप्तिः। 'तृप् प्रेरणे ( दि० प० )'। क्तिन्। यद्वा, 'क्तिच्क्तौ च सञ्ज्ञायाम् ( ३, ३, १७४ )'—इति क्तिच्। तृप्यन्ति हि देवतास्तेन तर्पिताः, तृप्यन्ति तेन पीतेन प्राणिन इति वा। तथा च श्रुतिः—'मन्ये भेजानो अमृतस्य तर्हि हिरण्यवर्णा अतृपं यदा वः ( अथ० सं० ३, १३, ६ )'। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(३५) रसः। रसतिः शब्दार्थः (भ्० प०)। पचाद्यच् (३,

१, १३४)। रसति हि तत्कोपपर्णादिभ्यः पयम्। यद्वा, 'रस आस्वादने (चु० प० अ०)'। 'पुंसि संज्ञायां घः (३, ३, ११८)'। रस्यते आस्वाद्यते जिह्वया लिह्यते इति रसः। यद्वा, रसोऽत्र गुणः, गुणगुणिनोरभेदोपचारेणाभ्यासने, मत्वर्थीयस्य लुग् वा रसवत्त्वात् रसः। यद्वा, रसतिरर्चतिकर्मा (३, १४), पचाद्यच् (३, १, १३४), अर्चति देवतात्वात्, अर्च्यतेऽनेन देवता इति वा। "आ त्वा विशन्त्विन्दवः (ऋ० सं० ६, ६, ११, २)"—इति निगमः॥

(३६) उदकम्। 'उदकञ्च ( उ० २, ३६ )'—इत्युणादिसूत्रेण उदकशब्दो निपात्यते। क्वुन्प्रत्यये उनतेरुपूर्व्वस्यधातुलोपः। उत्त्वायते तदु वायुना विभज्यमानं कर्म, उत्खनति वा भूमिं स्वेन वेगेन कर्त्ता। उत्पूर्वस्य धाञ्चतेर्लोपः उदकमिति, उदञ्चतीत्युदकम्। "उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते ( अथ० सं० ३, १३, ४ )"—इति, "समानमेतदुदकम् (ऋ० सं० २, ३, २३, ५)"—इति, "मण्डूका इवोदकान् (ऋ० सं० ८, ८, २४, ५)" —इति, "मण्डूका उदकादिव ( ऋ० सं० ८, ८, २४ ५)"—इति च निगमः॥

(३७) प्रयः। 'प्रीञ् तर्पणे ( क्र्या० प० )'। असुन् ( उ० ४, १८९ )। तृप्यन्तेऽनेन देवताः। यद्वा, प्रपूर्वात् यमतेः ( भ्वा० प० ) असुनि टिलोपो बाहुलकात्। प्रकर्षेण गच्छन्ति प्रयः। "आपो न द्वीपं दधति प्रयांसि ( ऋ० सं० २, ४, ८, ३ )"—इति निगमः॥

(३८) सरः। 'सृ गतौ (भू० प०)'। असुन् (उ० ४, १८९)। सरति स्रियते वा सरः। "साकं सरांसि त्रिशतम् (ऋ० सं० ६, ५, २६, ४)"—इति निगमः॥

(३९) भेषजम्। 'भिषज् चिकित्सायाम्' कण्ड्वादिः (प०)। पुंसि संज्ञायां घः (३, ३, ११८)। भिषज्यन्त्यनेन भेषजम्, 'अनन्तावसथेतिह भेषजात्'—इति निर्देशात् साधु। "आप इद्वा उ भेषजीरापो (ऋ० सं० ८, ७, २५, ६)"—इति श्रुतिः। 'भेषं रोगं जयति'—इति दुर्गः। यद्वा, भेषजमस्मिन्नस्तीति भेषजम्। अर्श आदिभ्योऽच् (५, २, १२७)। तथा "अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा (ऋ० सं० १, २, ११, ५)"—इति श्रुतिः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(४०) सहः। सहिरभिभवार्थः (दि० प०), अभिभवते उपशमति वा। यद्वा, सहो बलं (निघ० २, ६), तदस्यास्तीति मत्वर्थीयस्य लुक् (१, ४, १६ वा०)। बलवत् हि बलम्। "भवतां पुरुहूत शिश्नते (ऋ० सं० ३, २, ३, ३,)"—इति निगमः। सकारलोपश्छान्दसः॥

(४१) शवः। 'टुओश्वि गतिवृद्ध्योः (भू० प०)'। 'श्वेः सम्प्रसारणञ्च (उ० ४, १८८)'—इत्यसुन्। श्वयति गच्छति वर्धते वा वर्षाकाले। शवतेर्वा गतिकर्मणः (निघ० २, १४) असुन्। शवति गच्छति शवः। निगमोऽन्वेषणीयः। माधवेन स्वीये नामनिघण्टौ 'शवः'—इत्येतन्नापाठि, 'शिवम्'—'शवम्' इत्येते पठिते। द्विनीयमाशनाशियासु भाष्ट्र मतीयं

शपत्तयो वदन्ति। शिवमिति सनिगमं दृष्टमपि भाषायामपि जलपर्यायत्वात् अत्र तत्पर्यायेण तस्य पाठे प्रयोजनं मन्दम्, शापमित्येतत्त्वत्यन्ताप्रसिद्धम् प्रायः पूर्वाचार्य्यैः समाम्नाये अपठितम्। अस्य च उदकनामत्वेनाप्रसिद्धत्वात्, शवस्य ओजः सहः इत्याभ्यां सह प्रसिद्धपाठेऽत्र दृष्टत्वात्, प्रायोऽक्षरसाम्यात् लेखकैः प्रायेण शव इति लिखितमिति। शपन्त्यनेनेति शापम्। 'अकर्त्तरि च कारके सञ्ज्ञायाम् ( ३, ३, १९ )'—इति घञ्। हस्ते ह्युदकमादाय शपन्ति मुनय इति श्रूयते॥

(४२) यहः। यातं प्राप्तं पिपासितैः, हुतं च यहो देवतात्वात्। अस्तुति यातेर्ह्वयतेश्च द्विधातुजं रूपम्, पृषोदरादिः (६, ३, १०९)। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(४३) ओजः। 'उब्ज आर्जवे ( तु० प० )'। 'उब्जेर्बलोपश्च ( उ० ४, १८९ )'—इत्यसुन्, बाहुलकादुदकेऽपि भवति। उब्जनेरुपरक्ते न्यग्भावार्थश्च। उब्जनेर्वा नैरुक्तधातोर्वृद्धिकर्मणोऽसुन्प्रत्ययः। उब्जत्यनेनेत्युक्तं। न्यग्भावयति वा सर्वेनानतप्रदेशं, वर्द्धते वा वर्षासु बलयद्वा। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(४४) सुखम्। सुखावहत्वात् सुखम्। 'सुखं कस्मात्! सुहितं खेभ्यः ( निरु० ३, १३ )'—इति भाष्ये स्कन्दस्वामी। सुष्ठु हितं खेभ्यः। नेयं हितयोगलक्षणा चतुर्थी ( १, ४, ४४ वा० ), इन्द्रियाणामचेतन्यात् सुखादिभिरसम्बन्धात्, अत इयं हेतौ पञ्चमी ( २, ३, २५, ), इन्द्रियविषयसन्निकर्षस्य सुखहेतुत्वात् उपपन्ने इन्द्रियाणां हेतुत्वेऽकरणत्वात्सुखसम्बन्धानुपपत्तेः

सम्बन्धयोग्यपदार्थान्तराध्याहारः। अतिशयेन हितं पुरुषस्य, खेभ्यः खहेतुकमित्यर्थः। हितं वा पुरुषे आत्मधर्मत्वात् सुखादीनां धर्माधिकरणत्वाच्च धर्मिणाम्। अथवा खेभ्य इति चतुर्थ्येव, खशब्देन च आत्मा मनसा संयुज्यते मन इन्द्रियेणेति सन्निधिसम्बन्धात् पुरुष एवोच्यते इति यथाश्रुतसम्बन्धः। तथाचोपनिषत्—'घर्म्यः स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यो यथा क्षुरः'। क्षुरधाने अव्यवहितं स्यादित्युपलक्ष्य प्राणान्ते च प्राणानां भवतीति प्राणादिशब्दैस्तस्योहसितं दर्शयति—'खं पुनः खनतेः (निरु० ३, २१)' उत्पूर्वस्य उत्खनति विनाशयति, किम्? परब्रह्मप्राप्तिसुखम्, कथम्? कामसुखप्रवृत्तेरधोगमनात् इति सुखम्। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(५८) क्षत्रम्। 'क्षदिः सौत्रः'। 'क्षद स्थैर्ये' इति स्कन्दस्वामी। माधवपक्षे क्षदिः शकलीकरणार्थो हिंसार्थश्च। 'क्षद गतिहिंसनयोः'—इति सुबोधिनीकारः। गुधृवीपचिवचियमि[सदि] सदिक्षदिभ्यस्त्रः (उ० ४, १६२)'। वर्षाव्यतिरिक्तेषु ऋतुषु सूर्यरश्मिभिराहृता आपो मेघेषु घनीभूताः पाषाणवत् स्थिरा भवन्ति, जलाशयं प्राप्य वा, अश्यते भुज्यते वा, अतिपीतं श्लेष्मादि जनयित्वा प्राणिनो हिनस्ति वा, गच्छति निम्नं गम्यते वा तदर्थिभिः। यद्वा, क्षत्रशब्दो बलनाम। अर्श आद्यच् (५, २, १२७)। बलवद्धि जलम्। धननाम वा (निघ० २, १०), तद्धेतुत्वात्साच्छब्द्यम्। क्षतादभ्यूहिरस्मात् क्लेशात् त्रायन्ते इति वा क्षतशब्दात् त्रायतेश्च क्षत्रम्, पृषोदरादिः (६, ३, १०९)। "युवं

नो येषु वरुण क्षत्रम् (ऋ० सं० ४, ४, २, ६)"
बृहच्च बलमन्नं वेति माधवभाष्यम्। "उत द्यावापृथिवी क्षत्रमु
ऋ० सं० ४, ८, ८, ३)"—इत्यत्र च क्षत्रं धनमिति इत्य
उभयमप्युदकं भवितुमर्हति ॥

(४६) आवयाः। आङ्पूर्वात् 'वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्य
सनखादनेषु (अदा० प०)'—इत्यस्मात् 'वणश्चासिः (उ० ४, २१६)'
—इति बाहुलकादासिप्रत्ययः। उपसर्गश्च धात्वर्थानुवर्तकः
आभिमुख्यार्थो वा, अव्यते वीयते आभिमुख्येन गम्यते इति वा
आवयाः। निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(४७) शुभम्। 'शुभ दीप्तौ (भ्वा० आ०)'। क्विप्प्रत्ययः। शोभते
दीप्यते स्वेन तेजसा देवतात्वात्। द्वितीयैकवचनस्य प्रयोगो
यथादृष्टम्। "शुभं पृक्षमिषमूर्जं वहन्त (ऋ० सं० ५, १, १, ४)"—
"इदं जनाय वहथः शुभस्पतीः (ऋ० सं० ७, ८, १८, ४)"—"द्रवत्-
पाणी शुभस्पती (ऋ० सं० १, १, ५, १)"—इति च निगमाः ॥

(४८) यादुः। 'या प्रापणे (अदा० प०)'। 'भृमृशीङ्तृ
चरित्सरितनिधनिमिमस्जिभ्य उः (उ० १, ७)'—इति बाहुलकाद्
प्रत्ययो दुगागमश्च। यान्ति निम्नं प्रदेशं यादुः। 'यादुः स्यात्
गमनक्रियम्'—इति माधवः। तदानीमुदकस्य यो बाहुलकात्।
"इदानि मन्त्रं यादुरि (ऋ० सं० २, १, ११, ६)" इत्यत्रस्कन्द-
स्वामी—'यादुरिमुदकम्, तौ मन्त्रधीनः'—इति ॥

(४९) भूमम्। 'भू सत्तायाम् (भ्वा० प०)' निपातनात्
कर्मणि। पूर्ववत् मम्, भूमम् प्रथमद्वित्वात्। 'भवत्य गम

जांदौ तासु बीजमवासृजत् ( १ अ० ८ श्लो० )'—इति मनुः। अथवा 'भू प्राप्तौ ( चा आ० )'—इति धातुः। प्राप्यं पिपासितैः। यद्वा, पञ्चसु पृथिव्यादिषु महाभूतेष्वन्तर्भावात् भूतमित्युच्यते। 'मातान्तरिक्षे निर्मीयन्ते अस्मिन् भूतानि ( २, ८ )'—इति निरुक्त पयोदाहरणम्। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(५०) भुवनम्। 'भू सत्तायाम् ( भ्वा० प० )'। 'भूसुधूभ्रस्जिभ्यश्छन्दसि ( उ० २, ७९ )'—इति क्युन्प्रत्ययः, उवङादेशः। भवन्त्यनेन सर्वे पदार्था इति भुवनम्। "य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वत् ( ऋ० सं० ८, ३, १६, १ )"—"इमा च विश्वा भुवनान्यस्य ( ऋ० सं० ३, ३, ३१, ४ )"—इति च निगमौ॥

(५१) भविष्यत्। भवतेरेव। 'लृट् शेषे च (३, ३, १३)'—इति लृट्, 'लृटः सद्वा (३, ३, १४)', 'स्यतासी लृलुटोः (३, १, ३३)' इडागमः ( ७, २, ३५ )। जलं हि आगामिन्यपि काले विद्यते, प्रलयेऽपि जलत्वस्य नाशाभावात्। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(५२) महत्। 'मह पूजायाम्' भ्वादिः (प०)' कथादिश्च ( चु० उ० )। अस्मात् 'वर्तमाने पृषन्महद्बृहज्जगच्छतृवच्च (उ० २, ८८)'—इति निपातनम्। महति महयति वा देवता मनेन पुरुषस्येति महत्, महने वा देवतात्वात्। यद्वा, मानेन स्वगतेन परिमाणेन अन्यान् स्वस्मादूनप्रमाणान् पदार्थान् जहाति अतिक्रामति 'दशोत्तराण्यावरणानि सप्त'—इत्यत्र विष्णुपुराणे सर्वमहत्त्वं जलतत्त्वस्योक्तम्। मानशब्दाज्जहातेश्च पृषोदरादि-

त्वाद्रूपसिद्धिः । "महत्त उल्बं स्थविरं तदासीत् (ऋ० सं० ८,
१०, १)"—इति निगमः ।

(५३) आपः । एतदुक्तसमानार्थम् । कृत्स्नं तामिद्धि
सम्, आप्नोतेः सङ्ग्रहकर्मकत्वात् । तथाचाथर्वणिका श्रुतिः—
'आपो अग्रे विश्वमावन् (अथ० सं० ४, २, ६)'—इति । यद्वा
कर्मणि क्विप्, इन्द्रेण आप्ता आपः, तदाप्नोतीन्द्रो वा । 'तदाप्नोदिन्द्रो
वो यतीस्तस्मादापो अनु ष्ठन (अथ० सं० ३, १३, २)'—इति श्रुतिः ।
"आपो हि ष्ठा मयोभुवः (ऋ० सं० ७, ४, ५, १)"—इति निगमः ।

(५४) व्योम । निरुक्तमन्तरिक्षनामसु । (३) व्ययति प्राणिनः
संवृणोति भूमिमिति वा । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(५५) यशः । 'अशू व्याप्तौ (स्वा० आ०)'—अश भोजने
(क्र्या० प०)। 'अशेर्देवने युट् च (उ० ४, १८९)'—इत्येतस्मा
द्धातुरुक्तादुदकेऽपि भवति । 'अशेर्युट् च'—इत्येव श्रीभोजदेवः
अश्नुते व्याप्नोति जगत्, अश्यते वा प्राणिभिः । "तिर्यग् बिल
श्चमस ऊर्ध्वबुध्नो यस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम् । अत्रासत
ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः (अथ० सं० १०,
८, ९)"—इति निगमः ॥

(५६) महः । महदित्यनेन समानम् । महतेरसुन्
(उ० ४, १८८)। "महो जिनाति महिनि (ऋ० सं० ४, ४, २१,१)"
—इति निगमः । 'महो अर्णः (ऋ० सं० १, १, ६, ३—निरु०
११, २७)'—इत्यत्र 'मह उदकनाम'—इति स्कन्दस्वामी ।
"महोभ्यः स्वाहा"—इति च ॥

(५७) सर्णीकम्। 'सृ गतौ ( भ्वा० प० )'। 'सर्त्तेर्नुम् च (उ० ४, २३)'—इतीकन्प्रत्ययः। अधिकृतं कित्त्वन्तु बाहुलकान्न भवति, गुणः, धावति सर्णीकम्। "सलिलाय त्वा सर्णीकाय त्वा सतीकाय त्वा"—इति निगमः॥

(५८) स्तृतीकम्। स्तृ शब्दोपतापयोः (भ्वा० प०)' स्वरतिर्गत्यर्थः (निघ० २, १४), अर्चतिकर्मा च (निघ० ३, १४)। 'अलीकादयश्च (उ० ४, २५)'—इतीकन्प्रत्ययान्तेषु द्रष्टव्यः, निपातना त्तुगागमः। शब्दं करोति, गच्छति, पूज्यन्तेऽनेन देवताः, पूज्यते वा स्वयं देवतात्वात् इति स्तृतीकम्। निगमोऽन्वेषणीयः॥ "सतीकम्"—इति केचित् पठन्ति। 'षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु (भ्वा० तु० प०)'—पूर्ववदीकन् (उ० ४, २५), दकारस्य तकारः। गच्छति अवसीदति कुड्यादि अनेनेति वा। "सतीकाय त्वा" —इति पूर्वमुक्तो निगमः। अत्र सशब्देऽवग्रहकरणं पदकाराणामभिप्रायस्य वैचित्र्यात्॥

(५९) सतीनम्। पूर्ववत् सर्वम्, दकारस्य तकारोऽपि निपातनात्। यद्वा, सती शोभना असौ, सामर्थ्यान्माध्यमिका वाक्, सा ईना ईश्वरा यस्य तत् सतीनम्, 'संज्ञापूरण्योश्च (६, ३, ३८)' —इति पुंवद्भावनिषेधः। "अधो सतीन कङ्कतः ( ऋ० सं० २, ५, १४, १ )"—इति निगमः। "सतीन सत्वाहव्यो भरेषु ( ऋ० सं० १, ६, ८, १)"—इति च॥

(६०) गहनम्। 'गाहू विलोडने ( भ्वा० आ० )'। 'युच् बहुलम् ( उ० २, ७४ )'—इति युच्प्रत्ययः, बहुलवचनाद्ध्रस्वत्वम्।

अपगतानि प्राणिभिः गहनम्। "अम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् (ऋ० सं० ८, ७, १७, १)"—इति निगमः। अत्राम्भः गम्भीरमि-त्येवं निरुक्तया योजनीयं ॥

(६१) गभीरम्। गमेर्धातोः 'गभीरगम्भीरौ (उ० ४, ३४)'—इति नुगागमः ईरन्प्रत्ययो मकारलोपश्च निपात्यते। गच्छति यतोऽप्याहर्तुं यसतीयम्प्याद्रिरूपेण। "पाहि शग्ने गभीर मां (ऋ० सं० ६, ४, ५३, १)"—"न तं हन्ति स्रवतो गभीराः (ऋ० सं० ८, ६, ५, ४)"—इति च निगमौ ॥

(६२) गम्भरम्। 'एदरादयश्च (उ० ५, ४२)'—इत्यप्रत्ययान्तेषु द्रष्टव्यः। निपातनाद् गभेरन् मडागमश्च। 'पूर्ववदर्थः। यद्वा, 'ग्रह उपादाने (क्र्या० उ०)' पूर्ववदरन्, 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' (सि० कौ० वै० ३ अ०)। रेफस्य मकारो बाहुलकात् स चाकारात् परः। गृह्यते यसतीयम्प्यादित्वेन। "गम्भरेषु प्रतिष्ठाम् (ऋ० सं० ८, ६, २, ४)"—इति निगमः ॥

(६३) ईम्। अव्ययमिदम्। "वि यदस्रौ अजयनार्यं" यथा (ऋ० सं० ४, ३, १४, ४)"—इति निगमः। बहुषु पाठेषु "कम्" —इति दृश्यते, तल्लिपिभ्रमतः। अतः ईमित्येव पठितव्यम् ॥

(६४) अन्नम्। 'अन प्राणने (अदा० प०)'। 'कृवृजृसिद्रुपन्यमिस्वपिभ्यो नित् (उ० ३, ६)'—इति नप्रत्ययः। अन्यते प्राण्यते प्रजाभिः, न हि कदाचिदपि जलेन विना जीवन्ति प्राणिनः 'अस्य शोषादयो दोषा भवन्ति यदलाभतः। न हि तोयाद् विना तृप्तिः स्वस्थस्याप्यातुरस्य च"—इति वाग्भटः। अत्तेर्वा निष्ठात-

कार, अत्रान्न इति निर्देशात् अध्यादेशाभावः, अद्यते सः। अन्न-तुल्याद्वा अन्नमित्युच्यते। "हिरण्यदा ददत्यन्नमस्मै (ऋ० सं० २, ३, २३, ५)"—इति निगमः॥

(६५) हविः। 'हु दानादनयोः (जु० प०)'। 'अर्चिशुचि-हुसृपिच्छदिच्छर्दिभ्य इसिः (उ० २, १०१)'—इति इसिप्रत्ययः। दीयते पिपासितेभ्यः, आदीयते वा जनैरुपभोगाय। अथवा हूयते देवतोद्देशेन, प्रक्षिप्यते वैश्वानरे हविरिदं जुहोमीत्यादिमन्त्रैः। "हविषाजारो अपां पिपर्त्ति (ऋ० सं० १, ३, ३३, ४)"—"विश्व-कर्मन् हविषा वावृधानः (ऋ० सं ८, ३, १६, ६)"—इति च निगमः॥

(६६) सद्म। (६७) सदनम्। 'षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु (भ्वा० तु० प०)'। पूर्वत्र, 'मनिन् (उ० ४, १४०)'—इति मनिन्-प्रत्ययः। उत्तरत्र, 'युच् बहुलम् (उ० २, ७४)'—इति युच्। विशीर्य्यते शिलादिषु पातात्, विशीर्य्यन्तेऽनेन कुड्यादय इति वा, गच्छति वागच्छति निम्नं, गम्यते वा प्राणिभिः, अवसादयति पिपासायुक्तं वा। 'हविर्हविष्मो महि सद्म दैव्यम् (ऋ० सं० ९, ३, ८, ५)"—इति निगमः॥

(६८) ऋतम्॥

(६९) योनिः। 'यु मिश्रणे (अदा० प०)'। 'वहिश्रियुद्-ग्लाहात्वरिभ्यो निः (उ० ४, ५१)'—इति निप्रत्ययः। यु मितं सम्पृक्तं सर्वपदार्थैः। यद्वा, येतेर्यकारस्य उकारः, स ईकारात्परः यणादेशः, स एव प्रत्ययः। परिवीतं हि जलं वायु

तीरेण वा। यद्वा, योनिः कारणमत्रस्य। 'वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः (मनुः ३, ७६)'—इति हि स्मृतिः। "चरत् प्रियस्य योनिषु प्रिय सन् (ऋ० सं० ८, ७, ७, ५)"—"त्वचं पृञ्चन्त्युपरस्य योनौ (ऋ० सं० १, ५, २७, २)"—इति च निगमौ॥

(७०) ऋतस्य योनिः। यज्ञस्य योनिः नह्युदकेन विना कथञ्चिदपि यज्ञः कर्तुं शक्यते, ऋतस्य आगामिनो वर्षजलस्य योनिर्वा —आदित्यो भौमं रसं रश्मिनादत्ते पुनर्वर्षाकाले वर्षति, तथा —'सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः'—इत्युक्तम्। 'अस्य योनिर्भवति'—इति माधवः। "ऋतस्य योनि मा सदः (ऋ० सं० ४, १, १३, ४)"—"ऋतस्य योनागर्भे सुजातम् (ऋ० सं० १, ५ ६, २)"—इति निगमौ॥

(७१) सत्यम्। सत्सुभवम् 'भवेच्छन्दसि (४, ४, ११०)'—इति यत्। यद्वा,सत्सु साधुः 'तत्र साधुः (४, ४, ९८)'—इति यत्। सतोऽर्हमिति वा 'छन्दसि च (५, १, ६७)'—इति यः। "पिपुर्दमितिविधामयाख्यानभुनात्सत्यमुपैति"—"ऋतात् सत्यमुपागात्"—इति च निगमौ॥

(७२) नीरम्। 'णीञ् प्रापणे (भ्वा० उ०)'। स्फायितञ्चिवञ्चिशकि (उ० २, १३)'—इत्यादिना रक्प्रत्ययः। नयति प्रापयति शुद्धिं नीयते वा पुरुषेण स्नानादिकार्यसंपादनाय। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(७३) रयिः। 'रीङ् गतौ'। 'अच इः (उ० ४, १३४)'—इति इन्प्रत्ययः, गुणः। रीयते गच्छति रयिः। यद्वा, रातेः (अन्त०

प० ) इत्यत्र बाहुलकात् युगागमो धातोर्ह्रस्वश्च। दीयते पिपासितेभ्यः। निगमोऽन्त्येषणीयः॥

(७४) सन्। 'अस भुवि ( अदा० प० )'। लटः शतरि 'श्नसोरल्लोपः ( ६, ४, १११)' सन्। सर्वदा विद्यमानं प्रलयेऽपि नाशाभावात् 'सदसि भूयाः'—इति निगमः॥

(७५) पूर्णम्। 'पृ पालनपूरणयोः (जु० क्र्या० प०)'। निष्ठातकारः। 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य (७, १, १०२)', 'हलि च (८,२, ७७)', 'रदाभ्याम् ( ८, २, ४२)'—इति निष्ठानत्वम्, 'रषाभ्यां नो णः ( ८, ४, १ )'—इति णत्वम्, पूर्णम्। रक्षितं सेत्यादिना, तद्‌विधिभिः पूरितं वा कटाहादिषु। यद्वा, 'पूरी आप्यायने, दिवादिश्चुरादिश्च। 'वादान्तशान्तपूर्णदस्त ( ७, २, २७ )'—इत्यादिना निपातितम् उपभोगक्षीणं आप्यायितम्। "पूर्णं पूर्णेन सिच्यते (अथ० सं० १०, ८, २९ )"—इति निगमः॥

(७६) सर्वम्। 'सृ गतौ (ज० प०)'। सर्वनिघृष्वरिष्वलष्वशिवपद्वप्रह्वेष्वा अतन्त्रे ( उ० १, १५१)'—इति निपातितम्। अतन्त्रे अकर्तरीत्यर्थः। सृतमनेन। यद्वा, बाहुलकात् कर्तरि भवति, सर्वम्। उभयत्रापि पचाद्यच् ( ३, १, १३४ )। हिनस्ति पिपासामुपूर्णं वा। 'सर्वमसि सर्वं मे भूयाः'—इति निगमः॥

(७७) अक्षितम्। 'क्षि क्षये (भ्वा० प०)'। भावे निष्ठातकारः। क्षितं क्षयः, स यस्य न विद्यते, तदक्षितम्। सर्वदा सर्वैरुपभुज्यमानमपि स्वमहत्तया उपर्युपरि पर्जन्यादुदया क्षयरहितमित्यर्थः। क्षियः 'निष्ठायामण्यदर्थे। वाक्रोशदैन्ययोः (६, ४, ६०—६१)'

इति विहितो दीर्घः, अत्र च भावो ण्यदर्थः तस्मात् स न भवति दीर्घाभावात् 'क्षियोऽदीर्घात् (८, २, ४६)'—इति निष्ठानत्वमपि न भवति। "उत्समक्षितं व्यचन्ति (अथ० सं० ४, २७, २)"—"समानमर्थमक्षितम् (ऋ० सं० २, १, १८, ५)"—"अक्षितमत्यै जुहोमि स्वाहा"—इति च निगमाः॥

(७८) बर्हिः। निगमोऽन्वेष्यः। बृंहेर्नलोपश्च (उ० २, १०१)"—इत्यादिना पूर्ववत् साध्यम्॥

(७९) नाम। नमतेः (भू० प०), 'मनिन् (उ० ४, १४४)'—इति मनिन्प्रत्यये धातोर्मलोपो दीर्घश्च निपात्यते। नम्यं 'पुरुनैर्दैयतास्थाम्। णिजन्ते वा निपातनम्। नमयति नदी-शीतनिकटवर्त्तिनो चेतसादीन्। अथवा 'अम गत्यादिषु' भ्वादिः 'अम रोगे' चुरादिः, नञ्पूर्वः, अस्मान्निपातनं पूर्ववत्। न अमन्ति गच्छन्त्यनेन। न हि स्नानपानोपयोगिजले विद्यमाने प्राणिनोऽन्यत्र गच्छन्ति। तथाहि—श्रोत्रियसजलनद्यादिभृतिषु विद्यमानेष्वेव वासो विधत्ते इति स्मृतिः। न आमयत्यनेन रोगी न भवत्यनेनेत्यर्थः। 'भापो अमीवचातनीः (ऋ० सं० ८, ७, २५, १)'—इति श्रुतिः। "नामानि यह्वो अधि येषु वर्धते (ऋ० सं० ७, २, ३३, १)"—"द्धाना नाम यज्ञि यम् (ऋ० सं० १, १, ११,४)"—इति च निगमौ॥

(८०) सर्पिः। सृप् गतौ (भू० प०)'। 'अर्चिशुचिहुसृपि-च्छादिच्छर्दिभ्य इसिः (उ० २, १०९)'—इति इसिप्रत्ययः। सर्पति द्रवद्रव्यत्वात्। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(८१) अपः। 'आप्लृ व्याप्तौ'(स्वा० उ०)'। 'आपः कर्माख्यायां ह्रस्वो नुट् च वा (उ० ४, २०२)'—इत्यसुन्प्रत्ययो बाहुलकात् जलेऽपि भवति, अपः। आप इत्यनेन समानार्थम्। "यद्दीनां गर्भो अपसामुपस्थात् (ऋ० सं० १, ७, १, ४)"—"जामीनामग्निरपसि स्वसृणाम् (ऋ० सं० २, ८, १४, १)"—इति च निगमौ ॥

(८२) पवित्रम्। 'पूञ् पवने (क्र्या० उ०)'। 'पुवः संज्ञायाम् (३, २, १८५)'—इति करणे इत्रप्रत्ययः। पुनात्यनेनात्मानं स्नातः। अथवा 'कर्तरि चर्षिदेवतयोः (३, २, १८६)'—इत्यपां देवतात्वात् कर्तरि इत्रप्रत्ययः। पुनाति पापकृतः। तथाच मनुः—'ज्ञानं तपोऽग्निराहारो मृन्मनो वार्युपाञ्जनम्। वायुः कर्मार्ककालौ च शुद्धेः कर्तॄणि देहिनाम् (५ अ० १०५ श्लो०)'—इति। "शतपवित्राः स्वधया मदन्तीः (ऋ० सं० ५, ८, १५, ३)"—इति निगमः ॥

(८३) अमृतम्। नञ्पूर्वात् म्रियतेर्धातोः 'तनिमृङ्भ्यां किच्च (उ०, ३, ८९)'—इति तन्प्रत्ययः। न म्रियन्ते हि प्राणिनोऽनेन पीतेन। अथवाऽत्यन्तस्वादुरसत्वादमृतमित्युच्यते, तथा 'अमृतो ह्यापः'—इति श्रुतिः। "यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागम् (ऋ० सं० २, ३, १८, १)"—इति निगमः ॥

(८४) इन्दुः। 'ञि इन्धी दीप्तौ (रु० आ०)'। तस्मात् 'उन्देरिच्चादेः (उ० १, १२)'—इति विधीयमान उप्रत्ययो बाहुलकाद् भवति, धकारस्य दकारश्च। इन्धे दीप्यते स्वेन तेजसा देवतात्वात्। यद्वा, 'उन्दी क्लेदने (रु० प०)'। 'उन्दे-

रिषादेः (उ० १, १२)'—इगुपधत्वात् आदेशिकारेषाच उत्वे भूमिरिन्दुः। यद्वा, 'इदि परमैश्वर्ये (भ्वा० प०)'। अस्मादु प्रत्ययः। परमैश्वर्यं हि जलं देवमात्मनाम्, प्राणिनां प्राणस्य जीवनस्य च तदायत्तत्वात्। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(८०) हेम। हिरण्यनामसु व्याख्यातम्। (२) हिनोति गच्छति निम्नं प्रदेशं, गम्यते वा तदर्थिभिः, वर्द्धते वा वर्षासु निगमोऽन्वेषणीयः॥

(८१) स्वः। सुपूर्वादर्तेरन्तर्भावितण्यर्थात् 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (३, २, ७५)'—इति विच्, गुणः 'स्वरादिनिपातमव्ययम् (१, १, ३७),' सुपो लुक्, रेफस्य विसर्जनीयः। अनावृष्ट्यादिजनितं क्लेशं सुष्ठु शोभनं गमयति नाशयति, स्वः। यद्वा, केवलादेव स्वार्थे णिच् 'अपिशब्दः सर्वोपाधिव्यभिचारार्थः'—इत्युक्तेरिष्टार्थसिद्धिः। अरणं गमनं दोषरहितत्वेन शोभनं यस्य, सुष्ठु गच्छति निम्नं प्रदेशमिति वा, सुष्ठु प्राणिभिर्गम्यते इति वा, स्वः। अकारान्तमप्यस्ति। सुपूर्वाद्रमतेश्च बाहुलकाड्ड भवति। "आविः स्वः कृणुते गूहते बुसं (ऋ० सं० ७, ७, १६, ४)"—"स्व १ः सिषासन्नथिरो गविष्टिषु (ऋ० सं० ७, ३, १, २)"—इति च रैफान्तस्य निगमौ। "आसु स्वासु वंसगः (ऋ० सं० ८, ८, २, ३)"—इत्यकारान्तस्य। समाम्नायपाठः उभयत्र समानः॥

(८२) सर्गाः। 'सृज विसर्गे (तु० प०)'। कर्मणि घञ्। सृज्यते मेघैर्विसृज्यत इति सर्गः, जसि सर्गाः। यद्वा, सर्गो वेगः,

'अर्शआदिभ्योऽच् ( ५, २, १२७ )'। वेगवन्ति हि जलानि।
"सर्गासो घर्ताश्च ( ऋ० सं० ७, ७, ११, ४ )"—इति निगमः॥

(८८) शम्बरम्। सम्पूर्वाद् वृणोतेः 'ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च ( ३, ३, ५८ )'—इत्यप्। संव्रियते मेघैः। यद्वा, यथायथम् ( २, १, १३४ ), वृणोति हि भूमिं संवरम्। पृषोदरादित्वात् ( ६, ३, १०९ ) शम्बरम्। यद्वा, शम्बो वज्रः निरुक्तो मेघनामसु (१०)। तद्वानपीन्द्रः शम्बः, मत्वर्थीयस्य लुक्। 'रा दाने ( अदा प० )' शम्बेनेन्द्रेण दीयते शम्बरः। 'घञर्थे कविधानम् ( ३, ३, ५८ वा० )'—इत्यस्योपलक्षणार्थत्वात् कः। यद्वा, शञ्च तद्वरञ्च शम्बरः। शमनं च रोगाणामुत्कृष्टञ्च सर्वपदार्थेषु इत्यर्थः। 'शम्बरं सम्बरं जलम्'—इति माधवः। "अतिथि-ग्वाय शम्बरं गिरेरुग्रो अवाभरत् ( ऋ० सं० २, १, ११, २ )"—इति निगमः॥

(८९) अम्भम्। आङ्पूर्वात् भवतेः क इत्येव धातुलकाद् भवति, उपसर्गहस्वश्च। 'छन्दस्युभयथा ( ६, ४, ८६ )'—इति सुपि भूसुधियोर्विधीयमानो यणादेशो व्यत्ययेन कप्रत्ययेऽपि भवति। आ समन्ताद् भवति विद्यते अम्भम्। 'अम्भमा भवति'—इति माधवः। "सनेम्यम्भं मरुतो जुनन्ति ( ऋ० सं० २, ४, ८, ३ )"—इति निगमः॥

(९०) वपुः। 'टुवप बीजतन्तुसन्ताने ( भू० उ० )'। 'अर्तिपृवपियजितनिधनितपिभ्यो नित् ( उ० २, ११७ )'—इत्युसि-प्रत्ययः। उप्तेऽनेन बीजम्, बीजवपने हि जलं साधकतमं

भवति। "चरिष्णव १ चिर्वपुरगमिदेकम् (ऋ० सं० ३, ५, ७, ४)" —इति निगमः॥

(६१) अम्बु। अन्तरिक्षनाम्नोऽम्बरशब्दस्य निर्वचने विस्तरेणोक्तम्। (३) निगमोऽन्वेषणीयः॥

(६२) तोयम्। तवतेर्वृद्धिकर्मणः (निरु० ६, २५) 'अघ्न्य वयश्च (उ० ४, १०८)'—इति यत्प्रत्ययो निपातितो प्रत्यय वर्धते पर्याप्तु। 'तुदति तोयम्'—इति क्षीरस्वामी। तुवतेः पूर्ववत् यत्प्रत्यये निपातनात् ककारलोपो गुणः। यद्वा, तुवि सौत्र आवरणार्थः। "तोयेन जीवद्भ्यः ससर्ज भूम्याम्"—इति निगमः॥

(६३) तूयम्। पूर्ववन्निपातनाद्रूपसिद्धिः। उकारस्य दीर्घः (६, ३, १३३)। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(६४) कृपीटम्। 'कृपू सामर्थ्ये (भू० आ०)'। 'कृतृ-पिभ्यः कीटन् (उ० ४, १८०)'—इति कीटन्प्रत्ययः। 'कृपो रो लः (८, २, १८)'—इत्यत्र, काशिकावृत्तिः—'कृपणकृपीट-कर्पूरादयोऽपि कृपेरेव द्रष्टव्याः'। 'उणादयो बहुलम् (३, ३, १)'—इति च कृपेरेव बाहुलकाल्लत्वाभावः। भाष्ये तु— 'कृपणादीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः (८, २, १८ भा०)'—इति लत्वाभावः। कल्पते तापनिवारणाय। "यथा कृपीटमनु सम्प्रहन्ति (ऋ० सं० ७, ७, २१, २)"—इति निगमः॥

(६५) शुक्रम्। 'शुच दीप्तौ (निघ० १, १७)'। प्रकाशात् 'ऋज्रेन्द्राग्रवज्रविप्र (उ० २, २९)'—इत्यादिना ककारान्त-

देशो रन्प्रत्ययो गुणाभावश्च निपात्यते। शोचते शुक्रः। यद्वा, शोचतेर्ज्वलतिकर्मणः ( निघ० १, १७ ) सम्पदादित्वात् ( ३, ३, ९४ वा० ) क्विप्। शुचि, सरल्, रो मत्वर्थीयः। दीप्तमित्यर्थः। शुक्रं तेजःशब्दो वा, रेतःपर्यायत्वात् 'देवानां वै रेतो वर्णम्'—इति श्रुतेः उदकनामत्वमपि बोद्धव्यम्। "शुक्रासु ते शुक्रमाशुनाम्"—इति निगमः॥

(१६) तेजः। 'तिज पालने' भ्वादिः परस्मैपदी। असुन् ( उ० ४, १८९ )। तेजयति पालयति प्राणिनः पिपासादिनिवारणात्। यद्वा, 'तिज निशाने ( भ्वा० आ० )' असुन्। अग्निजत्वादपां कार्यकारणयोरभेदोपचारात् तेज इत्युक्तिः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(१७) स्वधा। स्वशब्द उपपदे 'डु धाञ् दानधारणयोः ( जु० उ० )'—इत्यस्मात् 'आतोऽनुपसर्गे कः ( ३, २, ३ )'। स्वमात्मानं सर्वान्तर्यामिणं भगवन्तं नारायणं धारयति 'आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः। अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः। ( मनुः १ अ० १० श्लो० )'—इति। स्वं धनं ददातीति वा, शस्योत्पत्तिहेतुत्वात्। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(१८) वारि। ऊर्णोतेः इञ्प्रत्ययः। वार्यते तत् सेच्यादिभिः पुरुषैः। वाजसनेये सौत्रामणीप्रैषे—"देवं बर्हिर्वारितीनाम् (य० वा० सं० २१, ५७)"—इति निगमः। अत्र भाष्यकृदुवटः—'वारितीनामुदकवर्तीनां वारिप्रभवानां वा ओषधीनां सम्बन्धिनि अध्वरे स्तीर्णम्'—इत्यादि॥

जः। 'अन्येष्वपि दृश्यते (३, २, १०१)'—इति डो निरुपपदादपि जनेर्भवति। जैः जातैः प्राणिभिः लायते आदीयते इति जलम्। 'ला आदाने (अदा० प०)'। निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१००) जलाषम्। जैः जातैः लष्यते वाञ्छ्यते (भ्वा० उ०) इति जलाषम्। जशब्दउपपदे लषेः कर्मणि घञ्। 'जलाषं जलयिता जातैः'—इति माधवः। यद्वा, जलाषमिति सुखनाम सुखहेतुत्वाद्वा तद्धेतौ ताच्छब्द्यम्। "यद् जलाषमेवज (ऋ० सं० १, ३, २६, ४)"—इति निगमः। 'जलाषमुदकनाम वा'—इति माधवोऽभाषत् ॥

(१०१) इदम्। 'इदि परमैश्वर्ये (भ्वा० प०)' इदिर्धातुम्। 'इन्देः कमिर्नलोपश्च (उ० ४, १५२)'—इति कमिप्रत्ययः। देवत्वाद्वा परमैश्वर्यं विद्यते। 'इणो दमुग्'—इति श्रीभोजदेवः, ईयते निम्नं प्रदेशं गम्यते वा। यद्वा, इन्धेः कमिन् बाहुलकान्नलोपो धकारस्य दकारश्च। इन्धे दीप्यते इदम्। "ससारो वा इदं वसुः (ऋ० सं० २, ५, २६, ५)"—"ता जिह्वया सदमेदं सुमेधाः (ऋ० सं० ५, १, १०, ३)"—"रूपाभिमानो अकृणोरिदन्तः (ऋ० सं० ४, २, १६, ३)"—इति च निगमाः ॥

इत्येकशतमुदकनामानि (१०१) ॥ १२ ॥

अवनयः (१)। यव्यः (२)। खाः (३)। सीराः (४)। स्रोत्याः (५)। एन्यः (६)। धुनयः (७)। रुजानाः (८)। वक्षणाः (९)। खादो अर्णाः (१०)। रोधचक्राः (११)। हरितः (१२)। सरितः (१३)। अग्रुवः (१४)। नभन्वः (१५)। वध्वः (१६)। हिरण्यवर्णाः (१७)। रोहितः (१८)। सस्रुतः (१९)। अर्णाः (२०)। सिन्धवः (२१)। कुल्याः (२२)। वर्य्यः (२३)। उर्व्यः (२४)। इरावत्यः (२५)। पार्वत्यः (२६)। स्रवन्त्यः (२७)। ऊर्जस्वत्यः (२८)। पयस्वत्यः (२९)। सरस्वत्यः (३०)। तरस्वत्यः (३१)। हरस्वत्यः (३२)। रोधस्वत्यः (३३)। भास्वत्यः (३४)। अजिराः (३५)। मातरः (३६)। नद्यः (३७)। इति सप्तत्रिंशन्नदीनामानि ॥१३॥

(१) अवनयः। पृथ्वीनामसु व्याख्यातः। (१) अवन्ति जगत् खोदकेन, अव्यन्ते प्राणिभिस्तीरादिनिर्माणेन। "यासिस्त्रन्ती-

रपगंयः रयुग्म् (ऋ० सं० ५, ४, ११, १)"—"आ म प्रापा महनी रयुग्मत् (ऋ० सं० १, ४, २१, ५)"—इति च निगमौ। किन्तु यदुपचनान्तरेण प्रायशः श्रवणात् सर्वत्र यदुपचनान्तत्वम्॥

। (२) यह्वयः। 'या प्रापणे (अदा० प०)'। 'शेवयह्विजिह्वाग्रीवाप्यामीवा (उ० १, १५२)'—इति निपातनात् प्रत्ययो धातोर्ह्रस्वत्वं हुगागमश्च। यातुल्कादयः स्थाने ङीप् पिप्पल्यादित्वाद् द्रष्टव्यम्। याति तांस्तान् प्रदेशान् प्राप्यन्ते वा प्राणिभि यहा, 'यह्वः'—इति महन्नाम (निघ० ३, ३), पूर्ववत् ङीप्। महत्यो नद्यः। द्विधातुजं वा इदं नाम,—यातेर्हृञः, पृषोदरा (६, ३, १०९)। यांताश्च प्राणिभिः हुताश्च यशोभिरयः "स्वयमत्कैः परिदीयन्ति यह्वीः (ऋ० सं० २, ७, २४, ४)"—"अवर्द्धयन्त्सुभगं सप्त यह्वीः (ऋ० सं० २, ८, १३, ४)"—इति च निगमौ॥

केषुचित् कोशेषु "यव्याः"—इतीदं नाम दृष्टम्। 'यु मिश्रणे (अदा० प०)' पृथग्भावोऽप्यस्यार्थः—इति नैगमकाण्डे 'वियुते (निघ० ४, २५)' इत्यस्य निर्वचने स्कन्दस्वामिना प्रतिपादितः। 'यु मिश्रणे'—इति, अयं पठ्यते, प्रयुज्यते च—'जनयत्यै त्वा संयौमि'—इति, तथापि पृथग्भावेऽपि वर्त्तते। न चायं वेरुपसर्गस्यार्थः, केवलस्यापि दर्शनात्—'युतं धनमस्य' 'युतं भोजनमस्य' 'युतोऽयम्'—इति पृथग्भूत इति गम्यते—इति। अस्मात् पिरपिलपित्रपिचमश्च (३, १, १२६)'—इति ण्यति प्राप्ते "बहुलम् (३, ३, ११३)'—इति 'अचो यत् (३, १, ९७)'

गुणे, 'वान्तो यि प्रत्यये (६, १, ७९)' वर्षासु मेघैरुदकेन मिश्रणीयाः अन्येषु सूर्यरश्मिभिराकृष्टेन पृथग्भवन्तो वा। अथवा 'युञ् बन्धने (क्र्या० उ०)' अस्मात् अघ्न्यादित्वात् (उ० ४, १०८) यक् प्रत्ययः। बध्यते आसु सेतुरिति, यव्याः। यद्वा, यवेभ्यो धान्यविशेषेभ्यो हिताः 'खलयवमाषतिलवृषब्रह्मणश्च (५, १, ७)' —इति यत्। नदीजवेनापि वर्धन्ते यव्याः। "वार्णं त्वा यव्याभिः (ऋ० सं० ६, ७, २, २)"—इति निगमः। 'ह्रदमिव कुल्याभिः'—इति माधवभाष्यम्। अनयोर्युक्तं गृह्णन्तु सूरयः॥

(३) खाः। 'खन अवदारणे (भू० उ०)' 'अन्येष्वपि दृश्यते (३, २, १०१)'—इत्यत्र 'अपिशब्दः सर्वोपाधिव्यभिचारार्थः (३, २, १०१ भा०)'—इत्युक्तेर्निरुपपदादपि जनिव्यतिरिक्तादपि खनेर्डः प्रत्ययः, टाप्। वृत्रहननादिन्द्रेण खाताः। तथा च श्रुतिः—'अपां बिलमपिहितं यदासीद् वृत्रं जघन्वाँ अप तद्ववार (ऋ० सं० १, २, ३८, १)'—इति, 'इन्द्रो अस्मा अरदद् वज्रबाहुः (ऋ० सं० ३, २, १३, १)'—इति च नदीवाक्यम्। यद्वा, खनन्ति भूमिं वेगेन वहन्त्यः। अथवा, 'खै दाने'। 'घञर्थे कविधानम् (३, ३, ५८)'—इत्यस्योपलक्षणार्थत्वात् कः, टाप्। 'खै स्थैर्ये हिंसायाञ्च (भू० प०)'—इति वा। खायन्ति स्थिरा भवन्ति वृत्रेण रुद्धाः, हिंस्यन्ते वा तेन, खाः। "सरयस्त्वामुप रुजा गृणानः (ऋ० सं० ४, ७, ८, ४)"—"अध्याम ते वरुण खामृतस्य (ऋ० सं० २, ७, ६, ५)"—इति च निगमौ॥

(४) सीराः। 'षिञ् बन्धने' सौवादिकः क्रैयादिकश्च। 'शुसिचिमीनां दीर्घश्च (उ० २, २५)'—इति रक्प्रत्ययः। सीयन्ते बध्यन्ते आसु सेत्वादिना शिलादिभिरवतारा वा। 'सरतेर् सीरः'—इति यास्कोक्तेः 'कॄशॄपॄकटिपटिशौटिभ्य ईरन् (उ० ४, २१)'—इति बाहुलकाद् भवति टिलोपश्च। 'सीरशब्दो नदीपर्यायोऽन्तोदात्तः, हलपर्याय आद्युदात्तः'—इति माधवः। "द्यवितन्यः पृथिव्यां सीरा अधि (ऋ० सं० ८, १, ८, ४)"—"सीरा इन्द्रः स्रवितवे पृथिव्या (ऋ० सं० ३, ६, २, ३)"—इति च निगमः॥ "सीरा युञ्जन्ति कवयः (ऋ० सं० ८, ५, १८, ४)"—इति हलवचनः॥

(५) स्रोत्याः। स्रोतसि भवाः। 'स्रोतसो विभाषा ड्यड्ड्यौ (४, ४, ११३)'—इति ड्यप्रत्ययः। स्रोतोऽनुसरणाद्धि नद्यो भवन्ति। "नयति स्रोत्या नव स्रवन्ती (ऋ० सं० ८, ५, २५, ३)"—इति निगमः॥

(६) एन्यः। 'इण गतौ (अदा० प०)'। 'वीज्याज्वरिभ्यो निः (उ० ४, ४८)'—इति बाहुलकान्निप्रत्ययः। 'कृदिकारादक्तिनः (४, १, ४५ वा०)'—इति ङीप्। यन्ति एन्यः गमनस्वभावा हि नद्यः गम्यन्ते वा प्राणिभिः। "वि यद्व वर्तन्त एन्यः (ऋ० सं० ४, ३, १२, २)"—इति निगमः। एनीशब्दो नदीवचनोऽन्तोदात्तः अन्यत्राद्युदात्तः इति माधवः। "एनी त एते बृहती अभिश्रिया (ऋ० सं० २, २, १३, ६)"—इति अस्योदाहरणम्॥

(७) धुनयः। 'धूञ् कम्पने' सौवादिकः। बहुलानुवृत्तेः 'घृणिपृश्निपार्ष्णिचूर्णिभूर्णि' (उ० ४, ५२)'—इत्यतो निप्रत्ययः

कियं। धुन्वन्ति कम्पयन्ति तीरवृक्षादीनि, कम्पन्ते वा स्वयं गमनशीलत्वात्। "दिवेदिवे धुनयो यन्त्यर्थम् (ऋ० सं० २, ७, १२, २)"—इति निगमः॥

(८) रुजानाः। 'रुजो भङ्गे' तुदादिः परस्मैपदी। व्यत्ययेन शानच्, अत्र च प्रथमासमानाधिकरणे शानच् भवति, मुगागमस्तु न क्रियते आगमानित्यत्वेन व्यत्ययेन वा। रुजन्ति कूलानि। "सं रुजानाः पिपिष इन्द्रशत्रुः (ऋ० सं० १, २, ३७, १)"—इति निगमः॥

(९) वक्षणाः। 'वक्ष रोषे (भू० प०)'। 'क्रुधमण्डार्थेभ्यश्च'—इति युच्। वक्षन्ति क्रुध्यन्तीव हि ताः वर्षासमये वेगेन गच्छन्त्यः। चित्स्वरं बाधित्वा व्यत्ययेन प्रत्ययस्वरः। यद्वा, 'वह प्रापणे (भू० उ०)'। अस्माद् 'युच् बहुलम् (उ० २, ७४)'—इति युचि षुगागमो बाहुलकाद् भवति। स्वयं प्रवहन्ति हि ताः। 'वक्षतिः प्रातिकर्मणः स्यात्'—इति माधवः। युच्। प्राप्यन्ते हि ताः प्राणिभिः प्राप्नुवन्ति वा समुद्रं निम्नं वा। "प्र वक्षणा अभिनत् पर्वतानाम् (ऋ० सं० १, २, ३६, १)"—"भद्रि ज्योतिर्निहितं वक्षणासु (ऋ० सं० ३, २, ३, ४)"—इति निगमौ॥

(१०) खादोअर्णाः। 'खाद भक्षणे (भू० आ०)'। कर्त्तर्यसुन् (उ० ४, १८९) अर्णशब्दोऽकारान्तोऽपि निरुक्त उदकनामसु (१२)। खादः, भक्ष्यमाणः। भक्षणेन चात्र बाधनं लक्ष्यते, तेन कूलं बाधमानोऽर्णो जलं यासामिति खादोअर्णाः, वेगवज्जला

इत्यर्थः । 'मतुब्वसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि (८, ३, १)' । तथा मन्त्रः—"धन्वर्णसो नद्यः खादोअर्णाः (ऋ० सं० ५, ४५, २)"—इत्यत्र 'धन्वर्णसः' इत्यस्य व्याख्या । खादोअर्णा उदकानि यासां ताः नास्ति शोकः महिमा आह्लादकाः'—इति । "धन्वर्णसः (ऋ० सं० ५, ७, ८६, २)"—इत्ययं निगमः । अन्तर्णशब्दो विशेषणम्, अन्यो वा निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(११) रोधचक्राः । 'रुधिर् आवरणे (रु० प०)' भावे (३, ३, १८)' घञ् । 'डुकृञ् करणे (तना० उ०)' घञर्थे कविधानम् (३, ३, ५८ वा०)—इति कः । 'कृञादीनां के द्वे भवतः'—इति द्वित्वम् । चक्रम् करणम्, रोधः, रोधस्य निरोधस्य चक्रं करणं कृतिरासां विद्यते इति रोधचक्राः । नद्यो वृष्ट्या प्राणिनां स्वैर-सञ्चरणनिरोधकारिण्यः । यद्वा, रोधः तीरं, तस्य करणं निर्माणमासां विद्यते तीरयत्यो हि नद्यः । सकारस्य लोपश्छान्दसः । यद्वा, रुधेः करणे घञि (३, ३, १९) रुध्यतेऽनेन जलप्रवाह इति रोधः शब्दः करणं निर्माणमासां विद्यते । "समुद्रं न स्रवतो रोधचक्राः (ऋ० सं० २, ५, १३, २)"—इति निगमः ।

(१२) हरितः । 'हृञ् हरणे' भ्वादिः (उ०), 'हृ प्रसह्यकरणे' जुहोत्यादिः । 'हृसृरुहियुषिभ्य इतिः (उ० १, ९४)' । हरन्ति वृक्षगुल्मादीनि वेगेन, प्रसह्य हरन्ति वा । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१३) सरितः । 'सृ गतौ (भ्वा० प०)' । पूर्वेण सूत्रेण (उ० १, ९४) इतिप्रत्ययः । धन्व इत्यनेन समानार्थः । "सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेना (ऋ० सं० ३, ८, ११, १)"—"यो वां

समुद्रान्तसरितः 'पिपर्त्ति ( ऋ० सं० ५, ५, १७, २ )"—इति निगमौ ॥

(१४) अप्रुवः। 'अदि गतौ ( भू० आ० )'। 'अप्रुषादयश्च ( उ० ४, १०० )'—इति रुप्रत्ययान्तेषु निपातितेषु द्रष्टव्योऽयं शब्दः; निपातमात्रलोपः, 'तन्वादीनां छन्दसि बहुलम् ( ६, ४, ८६ वा० )'—इत्युवङ्। गच्छन्ति तांस्तान् प्रदेशान्। 'अप्रुवो गमनात् नद्यः'—इति माधवः। "समप्रुवो समनेष्वञ्जन् ( ऋ० सं० ५, २, ११, ५ )"—इति निगमः ॥

(१५) नभन्वः। 'णभ तुभ हिंसायाम्' भ्वादिरात्मनेपदी, दिवादिः क्र्यादिश्च परस्मैपदी। 'दामाभ्यां नुः ( उ० ३, ३१ )' —इति बाहुलकात् नुप्रत्यये नकार उपजनः। नभन्ते, नभ्यन्ति, नभ्नन्ति इति नभन्वः। 'जसादिषु छन्दसि वा वचनं प्राङ् णौ चङ्युपधायाः'—इति विकल्पितत्वात् 'जसि च ( ७, ३, १०९ )' —इति गुणाभावः। नद्यो हि बाधिकाः कूलादीनाम्। "प्राप्रुवो नभन्वो३ नवक्राः ( ऋ० सं० ३, ६, २, २ )"—इति स्त्रीलिङ्गे निगमः। "प्र पर्वतस्य नभनूँरचुच्यवुः ( ऋ० सं० ४, ३, २४, ७ )" —इति पुंलिङ्गे। अत्र 'सिन्धवः स्युर्नभन्वः'—इति माधवनिर्वचनानुक्रमणी ॥

(१६) धव्याः। 'वह प्रापणे ( भू० उ० )। 'वहो धश्च ( उ० १, ८० )'—इति ऊप्रत्ययः। वहन्ति उह्यन्ते वा भूम्याम्। यद्वा, समुद्रस्य भार्यात्वात् धव्या इत्युच्यते। सरित्पतिर्हि समुद्रः। निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१७) हिरण्यवर्णाः । हिरण्यशब्दो निरुक्तः (१।२।१) 'हन्तेर्वा कान्तन् हिरण्य'—इत्यादिना । 'वृञ् वरणे (स्वा० उ०)' । 'अर्तिस्तुसुहुसृधृक्षिक्षुभायावापदियक्षिनीभ्यो नन् (उ० २, २७)'—इत्यादिना नन्प्रत्ययान्तो निपातितः । वृणोति छ्रियते वाऽसावि॑ति वर्णः श्वेतादिः । हिरण्यः कान्तो वर्णो यासां ताः । यद्वा, हिता रमणीया रमणीया मन-प्रह्लादनक्रियः, पारिकाश्च तापाद्दीर्भुम्या या इति । "हिरण्यवर्णाः परियन्ति यह्वीः ( ऋ० सं० २, ७, २३, ४ )"—इति निगमः ॥

(१८) रोहितः । 'रुह बीजजन्मनि ( भू० प० )' । 'हृसृरुहि-युषिभ्य इतिः ( उ० १, ९७)' । रोहन्त्यासिर्वीजानि, तज्जलेन हि बीजानि प्ररोहन्ति । निगमोऽन्वेषणीय ॥

(१९) सस्रुतः । सम्पूर्वात् 'स्रु गतौ ( भू० प० )'—इत्यस्मात् 'क्विप् च ( ३, २, ७६)'—इति क्विप्प्रत्ययः । सङ्गताः सस्रुतः । समोऽन्तलोपश्छान्दसः क्षुद्रनद्यो महानद्यश्च परस्परं सङ्गता भवन्ति ततः सस्रुत इत्युच्यन्ते । सस्रुतः सङ्गता इति माधवः । यद्वा, स्रवतेः सम्पदादित्वात् ( ३, ३, ९४ वा० ) क्विप् । स्रवणं स्रुतजलप्रवाहः स्रोत इत्यर्थः, तया सह वर्तन्ते इति सस्रुतः । 'सहस्य सः सञ्ज्ञायाम् ( ३, ६, ७८ )'—इति सः, सस्रुतः । 'सस्रुतः स्रोतसा युक्ताः'—इति च माधवः । "ऋतस्य धेना अयनन्त सस्रुतः ( ऋ० सं० २, २, ८, १ )"—इति निगमः ॥

(२०) अर्णाः । 'ऋण गतौ' तनादिः (प०) । 'पचाद्यच् ( ३, [illegible] )' अर्णन्ति गच्छन्त्यर्णाः । यद्वा, अर्ण इत्यकारान्तम् [illegible] । (१५१ पृ०) अर्श आदित्वादच् (५, २, १२७)'

लवत्यो हि नद्यः । 'अर्त्तेरर्णांस्युपगाः'—इति माधवः । तत्र श्चि 'धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः (उ० ३,६)'—इति नप्रत्ययः । यद्वा, चायचि ( ३, १, १३४ ), अर्त्तेः 'उदके नुट् च ( उ० ४, १९२)'—स्यसुनि विहितो नुडागमो बाहुल्यकाद् भवति । "अर्णोरपो नतयचार्याः ( ऋ० सं० २, ५, १६, २ )"—इति निगमः ॥

(२१) सिन्धवः । 'स्यन्दूप्रस्रवणे ( भू० आ० )' । 'स्यन्देः सम्प्रसारणं धश्च (उ०१,११)'—इत्युप्रत्ययः । स्यन्दन्ते इत्यर्थः । "मधो मक्षाः सिन्धवः क्षोत्याभिः ( ऋ० सं० ३, २, १३, २ )" —"यस्य ते सप्त सिन्धवः ( ऋ० सं० ६, ५, ७, २ )"—इति च निगमौ ॥

(२२) कुल्याः । 'कुल संस्त्याने ( भू० प० )' । कोलन्ति संस्त्यायन्त्यस्मिन् शिलादय इति कुलं पर्वतः । कुले प्रधानभूते पर्वते भवाः कुल्याः । 'भवे छन्दसि ( ४, ४, ११० )'—इतियत् । कुलिशनिर्वचने 'कुलशातनः ( निरु० ६, १७ )'—मेघस्य पर्वतस्य वा समुच्छ्रिताः प्रदेशाः, कुलाः, तेषां च शातनः इत्युक्तेः । मेघस्य पर्वतस्य वा समुच्छ्रिते प्रदेशे कुले भवन्तीति कुल्याः । क्षीरस्वामी तु 'कुलानि पर्वतानि श्यति पक्षच्छेदेन तनूकरोति, कुलिशः'—इत्युक्तवान् । यथा, 'कुल्याऽल्पा कृत्रिमा सरित् ( अम० १, १०, ३४ )—इत्यत्र क्षीरस्वामिनो व्याख्या—'कृत्रिमा अल्पा च क्षेत्रसे-कार्था कुल्या' । कुले साधुः 'तत्र साधुः ( ४, ४, ९८ )'—इति यत् । यदाहुः—'कुल्यादानं जलं पिबान् कुल्यो मान्ये व्यवस्थितः । दाम्पत्यं कुलमित्यन्ये हलं वा कुल्यमुच्यते'—इति । "स्पन्दन्तां

शुन्ध्या । शिशिताः पुन्नाम् ( ऋ० सं० ४, ४, २८, ३ )"—"इ शुन्ध्या इवाऽऽतत (ऋ० सं० ३, ३, ६, ३)"—इति च निगमौ ।

(२३) पर्ण्यः । 'पॄम् पालने ( क्र्या० उ० )'—'पृड़ सम्म (चपु० आ० )' । 'भय इः ( उ० ४, १३४ )'—इति प्रत्यय 'कृदिकारात् ( ४, १, ४१ वा० )'—इति ङीप् । पर्णीयाः सन्त्यनीया वा पर्ण्यः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

इदं नाम माधवः "अतायर्ण्यः"—इत्यपठत् । 'अतमित्युदकनाम (निघ० १, १२)' "छन्दसीवनिपौ च (५, २, १२२ वा०)" —इति मत्वर्थीयो वनिप्, 'वनो र च (४, १, ७)'—इति ङीब्रेफौ, 'अन्येषामपि दृश्यते (६, ३, १३७)'—इति दीर्घः, अतायर्ण्यः । "अतापरीयप मुहूर्तमेवैः ( ऋ० सं० ३, २, १२, ५ )"—इति निगमः । अत्र स्कन्दस्वामिना 'नदीनाम'—इति नोक्तम्, युक्तं गृह्णन्तु सूरयः ॥

(२४) उर्व्यः । उर्णुञ् आच्छादने ( अदा० उ० )'—इत्यस्मात् वृणोतेर्वा । उर्वी इति पृथिवीनामसु व्याख्यातम् ( १, १, १० ) । महत्यो नद्यः, छादयित्र्यो वा भूमेः स्वेनोदकेन ॥

एतदादीनामुत्तरेषां नाम्नां निगमा अन्वेऽष्टणीयाः प्रायेण ॥

(२५) इरावत्यः । 'इण गतौ ( अदा० प० )' । 'ऋज्रेन्द्राग्रवज्रविप्र (उ० २, २९)'—इत्यादिना रन्प्रत्ययो गुणाभावो निपात्यते । इरा यव', तद्वासामस्ति मतुप्, वत्वं, ङीप्' ॥

(२६). पार्वत्यः । पर्वतशब्दो निरुक्तो मेघपर्वतानां नामत्वेन ( १, १०, ६ ) । 'तस्यापत्यम् ( ४, १, ९२ )'—इत्यण्, ङीप् ( ४, १, १५ ) ॥

(२७) स्रवन्त्यः। स्रु गतौ (भ्वा० प० )'। लट्, शतृतौ ङीप्। नदीनां गमनस्वभावः। "नवतिं स्रोत्यां नव च स्रवन्तीः (ऋ० सं० १, ५, २५, ३ )"—इति निगमः। अत्र स्रोत्या इति विशेषणम्॥

अस्य स्थाने "रेवत्यः"—इति केषुचित् कोशेषु दृश्यते। तत्र, रयिः'—इत्युदकनाम ( १२, ७३ )। रयिरासामस्तीति मतुप्, रयेर्मतौ बहुलम् (६, १, ३४ वा०)'—इति सम्प्रसारणम्। "पतिः सिन्धूनामसि रेवतीनाम् ( ऋ० सं० ८, ८, ३८, १ )"—इति निगमः। सिन्धुशब्दो विशेषणम्।

(२८) ऊर्जस्वत्यः। 'ऊर्ज बलप्राणनयोः' चुरादिः (प०)। असुन् ( उ० ४, १८७ )। ऊर्जयतीत्यूर्जो बलं तेन तद्वत्यः। 'असमायामेधास्रजो विनिः ( ५, २, १२१ )'—'बहुलमन्यत्रापि ( ५, २, १२२ )'—इत्युक्तेर्मतुप्, 'तसौ मत्वर्थे ( १, ४, १९ )'—इति भसञ्ज्ञा। बलवत्यो हि नद्यः वसः स्ववेगेन स्थिरानपि वृक्षादीन् हरन्ति। 'ओजसा वा एता वहन्तीरिवोद्धर्तीरिव आकूलन्तीरिव धावन्तीरिव'—इति श्रुतिः।

(२९) पयस्वत्यः। 'पा पाने (भ्वा० प०)'। पिबतेरी चासुन् (६, ४, ६६। उ० ४, १८७)। पीयत इति पयः। प्यायतेर्वा (भ्वा० आ०) असुनि बाहुलकात्, 'प्यायः पी ( ६, १, २८ )'—इति निष्ठायां विहितः पीभावो भवति। वर्द्धतेऽनेन पीतेन प्राणिन इति पयः। उदकं तद्वत्यः॥

(३०) सरस्वत्यः। सर इत्युदकनाम्नि निरुक्तम् ( १२, ३८ ), तद्वत्यः सरस्वत्यः॥

(३१) तरस्वत्यः। 'तॄ प्लवनतरणयोः (भ्वा० प०)'। असुन् (उ० ४, १८४)। तरन्त्यनेनापदमिति तरो धनं, तद्वत्यः ॥

(३२) हरस्वत्यः। 'हृञ् हरणे (भ्वा० उ०)'। असुन् (उ० ४, १८४)। 'उदकं हर उच्यते'—इति निरुक्तम् (४, १९)' हरि पदयो हरन्ति, सर्वं ह्रियते वा प्राणिभिरुपभोगाय, तद्वत्यः ॥

(३३) रोधस्वत्यः। रोधसा तीरेण, तद्वत्यः। "पिबा रोधस्वतीरनु (ऋ० सं० १, ३, १७, १)" इति निगमः ॥

(३४) भास्वत्यः। 'भा दीप्तौ (अदा० प०)'। असुन् (उ० ४, १८४)। भा दीप्तिः, तद्वत्यः, दीप्तिमत्यो हि नद्यः ॥

(३५) अजिराः। 'अज गतिक्षेपणयोः (भ्वा० प०)'। 'अजिरशिशिरशिथिलस्थिरस्फिरस्थविरखदिराः (उ० १, ५३)'—इति किरच्प्रत्ययो वीभावाभावश्च निपात्यते। अजन्ति गच्छन्ति क्षिप्यन्ते प्रेर्यन्ते आसु नाव इति। यद्वा, 'अजिरम्'—इति क्षिप्रनाम (निघ० २, १५), अजिराः शीघ्रगाः ॥

(३६) मातरः। 'माङ् माने (अदा० आ०)'। तृन्तृचौ, 'शंसिक्षदादिभ्यः संज्ञायां तृन्तृचौ (उ० २, ८०)'—इति वचनात्। 'न षट्स्वस्रादिभ्यः (४, १, १०)'—इति ङीप्-प्रतिषेधः। निर्मीयते प्रजापतिना, मान्ति आसु आप इति वा, मातृवल्लोकस्य रक्षिका इति वा, नदीमातृक इति हि देशस्य व्यपदेशः। "जज्ञानं सप्तमातरः (ऋ० सं० ७, ५, ४, ४)"—"द्वितीयमा सप्तशिवासु मातृषु (ऋ० सं० २, २, ८, २)"—इति [illegible] ॥

(३७) नद्यः। 'णद अव्यक्ते शब्दे (भू० प०)'। पचाद्यच् (३, १, १३४)। तत्र च 'नदट्'—इति टिद्यं पठ्यते (४, १, ५ मा०), ततो ङीप्। नदन्ति नद्यः। "सो अर्णवो न नद्यः समुद्रियः (ऋ० सं० १, ४, १६, २)"—"प्रतीपं शापं नद्यो हन्ति (ऋ० सं० ७, ७, २०, ४)"—इति च निगमौ॥

इति सप्तत्रिंशन्नदीनामानि॥ १३॥

अत्यः (१)। हयः (२)। अर्वा (३)। वाजी (४)। सप्तिः (५)। वह्निः (६)। दधिक्राः (७)। दधिक्रावा (८)। एतग्वा (९)। एतशः (१०)। पैद्वः (११)। दौर्गहः (१२)। औच्चैःश्रवसः (१३)। तार्क्ष्यः (१४)। आशुः (१५)। ब्रध्नः (१६)। अरुषः (१७)। मांश्चत्वः (१८)। अव्यथयः (१९)। श्येनासः (२०)। सुपर्णाः (२१)। पतङ्गाः (२२)। नरः (२३)। ह्वार्याणाम् (२४)। हंसासः (२५)। अश्वाः (२६)।

इति षड्विंशतिरश्वनामानि॥१४॥

(१) अत्यः। 'अत सातत्यगमने (भू० प०)'। 'कृत्यल्युटो बहुलम् (३, ३, ११३)'—इति कर्त्तरि यत्। अथवा 'अघ्न्यादयश्च

(उ० ४, १०८)'—इति असुन्प्रत्ययो द्रष्टव्यः। अपि गच्छति, गन्तृत्वसामान्यात् इति वा। "गच्छन्ता मही धरन्तु (ऋ० सं० ५, १, ३०, ४)"—इति निगमः ॥

(३) हयः। 'हय गतिकान्त्योः (भू० प०)'। पचाद्यच् (३, १, १३४)। इयति गच्छत्यध्वानम्, जिगमति वा। 'अथ हयो गतिविशेषो विक्रमणम्'—इति वृत्तिः। "हयो न विद्वाँ अयुजि स्वयं धुरि (ऋ० सं० ५, ३, २८, १)"—"हयोऽसि (ता० ब्रा० १, १, ७)"—इति च निगमौ ॥

(४) अर्वा। 'ऋ गतिप्रापणयोः (भू० प०)'। अर्वति-पर्वनिभृशपिभ्यो वनिप् (उ० ४, १०१)'—इति वनिप् प्रत्ययः। गच्छत्यध्वानं प्रापयत्यध्वनः पारमिति वा। 'अर्वे-रणवान् (निरु० १०, ३१)'—इति भाष्ये स्कन्दस्वामी। भाष्ये तु अर्वैरणवान् इत्यर्थमात्रवचनं द्रष्टव्यम्। अर्वति-र्गीतण्यर्थो वा। 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (३, २, ७५)'—इति वनिपि रूपम्। प्रेर्यते कशादिना प्रतिक्षणं पार्ष्ण्यादिनेति वा। यद्वा, अन्यमाश्रितः अस्वतन्त्र इत्यर्थः अर्यो हारोति-परतन्त्रः। "द्रुणो यन्यन् कृत्वा नार्वा (ऋ० सं० ५, ५, १४, ४)"—इति निगमः ॥

(५) वाजी। 'वज गतौ (भू० प०)'। घञ्। वाजो वेगः। 'रंहस्तरणिः प्रसमो वेगो रयो जवो वाजः'—इति निघण्टुः। 'अजिव्रज्योश्च (७, ३, ६०)'—इत्यत्र न्यासः—'चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वाद् वजेरपि कुत्वप्रतिषेधसिद्धे भवति वाजः

राज्यम्'—इति। वाजोऽस्यास्ति 'अत इनिठनौ (५, २, ११५)' वाजी। वेगवान् छागः। यद्वा, वाजोऽन्नं, देवतात्वे हविर्ल-क्षणेन, अन्नजातीयत्वे तज्जात्युचितमुद्गाद्यन्नेन तद्वान्। 'वाजाः पक्षाः अभूवन्नस्येति वाजी'—इति क्षीरस्वामी। वेजनवान् वा। वेजनं कम्पनं कम्पितः स्वयं, कम्पयिता वा परेषामित्यर्थः। अत्र 'ओ विजी भयचलनयोः (रु० प०)'—इत्यस्माद् वाजशब्दः पृषोदरादित्वात् सिद्धः। "विमोचनं वाजिनो रासभस्य (ऋ० सं० ३, ३, १६, ५)"—इति निगमः॥

(५) सप्तिः। 'षप समवाये (भू० प०)'। 'सपिनसिव-सिपद्भ्यस्तिप्'—इति श्रीभोजदेवः। सपति सङ्ग्रामेषु सह-सामेवैति। गतिकर्मणो वा सप्तिः। 'सपतेः स्पर्शार्थात्'—इति माधवः। 'सृपृ गतौ (भू० प०)'—अस्माद्वा तिप्रत्यये गुणे च रेफलोपो बाहुलकात्, सर्पति सप्तिः। "जुषाण इन्द्र सप्तिभिर्न आ गहि (ऋ० सं० ६, १, १, ३)"—इति निगमः॥

(६) वह्निः। 'वह प्रापणे (भू० उ०)'। 'वहिश्रिश्रुयुद्रुग्ला-हात्वरिभ्यो नित् (उ० ४, ५१)'—इति निप्रत्ययः। "ये त्वा वहन्ति वह्नयः (ऋ० सं० १, १, २६, ६)"—इति निगमः॥

(७) दधिक्राः। 'तत्र दधिका इत्येतद् दधत् क्रामतीति वा दधत् क्रन्दतीति वा दधदाकारी भवतीति वा (निरु० २, २७)'—इत्यत्र स्कन्दस्वामी—'दधिकाः, दधत् धारयत् स्वारोहिणं क्रामति, दधत् क्रन्दति हर्षार्थं हेषारवं करोति, दधदित्याकारी भवति अधिष्ठितम्, ईषदवनतमध्यभागः, उद्धतकन्धरः, कुञ्चितघोणः,

स्तिमितप्रश्नुः कर्णशुक्तिकाकारो भवति'—इति। सर्वत्र दधच्छ-
ब्दः पूर्वपदं तस्य पृषोदरादित्वात् ( ६, ३, १०९ ) तकारलो-
इकारान्तादेशश्च। क्रामतेः क्रन्दतेराङ्पूर्वात् करोतेर्वोत्तरप-
दत्र, क्रामतेः 'जनसनखनक्रमगमो विट् (३, २, ६७)'—इति विट्
'विड्वनोरनुनासिकस्यात् ( ६, ४, ४१ )'—इत्यात्वम्। क्रन्दे-
'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (३, २, ७५)'—इति विच्, व्यत्ययेनानुना-
सिकस्यात्वं, दकारलोपश्च पृषोदरादित्वेन करोतेः क्विप् दुक्
चानुवर्त्तने। आङ् च धातोः परो यणादेशः, दधिक्राः। 'क्रतु
दधिक्रा अनुमन्तवी त्वत् ( ऋ० सं० ३, ७, १४, ४ )"—इति
निगमः॥

(८) दधिक्रावा। अत्र 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते ( ३, २, ७५ )'
—इति वनिप्। अन्यत्सर्वं पूर्वेण समानम् अर्थश्च। 'दधि-
क्रावेवमूर्जं स्वर्जनत् (ऋ० सं० ३, ७, १४, २)"—इति निगमः॥

(९) एतग्वा। 'इण् गतौ ( अदा० प० )'। 'हसिमृग्रि-
ण्वामिदमिलूपूधुर्विभ्यस्तन् ( उ० ३, ८३ )'—इति तन्प्रत्ययः
कर्मणि। 'भूतेऽपि दृश्यन्ते ( ३, ३, २ )'—इत्युक्तेः भूतेऽपि
भवन्ति। एतं प्राप्तम्। 'गम्लृ गतौ (भ्वा० प०)' 'इण्शीभ्यां
वन् ( उ० १, १५० )'—इति बाहुलकात् वन्प्रत्ययः टिलोपश्च।
गम्यत इति ग्वः गन्तव्यो देशः। एतः प्राप्तो गन्तव्यो येन स
एतग्वः। अश्वस्तु शैघ्र्यातिशयेन गमनारम्भ एवाविलम्बितं
गन्तव्यदेशं प्राप्नोतीति एत उच्यते। 'एतग्वाः प्राप्तगन्तव्याः'—
इति माधवः। यद्वा, एतशब्दः शुक्लपर्यायः, गमेः क्विप्, 'गमः

तौ (६, ४, ४०)'—इत्यनुनासिकलोपः, 'ऊञ्च गमादीनाम् (६, ४, ४० वा०)'—इत्युकारोऽन्तादेशः। आगमनमागूः। धातूपसर्गयोः स्थानविपर्यासः प्राप्तः। एतस्य शुक्लवर्णस्यागमनमस्त्यस्मिन् मत्वर्थीयस्य लुक्। एतग्वाः शुक्लवर्णा अश्वाः। यद्वा, एतः शुक्लवर्णोऽस्यास्तीति 'केशाद्वोऽन्यतरस्याम् (५, २, १०९)'—अन्येभ्योऽपि दृश्यते (५, २, १०९ वा०)'—इति वप्रत्ययः, गकार उपजनः। 'एतस्य श्वेतवर्णस्य ग्वो मत्वर्थीयो भवति'—इति माधवः। सर्वेषामश्वानां यत्र क्वापि शौक्ल्यमस्ति रूपेण वा। एतग्वाशब्दोऽश्वे वर्तते। तथाच 'विशाखाषाढौ मन्थदण्डयोः'—इत्यत्र पदमञ्जरी—'विशाखाषाढशब्दौ रूढिरूपेण मन्थदण्डयोर्वर्त्तेते, तेन यथाकथञ्चिन् साधुत्वानुशासनार्थं व्युत्पत्तिः क्रियते, —इति। तेनामत्वर्थेऽपि न दोषः। 'एतग्वा'—इत्याकारान्तपाठो यथादृष्टम्। "एतग्वा चित्र सुयुजा युजानः (ऋ० सं० ५, ५, १७, २)"—"एतग्वा चित् एतशा युयोजते (ऋ० सं० ६, ५, ६, २)"—इतिव निगमादौ 'सुपां सुलुक् (७, १, ३९)'—इति विभक्तेराकारः॥

(१०) एतशः। 'इण् गतौ (अदा० प०)'। 'इणस्तशन्तशसुनौ (उ० ३, १४५)'—इति तशन्प्रत्ययः। एतशः गमनकुशलः। यद्वा, एतशब्दात् लोमादित्वात् (५, २, १००) शस्। एतद्वा एतच्छरीर एतशः, पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०९) सर्वसिद्धिः। "एतशो वहति धूर्षु युक्तः (ऋ० सं० ५, ५, ५, २)"—"यदेतशेभिः पतरै रथर्यसि (ऋ० सं० ७, ८, १२, ३)"—इति च निगमौ॥

(११) पैद्वः । 'पद गतौ (दि० आ०)'। 'कृगृशृवृञ्भ्यो ... (उ० १.१५३)' इति ... बाहुलकात्, ... पृषोदरादित्वात् (६.३.१०९)। पद्यते गच्छति ... वा। 'पैद्वः पैद्वो गतिक्रियावान्'—इति माधवः। "त्वं ... हि त्य भरि मायो हन्था (ऋ० सं० ७, ३, २५, ४)"—इति निगमः॥

(१२) दौर्गहः । दुर्गाहे उत्पन्ने गृभ्णातेः (क्र्या० उ०), गाहेर्वा (भ्वा० आ०) 'ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल् (३, ३, १२६), रेफलोपः, पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०९) गृभ्णातेः, गाहेर्व्यत्ययेन। अश्वहृदयानभिज्ञैर्दोषमशक्यत्वात् दुर्गाह इत्युच्यते। दुर्गह एव दौर्गहः, प्रज्ञादित्वादण् (५, ४, ३८)। यद्वा, 'दुःखेन गाहितव्यत्वात् दुर्गाहं जलमुच्यते'—इति माधवः, तत्र भवो दौर्गहः 'तत्र भवः (४, ३, ५३)'—इत्यण्, 'अप्सु योनिर्वा अश्वः (शत० ब्रा० ५, ४, ४, ४)'—इति श्रुतिः। "ससस्पयो दौर्गहे बध्यमाने (ऋ० सं० ३, ७, १८, ३)"—इति निगमः॥

(१३) औच्चैःश्रवसः । अमृतमन्थने जातोऽस्य उच्चैःश्रवाः उच्चैर्महच्छ्रयः कीर्तिरस्येति, 'तस्यापत्यम् (४, १, ९२)'—इत्यण्। तत्कुलीना ह्यश्वाः सर्वे। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(१४) तार्क्ष्यः । तूर्णमश्नुते गन्तव्यं, तीर्णे अन्तरिक्षे क्षियतीति तार्क्ष्यः। तूर्णशब्दात् तीर्णशब्दाद्वा पूर्वपदम्, अश्नोतेः क्षीयतेर्वोत्तरपदम्, पृषोदरादिः (६, ३, १०९)। अश्वो हि वेगवशादाकाशे गच्छन्निव हि दृश्यते प्रेक्षकैः। यद्वा, वेगेन

ार्क्ष्यसादृश्यात् तार्क्ष्य इत्युच्यते। 'तुरङ्गगरुडौ तार्क्ष्यौ' (अम० को० ३, ३, १४५)'—इत्यत्र तृक्षस्यापत्यं तार्क्ष्यः, गर्गादित्वात्, —इति क्षीरस्वामी। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(१५) आशुः। 'अशू व्याप्तौ (स्वा० आ०)'। 'कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण् (उ० १, १)'। अश्नुतेऽध्वानम्। अश्नातेर्वा बाहुलकादुण् (३, ३, १)। अश्नाति महाशनो भवति। आशुरिति क्षिप्रनाम (निघ० २, १५), शीघ्रो वा। "प्रयज्यवोऽश्वाआशुषु (ऋ० सं० ६, ३, १३, ८)"—इति निगमः॥

(१६) ब्रध्नः। अत्र भास्करमिश्रेण—'ब्रध्नम् परिवृढम्, अरुषमारोचनम्'—इति व्याख्यातम्। वाजसनेये तु,—"युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषञ्चरन्तम् (ऋ० सं० १, १, ११, १)"—इत्यत्र, उवटः —'अश्वं युञ्जन्ति ब्रध्नमिति, अश्वोऽआदित्यवत् स्तूयत इति वा॥

(१७) अरुषः। 'ऋ गतिप्रापणयोः (क्र्या० प०)'। ऋणाति अभ्यामुखं गच्छति, अर्य्यते वा तदर्थिभिः। यद्वा, अरुषमिति रूपनाम (निघ० ३, ७), मत्वर्थीयोऽकारः, प्रशस्तरूप इत्यर्थः। "हरिं मृजन्त्यरुषो न युज्यते (ऋ० सं० ७, २, २७, १)"—इति निगमः॥

(१८) मांश्चत्वः। 'मन ज्ञाने (दि० आ०)'। पदस्य नलोपाभावः पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०९)। "महीमे अस्य वृषनाम शूषे मांश्चत्वे वा पृशने वा वधत्रे (ऋ० सं० ७, ४, २१, ४)"—इत्यत्र, माधवस्य प्रथमभाष्यम्—'मही महती, इमे, अस्य सोमस्य, शूषे सुखकरे भवतः। ये च कर्मणी

मांश्चत्वे । अश्वनामैतत् । अश्व मरणानीति । अश्वैः क्रियन्ते युद्धे बाहुयुद्धे, यथमे शत्रूणां हिंसनशीले भवतः । सौर्य-अश्वाश्चन्द्रमसो इत्यत्र । मांश्चत्वं प्रद्रावणम् । अश्व प्रत्ययार्थः—इत्यादि । अश्व मांश्चत्वस्य । समाम्नायपाठेषु मंश्चत्व इति दृश्यते । 'अश्वं मांश्चतोर्वरुणस्य बभ्रुम् (ऋ० सं० ५, ४, ११, ३ )'—इत्यत्र माधवः—'मंश्चतुरित्यश्वनाम । इह तु वरुण-विशेषणम्, मंश्चतोर्वरुणस्य महान्तं बभ्रम्'—इत्यमास्थत् निरूपणीयम् ॥

(१९) अत्यथयः । 'एकामष्टाबुत्तराणि बहुवदित्युक्तम् (निरु० २, २४७ )' असन्देहार्थमेतद्वाद्दीनि बहुवचनान्तानि नामानि । 'व्यथ भयचलनयोः ( भू० आ० )' । 'इन् सर्वधातुभ्यः (उ० ४, ११४ )'—इतीन्प्रत्ययः, नञ्समासः । न व्यथन्त्यभिसङ्ग्रामेषु अव्यथयः दृष्टे भयेऽप्यव्यथः स्यादिति भावः । यद्वा, व्यथि-रिति क्रोधनाम ( निघ० २, १३ ), आरोहणताडनबन्धनादिभिर्न क्रुध्यन्तीत्यर्थः । "पतत्रिभिरश्रमैरव्यथिभिः ( ऋ० सं० ५, ६, १६, ७ )"—इति निगमः ॥

(२०) श्येनासः । 'श्येनः शंसनीयं गच्छति ( निरु० ४, २४)'—इति भाष्ये । जसि 'आज्जसेरसुक् ( ७, १, ५० )' । "श्येनासो न दुवसनासो अर्थम् ( ऋ० सं० ३, ५, ५, ५ )"—इति निगमः ॥

(२१) सुपर्णाः । 'पॄ पालनपूरणयोः ( जु० प० )' । 'धाप्-घस्यज्यतिभ्यो नः (उ० ३, ६ )'—इति नप्रत्ययः । सुपाल्यन्ते

सादिप्रदानेन, पूरयन्ति वा नमः हेयात्यादिना सङ्ग्रा-
ाधनत्वात्। पततेर्वा बाहुलकात् नप्रत्ययस्तकारस्य रेफः,
मनगमना इत्यर्थः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(२२) पतङ्गाः। 'पतॢ गतौ (भू० प०)'। 'पतेरङ्गच्
१० १, ११७)'। यद्वा, खच्प्रकरणे 'गमेर्सु खच्युपसंख्यानम्
, २, ६८ वा०)'—इति खच्, खच डिद्वा वक्तव्यः (३, २,
वा०), 'खित्यनव्ययस्य (६, ३, ६६)'—इति मुम् पतङ्गा
ते। 'अश्वाः पूर्वं पक्षिणोऽभूवन्—इति श्रूयते। "रथं युक्तास
ाशवः पतङ्गाः (ऋ० सं० १, ८, १८, ४)"—इति निगमः।
ाशुशब्दो विशेषणम्॥

(२३) नरः। 'णीञ् प्रापणे (भू० उ०)'। 'नयतेर्डिच्च
उ० ३, १३)'—इति ऋन्प्रत्ययः। जसि नरः। नयन्ति
ारोहिणम्, कर्मणो नेतारो वा नरः। "रथं सूरो हरितो
मयोर्नृन् (ऋ० सं० १, ८, २६, २)"—इति निगमः। 'नॄन्
श्वान्'—इति माधवः॥

(२४) हार्य्याणाम्। 'हृ कौटिल्ये (भू० प०)'। 'अहृतो॰
र्यत् (३, १, १२४)'। स्वर्लीनायाकरणे मुखादिष्वङ्गेषु
ुटिलीभवन्ते हाराः। यद्वा, हरतिरत्तिकर्मा (निघ० २,
), 'ऋहलोर्ण्यत् (३, ३, ११३)'—इति ण्यत्। हरत्यर्थम्
भ्वाः हार्य्याः। 'हरि गतौ'—इति माधवः। "हार्य्याणाम्"
—इति पाठान्तरपाठः। "पुत्रो न हार्य्याणाम् (ऋ० सं० ४, १,
, ४)"—इति निगमः॥

(२५) हंसासः। 'हन हिंसागत्योः (अदा० प०)'। 'वृतॄवदिहनिकमिकषि (शुध्यवि) भ्यः सः (उ० ३, ६२)'—इति सप्रत्ययः। घ्नन्ति गच्छन्त्यध्वानं, गच्छन्तः पद्भिरध्वानं हिंसन्ति वा (ऐ० ब्रा० ५, १, १)। "हंसासो ये वां मधुमन्तो अस्रिध (ऋ० सं० ३, ७, २१, ४)"—इति निगमः॥

(२६) अश्वाः। 'अशू व्याप्तौ (स्वा० आ०)'। 'अशुपुषिलटिकसिवटिविशिभ्यः क्वन् (उ० १, १४९)'—इति क्वन्प्रत्ययः। अश्नुतेर्वा बाहुल्यकात्। अश्नुवतेऽध्वानं महाशना भवन्तीति च। "यदाक्षिवुर्दिव्यमज्ममश्वाः (ऋ० सं० २, ३, १२, ५)"—इति निगमः॥

इति षड्विंशतिरश्वनामानि॥ १४॥

'दशोत्तराण्यादिष्टोपयोजनानीत्याचक्षते साहचर्यज्ञानाय (निरु० २, २८)'—इतिहासपक्षेऽपि पूर्वपक्षापरपक्षावहोरात्रे वा॥

हरी इन्द्रस्य (१)। रोहितोऽग्नेः (२)। हरित आदित्यस्य (३)। रासभावश्विनोः (४)। अजाः पूष्णः (५)। पृषत्यो मरुताम् (६)। अरुण्यो गाव उषसः (७)। श्यावाः सवितुः (८)। विश्वरूपा बृहस्पतेः (९)। नियुतो वायोः (१०)। इति दशाऽऽदिष्टोपयोजनानि॥ १५॥

"(१) हरी इन्द्रस्य। सोमपानादिक्रियायाः साधनत्वात्॥

(२) रोहितोऽग्नेः। नित्यपक्षे ज्वाला भव्या व्याप्तिमत्यः॥

(३) हरित आदित्यस्य। हरितवर्णा रश्मयः प्रातरादिष्वस्य॥

(४) रासभावश्विनोः। अश्विसोमकाले रासभवर्णौ, तत्-कालोचितेन श्यामलेन वर्णेनायं व्यपदेशः॥

(५) अजाः पूष्णः। अजा अजनात्। पूष्णः काले रश्मयो गच्छन्ति॥

(६) पृषत्यो मरुताम्। प्रावृषि सर्वतः पृषत्यो विचित्रा मेघमाला मरुताम्॥

(७) अरुण्यो गाव उषसः। उषसः काले तमोऽभिभवे अरुणिमायामागमत्र्यः॥

(८) श्यावाः सवितुः। सवितुः काले श्यामवर्णा भवन्ति॥

(९) विश्वरूपा बृहस्पतेः। 'छन्दांसि वै विश्वरूपाणि (शत० ब्रा० ८, ४)'—इति श्रुतेः॥

(१०) नियुतो वायोः। "अप्रवृत्तौ तृणपर्णानामवादेः सञ्चरणान्मिश्रणान्नियुतः॥"—इति स्कन्दस्वामिग्रन्थाः॥

शब्दव्युत्पत्तिस्तावत् प्रदर्श्यते—

(१) हरी। 'हृञ् हरणे (भ्वा० उ०)'। 'हृपिषिरुहिवृति-विदिछिदिकीर्तिभ्यश्च (उ० ४, ११५)'—इतीन्प्रत्ययः। हरतो रथम्। अत्र ताण्ड्यकम्—'पूर्वपक्षापरपक्षौ वा इन्द्रस्य हरी, ताभ्यां हीदं सर्वं हरति (६, १, १)—इति, अस्मिन् पक्षे करणे इन्। 'ऋक्सामे वा इन्द्रस्य हरी'—इत्यैतरेयब्राह्मणम् (२, ३,

६)। 'अश्वत्सामे वै हरी'—इति यजुर्ब्राह्मणम् (५, ४, ३१)। "इन्द्रो हरी युयुजे अश्विना रथम् ( ऋ० सं० २, ३, ५, १ )"—इति निगमः ॥

(२) रोहितः। 'रुहरुहियुनिम्य इतिः ( उ० १, १४ )'—इति इतिप्रत्ययः। रोहन्ति आरोहन्ति रथं वहन्त्यादित्यमिति रोहितः। "रोहिदश्व शुचिव्रत (ऋ० सं० ६, ३, ३२, १)"—इति निगमः॥

(३) हरितः। पूर्ववत् इतिः (उ० १, १४)। हरन्ति रसं तमो वा स्वभासा। यद्वा, हरिच्छब्दः पीतवर्णवचनो हरिद्वर्णौ वा। "यदेतदयुक्त हरितः सधस्थात् ( ऋ० सं० १, ८, ७, ४ )" —इति निगमः॥

(४) रासभौ। 'रासृ शब्दे ( भू० आ० )'। रासिवल्लिभ्यां च ( उ० ३, १२१ )'—इत्यभच्प्रत्ययः। रासते शब्दं करोतीति रासभः, तौ रासभौ। 'गर्दभरथेनाश्विना उदजयताम्'—इति ब्राह्मणम् (ऐ० ब्रा० ४, २, ३)। "युञ्जाथां रासभं रथे ( ऋ० सं० ६, ६, ८, २ )"—"तद्रासभो नासत्या सहस्रमाजा ( ऋ० सं० १, ८, ८, २ )"—इति च निगमौ॥

(५) अजाः। 'अज गतिक्षेपणयोः ( भू० प० )'। पचाद्यच् ( ३, १, १३४ )। वीभावाभावो व्यत्ययेन। अजन्ति गच्छन्ति सर्वतः क्षिपन्ति वा तमः। "अहेळमानो ररिवाँ अजाश्व श्रवस्यतामजाश्व ( ऋ० सं० २, २, २, ४ )"—इति निगमः॥

(६) पृषत्यः। 'पृषु वृषु सेचने ( भू० प० )'। 'वर्तमाने पृषन्महत् (६, ४, ३० वा०)'—इत्यादिना सिद्धम्। 'पृषत्यः सह

सङ्गताः'—इति माधवः। तदा 'पुंयोगादाख्यायाम् (४, १, ४८)'—इति ङीष्। "उपो रथेषु पृषतीरयुग्ध्वम् (ऋ० सं० १, ३, १६, १)"—इति निगमः ॥

(७) गावः। व्याख्याता रश्मिनामसु (१, ५, ३)। गन्त्र्यः। "युङ्क्ते गवामरुणानामनीकम् (ऋ० सं० २, १, ६, १)"—इति निगमः ॥

(८) श्यावाः। 'श्यैङ् गतौ (भ्वा० आ०)'। 'कृगृशृदृभ्यो वः (उ० १, १५३)'—इति बाहुलकाद् वप्रत्ययः। श्यावो धूसरारुणो वर्णः, तद्वन्तोऽपि श्यावाः, 'गुणवचनेभ्यो मतुपो लुगिष्टः (१, ४, ११ वा०)'। "वि जनाञ्छ्यावाः शितिपादो अख्यन् (ऋ० सं० १, ३, ६, ५)"—इति निगमः।

(९) विश्वरूपाः। नानावर्णाश्वाः। "बृहस्पतिश्च सविता च विश्वरूपैरिहागतम्"—"बृहस्पतिर्विश्वरूपामुपाजत (ऋ० सं० २, ३, ५, १)"—इति च निगमौ ॥

(१०) नियुतः। निपूर्वात् 'यु मिश्रणे (अदा० प०)'—इत्यस्मात् क्विप्। नियुवन्ति मिश्रयन्ति तृणपर्णादीनि, आत्मानं रथेन वा। यद्वा, निपूर्वात् 'यमु उपरमे (भ्वा० प०)'—इत्यस्मात् 'मृग्रोरुतिः (उ० १, ९१)'—इति बाहुलकात् उतिप्रत्ययष्टिलोपश्च। नियम्यन्ते सारथिना नियुतः। "नियुद्भिर्वा यविष्ठे दुरोणे (ऋ० सं० ५, ६, १४, ३)"—इति निगमः ॥

इति दशादिष्टोपयोजनानि ॥ १५ ॥

भ्राजते (१)। भ्राशते (२)। भ्राश्यति (३)। दीदयति (४)। शोचति (५)। मन्दते (६)। भन्दते (७)। रोचते (८)। द्योतते (९)। ज्योतते (१०)। द्युमत् (११)। इत्येकादश ज्वलतिकर्माणः ॥१६॥

(१) भ्राजते। 'टु भ्राजृ दीप्तौ' भ्वादिरात्मनेपदी। "भ्राजते श्रेणिदन् (ऋ० सं० ७, ७, २, ३)"—इति निगमः॥

(२), (३) भ्राशते। भ्राश्यति। 'टु भ्राशृ भ्लाशृ दीप्तौ' भ्वादी आत्मनेपदिनौ। 'वा भ्राशभ्लाशभ्रमुक्रमुक्लमुत्रसित्रुटिलषः (३, १, ७०)'—इति पक्षे श्यन्, परस्मैपदित्वं छान्दसम्। "नि तिग्मानि भ्राशयन् भ्राश्यानि (ऋ० सं० ८, ६, २०, ५)"—इति निगमः। 'भ्राश्यति शिलाजितादीनि' —इति माधवः। भ्लाश्यतीति पाठान्तरम्। भ्राश्यतीतिवत् प्रक्रिया॥

(४) दीदयति। नैरुक्तो धातुः (निरु० १०, ११)। यद्वा, 'दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः (अदा० आ०)'—इत्यस्य धकारस्य दकारो व्यत्ययेन, 'बहुलं छन्दसि (२, ४, ७३)'—इति शपो लुगभावः, परस्मैपदित्वं छान्दसम्। "यो अनिध्मो दीदयदप्स्वन्तः (ऋ० सं० ७, ७, २४, ४)"—इति निगमः॥

(५) शोचति। 'शुच शोके' भ्वादिः परस्मैपदी, दीप्त्यर्थत्वं त्वनेकार्थत्वाद्धातूनाम्। "अजस्रेण शोचिषा शोशु चानः (ऋ० सं० ५, २, ७, ४)"—इति निगमः॥

(६) मन्दते। 'मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु' अत्र दीप्त्यर्थः। भ्वादिरात्मनेपदी। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(७) भन्दते। 'भदि कल्याणे सुखे च' भ्वादिरात्मनेपदी दीप्त्यर्थत्वं पूर्ववत्। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(८) रोचते। 'रुच दीप्तौ' चुरादिरात्मनेपदी। क्वचिद्धि "वि यत् सूर्यो न रोचते बृहद्भाः (ऋ० सं० ५, २, ११, ४)"—इति निगमः॥

(९) द्योतते। 'द्युत दीप्तौ' भ्वादिरात्मनेपदी। "अदिद्युतत् (ऋ० सं० ४, ५, १३, ४)"—इति निगमः॥

(१०) ज्योतते। 'द्युतज्युत दीप्तौ' भ्वादिरात्मनेपदी। यकारश्छान्दसः। यद्वा, द्युतेर्विगृहीतः। 'द्युतेरिसिन्नादेश्च जः (उ० २, १०३)'—इति इसिन्प्रत्यये विहितो जो बाहुलकादन्यत्रापि भवति। निगमोऽन्वेषणीयः॥

केचिदस्य स्थाने "छन्दते"—इति पठन्ति। 'छदि संवरणे'—इति चुरादिः परस्मैपदी, व्यत्ययेनात्मनेपदं णिलोपः, 'छन्दस्युभयथा (३, ४, ११७)'—इत्यार्द्धधातुकत्वाद्वा णिलोपः। निगमदर्शनान्निर्णयः॥

(११) द्युमत्। द्योतते द्युत्, सम्पदादित्वात् (३, ३, ९४ वा०) क्विप्। द्युरस्तीति मतुप्, पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०९)

सकारलोपः। यद्वा, 'दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिकान्तिगतिषु (दि० प०)'—इत्यस्मात् दीप्त्यर्थात् दिवे दीव्यतीति विचि प्रत्यये द्योतनं दिव्, ततो मतुपि 'दिव उत् (६, १, १३१)'—इत्युत्वं दीप्तिमदित्यर्थः। समाम्नाये यस्य पदार्थस्य यद् वाचकमाख्यातं नाम च तत्तस्यैवान्यत्रापि पठ्यते। तथाहि—कान्तिकर्मसु (निघ० २, ६) उशिगादि, व्याप्तिकर्मसु (निघ० २, १८) आप्नुवान इत्यादि, महन्नामसु (निघ० ३, १) ववक्षिथ विवक्षसे, पश्यतिकर्मसु (निघ० ३, ११) विचर्षणिरित्यादि, एवमिहापि द्युमदिति नामपदस्य धातुमध्ये पाठः किञ्चिद् द्योततेर्धातुत्वात्यद्यपि धातूनामनेकार्थत्वात् ज्वलनार्थत्वख्यापनार्थम्। "द्युमदमीवचातनं रक्षोहा (ऋ० सं० ५, २, १२, ६)" —इति निगमः॥

इत्येकादश ज्वलतिकर्माणो धातवः॥ १६॥

जमत् (१)। कल्मलीकिनम् (२)। जञ्जणाभवन् (३)। मल्मलाभवन् (४)। अर्चिः (५)। शोचिः (६)। तपः (७)। तेजः (८)। हरः (९)। घृणिः (१०)। शृङ्गाणिः (११)। शृङ्गाणि (१२)। इत्येकादश ज्वलतो नामधेयानि नामधेयानि॥१७॥

गौर्हिमाऽस्वरं स्वा १ः खेदय आता श्याची विभावरी वस्तो रद्रिः श्लोकोऽर्णोऽवनयोऽत्यो हरी इन्द्रस्य भ्राजते जमदिति सप्तदश ॥

इति निघण्टौ प्रथमाध्यायः समाप्तः ॥१॥

(१) जमत्। अत्र स्कन्दस्वामी—'सावन्त्येयोत्तराणि जमदित्यादीनि ज्वलतो दीप्तिमतः सत्त्वस्य नामधेयानि'—इति। 'जसु अदने (भू० प०)'। "गृणाना जमदग्निना (३, ४, ११, १८)"—इत्यादिषु जमच्छब्द उदाहरणम् ॥

(२) कल्मलीकिनम्। 'कल्मलीकं भवेत्'—इति माधवः। पृषोदरादिः, उत्तरे च। "नमस्या कल्मलीकिनं नमोभिः (ऋ० सं० २, ७, १७, ३)"—इति निगमः ॥

(३) जञ्जणाभवन्। "अर्चिषा जञ्जणाभवन् (ऋ० सं० २, ३, ३०, ४)"—इति निगमः ॥

(४) मल्मलाभवन्। "मल्मलाभवन्तीत्यासाद्यामि"—इति निगमः ॥

(५) अर्चिः। 'अर्च पूजायाम् (भू० प०)'। 'अर्चिशुचिहुसृपिछदिछर्दिभ्य इसिः (उ० २, १०१)'—इतीसिप्रत्ययः। अर्च्यन्ते देवताद्यर्चनसाधनत्वाद्वा अर्चिरन्न्यादिज्वालादिः। "अग्नो दंष्ट्रो अर्चिषा यातुधानान् (ऋ० सं ८, ४, ५, २)"—इति निगमः ॥

(६) शोचिः। शोचतेर्ज्वलतिकर्मणः (निघ० २, १६) पूर्वसूत्रेण इसिः (उ० २, १०१)। शोचति शोचिः। "यद्स्य

यातो अनुयाति शोचिः (ऋ० सं० ३, ५, ७, ५)"—इति निगमः ॥

(७) तपः । 'तप सन्तापे (भू० प०)' । 'तप दाहे (चु० प०)' वा । असुन् (उ० ४, १८९)। तपन्ति शरीरादि । "परा शृणीहि तपसा यातुधानान् (ऋ० सं० ८, ४, ७, ४)"—"अग्ने यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप (अथ० सं० २, १९, १)"—इति च निगमौ ॥

(८) तेजः । 'तिज निशाने (भू० आ०)' । असुन् (उ० ४, १८९)। निश्यति तनूकरोति तमः पापं वा । यद्वा, 'तिज पालने (भू० प०)' । असुन् । तेजति पालयति प्राणिनां प्रकाशदानेन । "अग्ने यत्ते तेजस्तेन (अथ० सं० २, १९, ५)" —इति निगमः ॥

(९) हरः । 'हृञ् हरणे (भू० उ०)' । असुन् । हरति तमः । "अग्ने यत्ते हरस्तेन (अथ० सं० २, १९, २)"—"रक्षो हरसा शृणीहि (ऋ० सं० ८, ४, ७, ४)"—इति च निगमौ ॥

(१०) घृणिः । 'घृणिपृश्निपार्ष्णिचूर्णिभूर्णि'—इति । 'घृ क्षरणदीप्त्योः (भू० प०)'—इत्यस्मान्निप्रत्यये गुणाभावो निपात्यते । जिघर्त्ति दीप्यते । यद्वा, 'घृणु दीप्तौ (तना० उ०)' । 'इगुपधात् किन् (उ० ४, ११६)'—इति इप्रत्ययः । दीप्यते घृणिः । "उप छायामिव घृणेः (ऋ० सं० ४, ५, २८, ३)"—इति निगमः । आ घृणे सं सचावहै (ऋ० सं० ४, ८, २१, १)" —इति च ॥

"द्युणिः"—इति केषुचित् कोशेषु दृश्यते, तदयुक्तम्, नैगम काण्डे "आ घृणिः (निरु० ५, ६)"—इत्यत्र, 'ज्वलत्नामसु क्रोधनामसु (निघ० २, १३) च पाठादनेकार्थत्वम्'—इति स्कन्दस्वामिवचनात् ॥

(११) शृङ्गाणि। 'शृगि शब्दे'। अत्र शृङ्गव्याख्यानीयत्वात् दीप्तय उच्यन्ते। 'श्रिञ् सेवायां (भ्वा० उ०)'—शॄ हिंसायाम् (क्र्या० प०)'। शृणातेर्ह्रस्वश्च (उ० १, १२५), गन् (१२१), कित् (१२२), नुट् (१२४) च इति अधिक्रियते, श्रयतेर्बाहुलकात् सम्प्रसारणादि च भवति। श्रितं हि तदाश्रितं मण्डले हिनस्ति तत् ग्रीष्मेण प्राणिनः। 'शृङ्गं श्रयतेः (निरु० २, ७)'—इत्यत्र 'जातेर्वा'—इति निर्वचनस्य पाठः श्रीनिवासीये व्याख्याने दृष्टः। 'शमु हिंसायाम्' क्र्यादिः। अस्मात् गः, अकारस्य ऋकारः। पूर्ववदर्थः। यद्वा, द्विधामुक्तं, शरणाय हिंसायै गतं मस्तकादेरुद्गतम् ऊर्ध्वगतमित्यर्थः। 'शृणातेर्ह्रस्वश्च (उ० १, १२५)'—इति गन्प्रत्यये नुमि च रूपम्। अथवा शरणं रक्षणं तदर्थमुद्गतं रक्षति तत्, प्राणिनस्तस्य मिथ्यात्यादिना शिरसो निर्गतमिति वा शिरःशब्दान्निर्गमेश्च शृङ्गं, शिरस आदित्यान्निर्गतमित्यर्थः, 'असावादित्यः शिरः प्रजानाम्'—इति श्रवणात् (शत० ब्रा० ७, ४, १, २०) शिर उपपदे गमेर्डे शिरसः शृभावे मकारे चोपजने रूपम्। पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०९) सर्वत्र रूपसिद्धिः, शृङ्गम्। तेजांसि शृङ्गाणि। "यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः (ऋ० सं० २, २, २४, ६)"—

"यि शृङ्गिणामभिनत्पुष्णमिन्द्रः (ऋ० सं० १, २, ३, ४)'—
इति ॥ निगमौ ॥

'अध्यायपरिसमाप्तिसूचनं द्विर्वचनं, श्रुतौ तथा दर्शनात्'
—इति अत्र स्कन्दस्वामी। अन्यत्रापि स एव सर्वत्र। यद्वा,
द्विरुक्तपदस्य शब्दशास्त्रे 'तस्य परमाम्रेडितम् (८, १, २)'—
इति महासम्याकरणस्य प्रयोजनं वर्णितम् 'अन्यर्थसङ्ख्यानम्,
आम्रेड्यते अधिकमुच्यते (८, १, २ भा०)'—इति, तेनैवम्रावीप्-
फद्विर्वचना जायन्ते इति शब्दविदो विदाङ्कुः। यथा—
'आहोदर्शनीयाहोदर्शनीय (महा० भा०)'—इति ॥

इति अत्रिगोत्रस्य देवराजयज्वनः कृतौ नैघण्टुककाण्ड-
निर्वचने प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

---

# अथ द्वितीयोऽध्यायः ।



"कर्मनामान्युत्तराणि (निरु० ३, १)"—इति भाष्ये स्कन्द-स्वामी 'उच्चलत्कर्मसम्बन्धादाह कर्मनामान्युत्तराण्येव षड्-विंशतिः अपः अप्नः' इत्यादीनि। क्रियते इति कर्म। अनाश्रितविशेषाणां कर्मणां नामधेयानि, तानि साधारण्येऽसाधा-रणानि च निर्णेतव्यानि, वाक्यार्थवशात्"—इति ॥

अपः (१)। अप्नः (२)। दंसः (३)। वेपः (४)। वेपः (५)। विष्ट्वी (६)। व्रतम् (७)। कर्वरम् (८)। शक्म (९)। क्रतुः (१०) करणम् (११)। करणानि (१२)। करांसि (१३)। करन्ती (१४)। करिक्रत् (१५)। चक्रत् (१६)। कर्तम् (१७)। कर्त्तोः (१८)। कर्त्तवै (१९)। कृत्वी (२०)। धीः (२१)। शची (२२)। शमी (२३)। शिमी (२४)।

शक्तिः (२५)। शिल्पम् । (२६) इति षड्विंशतिः कर्मनामानि ॥१॥

(१) अपः । (२) अप्नः । 'आप्लृ व्याप्तौ (स्वा० प०)'। 'आपः कर्माख्यायां ह्रस्वो नुट् च वा (उ० ४, २०८)'—इत्यसुन् विकल्पेन नुडागमश्च । आप्नुवन्ति हि तत्कर्तारम् आप्नोति वा तान् फलरूपेण । "इन्द्रं सोमैभिस्तदपो वो अस्तु (ऋ० सं० २, ६, १४, ५)"—"ते सौभगं वीरवद्गोमदप्नः (ऋ० सं० ३, ८, ११, ३)"—इति च निगमौ ॥

(३) दंसः । 'दसि दंसनदर्शनयोः' चुरादिरात्मनेपदी, असुन् (उ० ४, १८४)। दर्शयति हि तत्तत्फलरूपेण, दृश्यते इतिभिरिति वा । अथवा, 'दसि मोक्षणे' चुरादिः परस्मैपदी, असुन् (उ० ४, १८४)। दंसयति मोक्षयति पाप्मनः पुरुषं संसारपदो वा । यद्वा, 'तसु उपक्षये दसु च (दि० प०)' अन्तर्भावितण्यर्थः । कर्मण्यसुनि बाहुलकान्नुम् । उपक्षिपयितव्यं हि तदनुष्ठानेनतव्यमित्यर्थः । "दस्रस्य चारुतममस्ति दंसः (ऋ० सं० १, ५, २, २)"—इति निगमः ॥

(४) वेपः । 'विष्लृ व्याप्तौ (जु० उ०)' पचाद्यच् (३, १, १३४)। वेवेष्टि व्याप्नोति कर्तृन, व्याप्तं विस्तृतं वा । यद्वा, 'वेवेष्टि'—इत्यत्तिकर्मसु (निघ० २, ८) पठ्यते । परिवेवेष्टि भोजयति सफलं कर्तृन् । "कर्मणे वां वेपाय (य० वा० सं० १, ६)"—इति निगमः ॥

(५) धेपः। 'चिपि प्रेरणार्थः'—इति माधवः। असुन् (उ० ४, १८५)। प्रेर्य्यन्तेऽसिन् कर्मकराः। यद्वा, 'धेपृ कम्पने (भ्वा० आ०)' असुन् (उ० ४, १८४), धेपः। "सं धेपसा तुविजात स्तवानः (ऋ० सं० ३, ५, ११, २)"—इति निगमः॥

(६) विप्वर्धी। 'विप्लृ व्याप्तौ (जु० उ०)'। 'जॄगृस्तृजागृभ्यः क्विन् (उ० ४, ५४)'—इति बाहुलकात् क्विन्, मुडागमश्च। धेप-समानार्थम्। यथाहृष्टं पाठः। "विप्वर्धा शर्मीभिः सुकृतः सुकृ-त्यया (ऋ० सं० ३, ४, ७, ३)"—"विप्वधी शमी तरणित्वेन वाघतः (ऋ० सं० १, ७, २०, ४)"—इति च निगमौ। उभयत्रापि शर्मीति विशेषणम्॥

(७) व्रतम्। अत्र भाष्यम् (निरु० २, १३)—'व्रतमिति कर्मनाम—वृणोतीति सतः'—इत्यादि। अत्र स्कन्दस्वामी—'व्रतमिति' कर्मनामेति। कर्त्तरि सत इति इतव्याख्यानम्। तद् द्विविधम्। शुभमशुभं वा वृणोति निवध्नाति कर्त्तारम्। तथा च श्रुतिः—'ते विद्याकर्मणी सम स्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च'—इति। 'इदमपीतरद् व्रतम्' गुडलवणस्त्र्यादिविषयनिवृत्तकरं कर्म। 'एतस्मादेव' रूपसामान्यात् व्रततः व्रतं निरुच्यते 'वारयतीति सतः'। 'निवृत्तिरूपो हि सङ्कल्पः, तद्गतिक्रम्य प्रमादात् प्रवर्त्तमानं पुरुषं वारयति'—इति। पाठोऽयंत्र—'व्रतमिति कर्मनाम निवृत्तिकर्म वारयतीति सतः (निरु० २, १३)'—इति। पुनः कर्मोच्यते। कस्मात्? वारयते तद्धि सङ्कल्पपूर्वकं प्रवृत्तिरूप-मग्निहोत्रादिकर्मप्रत्यवायं वारयतीति पुरुषः प्रवर्त्तमानो निवर्त्तमा-

नश्च व्रतेनाभिसम्बन्धस्तेनाव्रतेन - निवार्यते इति व्रतस्यैव प्राधान्यात् हेतुकर्तृत्वेन विवक्ष्यते। भोजनमपि व्रतं क्षुधादि निवारणात्। वृणोतेर्धातोः (स्वा० उ०) 'पृषिरञ्जिभ्यां कित् (उ० ३, १०८)'—इति विधीयमानोऽतच्प्रत्ययो बाहुलकाद् भवति कित्त्वात् गुणाभावः, यणादेशः। 'वारयतेर्वा व्रत्'—इत्यत्र लुगिति लुगपि बाहुलकात्। 'व्रते'—इति श्रीभोजदेवः—इति क्षीरस्वामी। व्रत्यते वर्ज्यते सर्वभोगोऽत्रेति सुबोधिनीकारः। व्रतेर्धातोः 'पुंसि सञ्ज्ञायां घः प्रायेण (३, ३, ११८)'—इति घप्रत्ययः। व्रतिश्च वर्जनार्थः। "अथा वयमादित्यव्रते तव (ऋ० सं० १, २, १५, ५)"—"ब्राह्मणा व्रतचारिणः (ऋ० सं० ५, ७, ३, १)"—इति च निगमौ। "अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि (य० मा० सं० १, ५)"—इत्यादौ व्रतशब्दे निवृत्तिकर्मता॥

(८) कर्वरम्। कर्वतेर्धातोः (भू० प०) 'पुंसि सञ्ज्ञायां घः प्रायेण (३, ३, ११८)'—इति घप्रत्ययः, कर्वरम्। 'कॄ विक्षेपे (तुदा० प०)' 'हन् हिंसायाम् (स्वा० उ०)'। 'कृगृशृवृञ्चतिभ्यः ष्वरच् (उ० २, ११४)'। किरति फलं, कीर्यते इति पात्राणीति वा, हिनस्ति तम् शुभं पुरश्चायमशुभं पुण्यम्। "प्र हतोसि कर्वरा पुरूणि (ऋ० सं० ८, ७, २, २)"—इति निगमः॥

(१) शक्म। 'शक्लृ शक्तौ (स्वा० उ०)'। 'अशिशकिभ्यां छन्दसि (उ० ४, १४२)'—इति मनिन्प्रत्ययः। शक्यते अनेनाभिमतं प्राप्तुं, शत्रोरर्थान् साधयितुं वा, शक्यते कर्तुमिति वा।

"मध्याकर्तोर्विततं सञ्जभार" (ऋ० सं० १, ११५, ४) इति
निगमः ॥

(१०) क्रतुः। करोतेः (भू० उ०) 'कृञः क्रतुः (उ० १,
७७)—इति क्रतुप्रत्ययः। क्रियते द्विजातिभिः। "क्रतुं दधिक्रा
अनु सन्तवीत्वत् (ऋ० सं० ४, ४०, ४)"—"शतक्रतो
मादयस्वा सुतेषु (ऋ० सं० ४, ७, १२, ५)"—इति च निगमौ ॥

(११) करणम्। 'कृ विक्षेपे (तुदा० प०)' 'कृञ् हिंसायाम्
(स्वा० उ०)'। 'कृपृवृजिमन्दिनिधाञ्भ्यः क्युः (उ० २, ८१)'। कर्मणे
समानार्थम्। "स विश्वस्य करुणस्येश एकः (ऋ० सं० १, ७,
१, २)"—इति निगमः ॥

(१२) करणानि। करोतेः 'युच् बहुलम् (उ० २, ७४)'—
इति युच् क्रियते ल्युट् वा। करणं सामान्यमिति प्राप्ते अनि पाठो
यथादृष्टम्। 'कर्माणि करणमायुधानाम्'—इति माधवः। "प्र
ते पूर्वाणि करणानि वोचम् (ऋ० सं० ४, १, २०, १)"—"प्र ते
पूर्वाणि करणानि विप्र (ऋ० सं० ३, ६, २, ५)"—इति च निगमौ ॥

(१३) कर्तानि। करोतेरसुन् (उ० ४, १८९)। 'भूतेऽपि
दृश्यन्ते (३, ३, २)'—इति भूते वा भविष्यति वा। अर्धः
पूर्ववत्। 'कर्तासांसि कृतानि मनुः क्रियमाणानि केचन'—इति
माधवः। "आविष्टर्याद विदुषे कर्तांसि (ऋ० सं० १, ६, २,
५)"—इति निगमः ॥

(१४) करस्ती। 'कृञ् करणे' भूपादिः (उ०)। रातरि हर्टृ।
करणमभिमतं कर्तुः। यथादृष्टं पाठः। निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१५) करिक्रत्। 'दाधर्त्ति दर्धर्त्ति दर्धर्षि (७, ४, ६५)'—इत्यादि सूत्रेण छन्दोविषयेण करोतेर्यङ्लुगन्तस्य शतरि नुमभावोऽभ्यासस्य रिगागमोऽपि निपात्यते। अत्र न्यासः—'यणादेशे कृते अनृकारान्तत्वादङ्गस्याभ्यासस्य रिगागमो न प्राप्नोतीति सोऽपि निपात्यत इति। पुनः पुनः करोतीत्यभिप्रायम्। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(१६) चक्रत्। 'डुकृञ् करणे' भ्वादिः (उ०)। शतृ। 'जुहोत्यादिभ्यः श्लुः (२, ४, ७५)'—बहुलञ्छन्दसि (२, ४, ७६)'—इति शपः श्लुर्द्विर्वचनादिः यणादेशः। करोत्यभीक्ष्णम्। निगमोऽन्वेषणीयः। केषुचित् कोशेषु चक्रतुरिति दृष्टम्, निगमदर्शनान्निर्णयः। अस्य स्थाने चर्कृत्यमिति माधवीये दृष्टम्। "चर्कृत्यानि कृण्वतः (ऋ० सं० ३, ६, ७, १२)"—इत्यत्र 'कर्माणि चर्कृत्यानि'—इति भाष्यञ्च॥

(१७) कर्त्वम्। करोतेः 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (३, २, ७५)'—इति क्वन्प्रत्ययः क्रियते। यद्वा, 'कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः (३, ४, १४)'—इति त्वन्प्रत्ययः, कृत्यार्थत्वं भावकर्म। "तद्देयाता देवतमाय कर्त्वम् (ऋ० सं० २, ७, १, ३)"—इति निगमः। अत्र स्कन्दस्वामिभाष्यम्—'कर्त्वमिति कर्मनाम'—इति॥

(१८) कर्णोः। करोतेः 'सितनिगमिमसिसच्यविधाञ्क्रुशिभ्यस्तुन् (उ० १, ६९)'—इति बाहुलकात् तुन्प्रत्ययः। कर्तोः पूर्वयत्। अत्रेयकपदस्य पाठो यथादृष्टम्। "मध्याकर्त्तोर्विततं

स्त्वङ्गमार ( ऋ० सं० १, ८, ७, ४ )"—"मध्याकर्त्तोर्न्यधायच्छयम धीरः ( ऋ० सं० २, ८, २, ४ )"—इति च निगमौ ॥

(१६) कर्त्तवे। करोतेः 'कृत्यार्थे तवैकेकेन्यत्वनः (३, ४, १४)'—इति तवैप्रत्ययः। 'कृन्मेजन्तः (१, १, ३६)'—इत्यव्ययत्वम्। निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(२०) कृत्वी। करोतेः 'पः किच्च ( उ० १, ६८ )'—इति विधीयमानक्तुप्रत्ययो बाहुलकाद् भवति। क्रियते क्रतु। 'शिल्पायन्वे क्रतुर्यकम्'—इत्यत्र माधवेनापि कर्मनामसु पठितः। 'सुपां सुलुक् ( ७, १, ३६ )'—इत्यत्र 'इयाडियाजी-काराणामुपसङ्ख्यानम् ( ७, १, ३६ वा० )'—इति विभक्तेरीका-रादेशः। "स्वं रथ मेतशो कृत्व्ये धने (ऋ० सं० १, ४, १८, १)"—इति निगमः। अत्र स्कन्दस्वामिभाष्यम्—'कृत्वीति कर्मनाम, कर्मणि धने निमित्ते धनार्थं यत् कर्मेत्यर्थः। कर्मात्र संश्रीमः संग्रामार्थमाजिः स्यात्'—इति। "कृत्वी क्षयणांमदधर्षियस्वते (ऋ० सं० ७, ६, २३, २)"—इत्यत्र तु त्वान्तं तथा स्कन्दस्वामिना व्याख्यातत्वात् ॥

(२१) धीः। 'धुञ् धारणे' दिवादिः ( उ० )। धारयति कर्त्तारं फलप्रदानेन। यद्वा, दधातेः क्विपि 'घुमास्थागापाज-हातिसां हलि (६, ४, ६६)'—इतीत्वे रूपम्। ईत्वस्य विश्लो-पेऽपि। धारयति कर्त्तारमिति पूर्ववद् ददाति वा फलं धीः कर्म। 'दधातेर्निहितं द्रव्येषु सत्'—इति माधवः। यद्वा, ध्यायतेः सम्प्रसारणत्वे क्विपि रूपम्। ध्यायते चिन्त्यते

कर्तृभिरेवं कर्त्तव्यमिति। "धियं धियं सीषधाति प्र पूष (ऋ० सं० ४, ८, ६, ३)"—इति निगमः॥

(२२) शची। 'शच व्यक्तायां वाचि' भ्वादिरात्मनेपदी। 'इन् सर्वधातुभ्यः (उ० ४, ११४)'। 'कृदिकारात् (४, १, ४ पा०)'—इति ङीप्। शचन्ते व्यक्ता वाचः कुर्वन्त्यस्यामिति शची। क्षीरस्वामी तु 'शचति शची, शच श्वच गतौ'—इति व्याख्यत्। गत्यर्थः शचिर्धातुपाठे न दृष्टः। "यद्व देवयन्त मयथः शचीभिः (ऋ० सं० ५, ५, १६, ४)"—इति निगमः॥

(२३) शमी। 'शम उपशमे (दि० प०)' अस्मात् इन्, ङीप् च पूर्ववत्। शम्यत्यनयाऽनिष्टानि। णिजन्ताद्वा पूर्ववत् इन्-ङीपौ। शमयत्यनिष्टव्याध्यादीनि। "शमीमतुर्मंसस्य शा (ऋ० सं० ६, ५, २६, ४)"—इति निगमः॥

(२४) शिमी। शमतेः पूर्ववच्छिमीशब्दोऽर्थश्च। बाहुलकादकारस्येकारः। शक्नोतेर्वा ककारस्य मकारः, अकारस्येकारश्च शमीत्यनेन समानार्थः। "धुनिः शमीवाऽछरमा अजीगी (ऋ० सं० ८, ४, १४, ५)"—इति निगमः॥

(२५) शक्तिः। शक्नोतेः 'स्त्रियां क्तिन् (३, ३, ९४)'। शक्यते कर्तुं शक्यते वानया परलोकः जेतुम्। "अजीजनच्छक्तिभीरोदसिप्राम् (ऋ० सं० ८, ४, ११, ५)"—इति निगमः॥

(२६) शिल्पम्। 'शील उपधारणे' चुरादिः (प०), 'शील समाधौ' भ्वादिः (प०)। अनयोः 'खष्पशिल्पशष्पबाष्परूपपर्पतल्पाः (उ० ३, २६)'—इति पप्रत्यये णिलोपे (६, ४, ५१) च

उपधाया ह्रस्वत्वं निपात्यते। शील्यति शीलतीति वा शिल्पम्। 'यत् कुम्भकारादि कर्म'—इत्युणादिवृत्तिः। शिल्पन्ति पुनः पुनरभ्यस्यन्ति तदिति शिल्पम्। यद्वा, शिनोति कर्त्तारं तनूकरोति दुष्करत्वेनातिक्लेशकरत्वादिति निपातनाद्रूपसिद्धिः। 'शिञ् निशाने (स्वा० उ०)' 'निशानं तनूकरणम्'—इति सुबोधिनीकारः। "यत्ते शिल्पं कश्यप रोचनावत् (अथ० सं० १३, ३, १०)"— "दिवः शिल्पमवततम्"—इति च निगमौ॥

इति षड्विंशतिः कर्मनामानि॥ १॥

तुक् (१)। तोकम् (२)। तनयः (३)। तोक्म (४)। तक्म (५)। शेपः (६)। अप्नः (७)। गयः (८)। जाः (९)। अपत्यम् (१०)। यहुः (११)। सूनुः (१२)। नपात् (१३)। प्रजा (१४)। बीजम् (१५)।

इति पञ्चदशापत्यनामानि॥२॥

(१) तुक्। 'तुज हिंसायाम् (भ्वा० प०)'—क्विप् तोजति हिनस्ति मातापितरौ गर्भवासाद्विना। तथाच मन्त्रः—'यदा पिपेष मातरं पितरं पुत्रः'—इत्यादिः। 'तुजिर्गत्यर्थः प्रेरणार्थश्च'—इति माधवः। क्विप्। गच्छत्यनेन पितृलोकं पिता, गच्छत्यनेनानृण्यं पितृभ्य इति वा, प्रेर्य्यते प्रसवकाले वायुनापि

वा। – यद्वा, 'ष्टुच - प्रसादे - (भू० आ०)' - क्विप्, 'पृषोदरादित्वात् सकारलोपः। प्रसाद्यन्तेऽनेन पिता वा। – "तुचे तु नो भवन्तु वरिवोविदः (ऋ० सं० ६, २, ३३, ४)" – "तुचे तनाय तन्सु नो (ऋ० सं० ६, १, २८, ३)" – इति च निगमौ। उभयत्र चतुर्थी।

(२) तोकम्। 'तुद व्यथने (तुदा० प०)' 'पुंसि संज्ञायां घः (३, ३, ११८)' 'पृषोदरादित्वात्' दकारस्य ककारः। तुद्यतेऽनेन माता गर्भवासकाले, तुद्यते व्याध्यादिभिरिति वा। यद्वा, 'ष्टुच स्तुतौ (भू० आ०)' 'इदाधारार्चिकलिभ्यः कः (उ० ३, ४०)' – इति बाहुलकात् कप्रत्ययः, सलोपश्च स्तूयते तोकम्। तथाच हरिश्चन्द्रोपाख्याने "ऋणमस्मिन्त्सन्नयत्यमृतत्वं च गच्छति (ऐ० ब्रा० ७, ३, १)" – इत्यादिभिर्गाथाभिः प्रशस्यते पुत्रः। यद्वा, 'तु' – इति सौत्रो धातुर्वृद्ध्यर्थः, कप्रत्ययः पूर्ववत्। वर्द्धते हि तत्, वर्द्ध्यते वा मातापितृभ्याम्। यद्वा, सर्वेभ्य एव धातुभ्यो मत्रि रूपम्, अर्थश्च स एव। तुदेस्तु ककारो बाहुलकात् ष्टुचेः सकारलोपश्च। "मा नस्तोकेषु तनयेषु रीरिषः (ऋ० सं० ५, ४, १३, ३)" – इति निगमः॥

(३) तनयः। 'तनु विस्तारे (तना० प०)' 'बलिमलितनिभ्यः कयन् (उ० ४, ९३)', – इति कयन्प्रत्ययः। कुलं तनोति विस्तारयति। "मा अस्मोके तनये मा न आयौ (ऋ० सं० १, ८, ६, ३)" – इति निगमः॥

(४) तोक्म । तुजेः, स्तुचेः, तक्तेः, तुचतेर्वा मनिनि (उ० ४,१४०) ककारोऽन्तादेशः, तक्तेः कुगागमः पृषोदरादित्वात् । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(५) तक्म । तकतेर्गतिकर्मणः ( निघ० २, १४ ) मनिन् (उ० ४, १४०), तुचेर्गस्त्यर्थाद्वा मनिन् (उ० ४, १४०), अस्य-मुकारस्य ( ६, ३, १०६ ) । पूर्वेण तुचा समानार्थः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(६) शेषः । 'शिष सर्वोपयोगे' चुरादिर्भूवादिश्च ( प० ), असुन् (उ० ४, १८४) । म्रियमाणे पितरि कुलसन्तानार्थं परिशेषयति, परिशिष्यते वा पित्रादिभिः सह न म्रियते स्वयमवतिष्ठते, इत्यर्थः । यद्वा, 'शिष्लृ विशेषणे' रुधादिः परस्मैपदी, असुन् (उ० ४, १८४) । विशिष्यते पित्रादयात्मनोऽतिशयितं करोति हि विद्यादिभिः । 'पुनातु पित्रा प्रजा मे पतच्छ्रे यसीमात्मनः कुरुते'—इति ब्राह्मणम् । तथा 'पुत्रमेवैकमिच्छन्त्यात्मनो गुणवत्तरम्'—इति महाभारतम् । यद्वा, 'शिष हिंसार्थः' भ्वादिः परस्मैपदी, शेषति हिनस्ति मातापितरौ । 'यदा पिपेष'—इति मन्त्रः पूर्वमेव दर्शितः । "न शेषो अग्ने अन्यजातमस्ति ( ऋ० सं० ५, २, ६, २ )'—२)"—"मा शेषसा मा तनसा (ऋ० सं० ४, ४, ८,४)"—इति च निगमौ ॥

(७) अप्नः । कर्मनामसु व्याख्यातम् ( २, १ ) बाहुलकादपत्येऽपि भवति । 'आप्नोतेर्ह्रस्वश्च नुट् वा'—इति भोजराजेन

कर्माण्याप्महणं च इत्यम्। आप्नोत्यनेन सर्वान्, कामान् लि- आप्यते वा महता पुण्येन "अविभ्रमप्स उशतो यन्ति (ऋ० सं० १, ८, ४, ५)"। 'आप्नम् धनम्'—इति माधवः, धनं अपितुमर्हेति ॥

(८) गयः। गमेः अघ्न्यादयश्च (उ० ४, १०८)'—इति यक्प्रत्ययान्तो निपात्यते, निपातनान्मकारलोपः। 'गाङ् गतौ (भू० आ०)' अस्माद्वा यक्प्रत्यये ह्रस्वत्वम्। गतार्थः पूर्व- सुगः। गीयते स्तूयते देवभट्टारकेभ्येयमादिभिः। "स्तो वसुभिः परि पातु नो गयम् (ऋ० सं० ८, २, १२, ३)"—इति निगमः ॥ "गयस्फानः प्रतरणासु वीरः (ऋ० सं० १, ६, २२, ४)"—इति च। 'गृहापत्ययोर्नाम'—इति हरदत्तः, 'गृहम्'—इति तु माधवः ॥

(९) जाः। 'जनी प्रादुर्भावे (दि० आ०)' 'अन्येष्वपि दृश्यते (३, २, १०१)'—इत्यत्र अपिशब्दस्य सर्वोपाधिव्यभि- चारार्थत्वात् केवलाज्जनेर्डः, टाप्, जस्। जायते मातापितृभ्यां सकाशात्। "सोमः परि क्रतुना पश्यते जाः (ऋ० सं० ७, २, २६, ४)"—"अनमीवो रुद्र जासु नो भव (ऋ० सं० ५, ४, १३, २)"—इति च निगमौ ॥

(१०) अपत्यम्। अपपूर्वात् तनोतेः नञ्पूर्वात् पतेर्वा 'अघ्न्यादयश्च (उ० ४, १०८)'—इति यक्प्रत्ययान्तो निपात्यते, तनोतेष्टिलोपः। "कवेरपत्यमा दुहे (ऋ० सं० ६, ७, ३५, ३)"—इति निगमः ॥

(११) यदुः। यातेर्हयतेश्चौरादिके मृगय्वादित्वात् ( उ० १, ३६ ) कुप्रत्यये निपातनाद्रूपसिद्धिः। यातः प्राप्तः पुण्यचरोन स्वनाम्ना हूयते च। 'यदुर्यातश्चाहूतश्च'—इति माधवः। "ईशानः सहसो यहो ( ऋ० सं० १, ५, २७, ४ )"—इति निगमः।

(१२) सूनुः। 'षूङ् प्राणिप्रसवे ( अदा० आ० )'—सुवः कित् ( उ० ३, ३४ )'—इति नुप्रत्ययः। सूयते मात्रा। "अग्निं सूनुं सनश्रुतं सहसो जातवेदसम् ( ऋ० सं० ३, १, ६, ४ )"—इति निगमः॥

(१३) नपात्। नञ्पूर्वात् पतेर्ण्यन्तात् 'बहुलमन्यत्रापि सञ्ज्ञाच्छन्दसोः ( ६, ४, ५१ वा० )'—इति णिलोपः। 'न भ्राण्नपात् ( ६, ३, ७५ )'—इत्यादि सूत्रेण नञः प्रकृतिभावः। न पातयति न तेन पततीत्युक्तम्। "एहि वां विमुचो नपात् ( ऋ० सं० ४, ८, २१, १ )"—इति निगमः॥

(१४) प्रजा। प्रपूर्वाज्जनेः 'उपसर्गे च सञ्ज्ञायाम् ( ३, २, ९९ )'—इति डः, टाप्। "प्रजां देवि दिदिड्ढि नः ( ऋ० सं० २, ७, १५, ६; ८, १०, २ )"—इति निगमः॥

(१५) बीजम्। 'बीज प्रजननकान्त्यसनखादनेषु' इत्यस्मादच्प्रत्ययः ( ३, १, १३४ )। तथाच भोजराजीये 'वियो जक्'—इति व्युत्पादितम्। बवयोरभेदः। वेति प्रजायते गच्छत्यनेनानृण्यं पितेति वा। अत्र क्षीरस्वामी—'बीज्यते वेति वा बीजं धाजिर्लौकिकः'—इति। 'बीजिः स्यात् प्रेरणक्रिया'—इति माधवः। प्रेर्यते हि कार्य्यकारणाय वा बीजम्। यथा

धान्यादिबीजमुत्तरोत्तरं स्वामिवृद्धये भवति ; एवमपत्यमपि पितॄणामभिवृद्धिहेतुरिति बीजमित्युच्यते । "यस्यां बीजं मनुष्या वपन्ति (ऋ० सं० ८, ३, २७, २)" — इति । बीजमपत्यार्थमिति दृष्टम् ॥

इति पञ्चदशापत्यनामानि ॥२॥

मनुष्याः (१) । नरः (२) । धवाः (३) । जन्तवः (४) । विशः (५) । क्षितयः (६) । कृष्टयः (७) । चर्षणयः (८) । नहुषः (९) । हरयः (१०) । मर्याः (११) । मर्त्याः (१२) । मर्ताः (१३) । व्राताः (१४) । तुर्वशाः (१५) । द्रुह्यवः (१६) । आयवः (१७) । यदवः (१८) । अनवः (१९) । पूरवः (२०) । जगतः (२१) । तस्थुषः (२२) । पञ्चजनाः (२३) । विवस्वन्तः (२४) । पृतनाः (२५) । इति पञ्चविंशतिर्मनुष्यनामानि ॥३॥

(१) मनुष्याः । 'मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति (निरु० ३, ७)' — इति भाष्यस्य व्याख्यायाम् — 'मत्वेत्यादिना मनेः सीवेश्च द्विधातुजत्वं प्रदर्शयति — मत्वाऽनेनेदमिति साध्यसाधनभावं

कर्माणि सीव्यन्ति सन्तन्वन्ति, यथा पश्वादयः। मनस्वमानेन प्रजापतिना सृष्टाः। मनस्वतिः कस्मिन्नर्थे? इत्याह—प्रशस्ती-भावे, प्रशंसायां मत्वर्थीयः, प्रशस्तं मनः प्रसन्नं सत्वप्राधान्यात् अतः प्रसन्नमनस्केन सृष्टा इत्यर्थः। तथा च श्रुतिः—'स पितॄन् सृष्ट्वा मनस्यद्ततु मनुष्यानसृजत'—इति। नित्यपक्षेऽप्यसति स्रष्टरि कार्य्ये सौमनस्यं दृष्ट्वा सुविकारणानुविधायित्वात् कार्य्यस्य वा। 'मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च (४,१,१६१)'—इति वैयाकरणाः। जातिश्च प्रत्ययान्तोपाधिः। मनोरपत्यं जातिश्चेत्येतौ। अपत्यमात्रविवक्षायामन्तरेण च जातिं भवति मानव इति। मनुषो वा अकारान्तमेकं प्रातिपदिकमस्ति, अतस्तदन्तात् व्युत्पादयति, अन्यत्प्रत्ययसन्नियोगेन पुगिति स्मरणान्तरं विनापि प्रत्ययेन षकारान्तप्रयोगदर्शनात्—'समिद्धो अद्य मनुषो दुरोणे (ऋ० सं० ८, ६, ८, १)' —इति पृषोदरादित्वात् सर्वं सिद्धम्। अत्र श्रीनिवासः—'मनेर्मनुः मनेरुसि मनुषीति। यत्। सा वाच्या मनुष्यगीः' —इति। "स्पार्हा वसु मनुष्या ददीमहि (ऋ० सं० २, ६, ३०, ४)"—"दैव्याः शमितार आरभध्वमुत मनुष्याः (ऐ० ब्रा० २, १, ६)"—इति च निगमौ॥

(२) नरः। 'णीञ् प्रापणे (भू० उ०)' 'नयतेर्डिच्च (उ० २, १३)'—इति ऋन्प्रत्ययः, जस्। नयन्ति संसारचक्रम्, पदार्थत्वात् देशान्तरं नीयन्ते वा स्थानोत्तरकालेन। यद्वा 'नृती गात्रविक्षेपे (दि० प०)' बाहुलकात् डिच्च। नृत्यन्ति गात्र-

विक्षेपं कुर्वते हि नियमेन गात्राणि; विक्षिप्यन्ति कर्मसु हस्तं कुर्वन्तः। "तं त्वा नरः प्रथमं देवयन्तः (ऋ० सं० ४, ४, १३, २)"—"त्वां वृत्रेष्विन्द्र सत्पतिं नरः (ऋ० सं० ४, ७, २९, १)"—इति च निगमौ॥

(३) धवाः। 'धूञ् कम्पने (स्वा० उ०)' 'धुञ्' वा (क्र्या० उ०)। पचाद्यच्। धूनयति। धुनोति स्वावयवान् धवः, जस् धवाः। यद्वा, मनुष्या मृत्युतो वेपन्ते। यद्वा, 'धावु गतिशुद्ध्योः (भ्वा० उ०)' अस्मात् पचाद्यचि (३, १, १३४) पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०९) ह्रस्वः। इतश्चेतः शरणार्थिनो धवन्ति धवाः। "को वां शयुत्रा विधवेव देवरम् (ऋ० सं० ७, ८, १८, २)"—इति निगमः॥

(४) जन्तवः। 'जनी प्रादुर्भावे (दि० आ०)'—'कमिमनिजनिगाभायाहिभ्यश्च (उ० १, ७०)'—इति तुप्रत्ययः। जायन्ते जन्तवः। "इरज्यन्नग्ने प्रथयस्व जन्तुभिः (ऋ० सं० ७, २८, ४)"—इति निगमः॥

(५) विशः। 'विश प्रवेशने (तु० प०)' क्विप्। विशन्ति अनु प्रविशन्ति सर्वकर्मस्वधिकारित्वेन। यद्वा, अनुप्रविष्टा आत्मीयभूराजादेः श्रिता इत्यर्थः। "विशो राजानमुपतस्थुर्यज्ञियम् (ऋ० सं० ४, ५, १०, ४)"—इति निगमः॥

(६) क्षितयः। 'क्षि निवासगत्योः (तु० प०)' 'क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम् (३, ३, १७४)'—इति क्तिच्। क्षियन्ति निवसन्ति भूमौ गच्छन्ति वा तस्याम्। "अनु क्रोशन्ति क्षितयो भरेषु (ऋ० सं० ३, ७, ११, ५)"—इति निगमः॥

(७) कृष्टयः। 'कृष विलेखने (भ्वा० प०)' भावे क्तः। कर्षणं कृष्टम्। कर्षणेन कर्मविशेषेण चात्र सामान्यतः कर्ममात्रं लक्ष्यते, कृष्टं कर्म, तदस्यास्तीति 'लुगकारेकाररेफाश्च वक्तव्याः (४, ४, १२८ वा०)'—इति इकारप्रत्ययः। तथाच भाष्यकारः —'कृष्टय इति मनुष्यनाम कर्मवन्तो भवन्ति (ऋ० सं० सा० भा० ३, ४, ५, १)—इति। तथाच श्रीमद्भगवद्गीतायाम्—'नैव कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् (म० भा० भी० प० २६ अ० ५ श्लो०)'—इति। यद्वा, शुद्धोऽपि कृषिर्विपूर्वस्यार्थे वर्तते। कर्मणि क्तः। विविधं कृष्टो विक्षिप्तपरिकण्डूयनाद्यभिलषित-क्रियानुष्ठानसमर्थः कः ? इत्यपेक्षायां विकृष्टदेहत्वं कृष्टसाम-र्थ्याद्धेतुम्, स यस्यामस्तीति पूर्ववन्मत्वर्थीयः तथाच भाष्यम् —'विकृष्टदेहा वा (ऋ० सं० सा० भा० ३, ४, ५, १)'—इति। 'कृषन्ति भान्तं पदाभ्याम्'—इति माधवः। 'कर्षन्ति वशीकुर्वन्ति' —इति भट्टभास्करमिश्रः। "मित्रः कृष्टीरनिमिषाभिचष्टे (ऋ० सं० ३, ४, ५, १)"—सद्यश्चिद्यः शवसा पञ्च कृष्टीः (ऋ० सं० ८, ८, २६, ३)"—इति च निगमौ॥

(८) चर्षणयः। चरतेर्धातोः (भ्वा० प०) 'अर्तिसृधृधम्यश्य-वितॄभ्योऽनिः (उ० २, ६५)'—इति बहुलवचनादनिप्रत्यये पुगागमश्च चरणवन्तः चरणशीलाः। यद्वा, 'कृषेरादेश्च चः (उ० २, [illegible])'—इति अनिप्रत्यये कृषेरेतद्रूपम्। आकर्षन्ति वशीकुर्वन्ति इत्यर्थः'—इति भट्टभास्करमिश्रः। यद्वा, चर्षणयः चायितारो द्रष्टारः सर्वेषां पदार्थानाम्। यद्यपि पश्यतिकर्मसु

( निघ० २, २ ) धिषणाभिरिति पठितम्, तथापि 'पिबा द्रप्सं धर्णोभिः ( ऋ० सं० १, ३, ३३, ४ )'—इत्यत्र 'वाचयित्वा द्रप्सं —इति स्कन्दस्वामिना व्याख्यातम्। "प्र धर्णोभिस्यः पृतनासु ( ऋ० सं० १, ७, २१, १ )"—"मदाय इन्द्रो नृपदा धर्णोभिः ( ऋ० सं० ४, ६, ७, १ )"—इति च निगमौ ॥

(९) नहुषः। 'णह बन्धने ( दि० उ० )'। 'जनेरुसिः ( उ० २, १०८ )'—इति बाहुलकात् उसप्रत्ययः, जस्, नहुषः। महान्तो कर्मभिः पूर्वकृतैः संसारे नह्यन्ति वा नहनीयम्। "सना सनेम नहुषः सुवीराः ( ऋ० सं० २, १, २, ३ )"—"आ याते नहुषस्परि ( ऋ० सं० ५, ८, २५, ३ )"—इत्यादयो निगमाः ॥

अकारान्तमिदं नाम केषुचित् कोशेषु दृश्यते। तत्र 'अव-हिन्स्यामुषच्'—इति उषप्रत्ययः। पूर्ववदर्थः। "प्रसक्षाणस्य नहुषस्य शोषः ( ऋ० सं० ४, १, ४, ६ )"—इति निगमः।

(१०) हरयः। 'हञ् हरणे' भ्वादिः 'हृ प्रसह्यकरणे' जुहोत्यादिः। 'इन् सर्वधातुभ्यः (उ० ४, ११४)'—इतीन्प्रत्ययः। हरन्ति पदार्थान्, प्रसह्यक्रियन्ते वा मृत्युनेति वा। तथाच मृत्युवाक्यम्—'अहं प्रजाश्चाकुशलीहरामि'—इति निगमो-ऽन्वेषणीयः ॥

(११) मर्याः, (१२) मर्त्याः। 'मृङ् प्राणत्यागे (तु० आ०), अघ्न्यादयश्च ( उ० ४, १०८ )'—इति यत्प्रत्ययान्तं निपात्यते, तुडागमस्तु विकल्पेन, गुणः। म्रियन्ते मर्याः। छन्दसि

निष्टर्क्यदेवहूयप्रणीयोन्नीयोच्छिष्यमर्य (३, १, १२३)'—इत्यादिना यत्प्रत्ययान्तं निपातितम्। "को नु मर्या अमिमितः (ऋ० सं० ६, ३, ४८, २७)"—"मर्य्येव कन्या शश्वचै न (ऋ० सं० ३, २, १३, ५)"—"मर्यस्य योषा कृणुते सधस्थ आ (ऋ० सं० ७, ८, १८, २)"—इति निगमाः। यद्वा, 'मृङ् प्राणत्यागे (तु० आ०)' 'हसिमृग्रिण्वामिदमिलूपूधुर्विभ्यस्तन् (उ० ३, ८३)' —इति तन्प्रत्ययः। अर्थः पूर्ववत्। मर्त्तशब्दात् 'यत्समर्त्ते यपिष्टेभ्यश्छन्दसि'—इति स्वार्थिकस्तद्धितो यत्। "यो मर्त्येष्वमृतो ऋतावा (ऋ० सं० ३, ५, १६, १)"—इति निगमः॥

(१३) मर्त्ताः। व्याख्याताः। "मा नो मर्त्ता अभिद्रुहन् (ऋ० सं० १, १, १०, ५)" "तं मर्त्ता अमर्त्यम् (ऋ० सं० ८, ६, २५, १)"—इति च निगमौ॥

(१४) व्राताः। 'वृञ् वरणे (स्वा० उ०)' 'तातव्रातलात सुपित्त'—इत्यादि सूत्रेण भोजराजेन क्तप्रत्यये आङागमो निपात्यते। वृण्वन्ति समभिमतं देवताभ्यः तपसाराधितेभ्यः प्रव्रियन्ते वा यज्ञादौ। यद्वा, व्रातो धान्यादिसञ्चयः। तद्वन्तो व्राताः। मत्वर्थीयोऽकारः। यद्वा, व्रतमिति कर्मनाम (निघ० २, १) अन्नं वा। अन्नमपि व्रतायैतस्मादेवेत्युक्तेः तदीयाः तस्येदम् (४, ३, १२०)'—इत्यण्। 'कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव प्रमुच्यते'—इत्युक्तेः कर्मणामधिकारित्वाच्च मनुष्याणां कर्मसम्बन्धित्वम्। 'अथो अन्नाद् भूतानि जायन्ते जातान्य-

स्नेन धर्मेते ( तै० उ० १, २ )'—इति, 'अग्नात् तैी तैन पुरनः (तै० उ० १, १)'—इति च श्रुतेः मनुष्याणामग्रसत्वम्। "पञ्च माता अग्न्यन्यः (ऋ० सं० ६, ८, ३, २)"—इति निगमः ॥

(१५) तुर्वशाः। 'तुर्वी हिंसायाम् ( भू० प० )'। 'क्लेश्याष्'—इति बाहुलकात् अशच्प्रत्ययः। भोजराजीयमिदं सूत्रम्, हिंसन्ति प्राणिनः, हिंस्यन्ते व्याघ्रादिभिर्वा। यद्वा, 'तुर त्वरणहिंसनयोः (दि० आ०)' अस्मात् क्विपि तुर्, अश्नोतेः पचाद्यच् तूर्णमश्नुवते पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०९) पूर्वपदस्य ह्रस्वत्वं वकारश्चोपजनः। तूर्णमश्नुते। 'प्राप्यम्'—इति माधवः। यद्वा, तूर्वशः काम वशामिति तुर्वशाः, पूर्ववत् पूर्वपदस्य ह्रस्वत्वम्। 'वश कान्तौ ( अदा० प० )'—इत्यस्मात् 'वशिरण्योरुपसङ्ख्यानम् (३, ३, ५८ वा०)'—इत्यप्। यद्वा चतुर्षु धर्मार्थकाममोक्षेषु वशा वशामिति चतुर्वशाः सन्तः चकारलोपेन तुर्वशाः। तुर्वशेष्वमन्महि ( ऋ० सं० ५, ७, ३३, ४)" —इति निगमः ॥

(१६) द्रुह्यवः। द्रुह जिघांसायाम् (दि० प०)' औणादिकः क्विप्, द्रोहः। द्रोहं परेषामिच्छन्ति 'छन्दसि परेच्छायामपि (३, १, ८ वा०)'—इति क्यच् 'क्याच्छन्दसि ( ३, २, १७० )' —इत्युप्रत्ययः। परहिंसाद्यत्यो हि प्रायेण मनुष्याः। "युष्टिं चक्रुर्भृगवो द्रुह्यवश्च ( ऋ० सं० ५, २, २५, १ )"—इति निगमः ॥

(१७) आयवः । 'इण् गतौ ( अदा० प० )' 'छन्दसीणः ( उ० १, २ )'—इत्युणप्रत्ययः । गच्छन्ति ग्रामात् ग्रामम्, गमनशीलाः । "बाहुभ्यामग्निमायवोऽजनन्त ( ऋ० सं० ७, ६, २, ५ )"—"आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीळे ( ऋ० सं० ७, ५, ३३, ६ )"—इति च निगमौ । 'अन्तोदात्त आयुशब्दो मनुष्यवचनः'—इति माधवः ॥

(१८) यदवः । 'यमु उपरमे ( भ्वा० प० )' 'यमेर्दुक्—इति श्रीभोजदेवः । 'अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनाम् ( ६, ४, ३७)'—इत्यादिना अनुनासिकलोपः । यम्यते नियम्यते आचार्य्येण अपथप्रवृत्ताः, राज्ञा वा । "यो अस्ति याद्वः यदुः ( ऋ० सं० ५, ७, १६, १ )"—इति निगमः । अत्र माधवः—'यदुषु भवो याद्वो यदुरिति मनुष्यनाम'—इति ॥

(१९) अनवः । 'अन प्राणने ( अदा० प० )' 'अणश्च ( उ० १, ८ )'—इति विधीयमान उप्रत्ययो बाहुलकात् भवति । अनन्त्यनवः । ज्ञानवत्त्वादेतेषां धर्मानुष्ठानात् प्राणनस्य फलवत्त्वात् अनन्तीत्युच्यन्ते । इतरे पश्वादयो ज्ञानहीनत्वात् निष्फलप्राणनाः । तथाचोपनिषदि—'तस्य च आत्मानं विस्तरं वेद'—इत्यत्र प्रकरणे ज्ञानवत्त्वात् पुरुषस्य वैशिष्ट्यं प्रतिपादितम् । "रोघाय विद्वदनवाय"—इति निगमः । अत्र माधवः—'अनुरिति मनुष्यनाम'—इति । "अनवस्ते रथमश्वाय तक्षन् ( ऋ० सं० ४, १, २६, ४ )"—इति च । अत्र 'अनवः ऋभवः ते च मनुष्याः' । 'मर्तासः सन्तो अमृतत्वमानशुः ( ऋ० सं०

१, ७, ३०, ४)'—इति श्रुतिः। तथा ब्राह्मणमपि—'मार्त शंसन्पृणयो वै देवेषु तपसा सोमपीथ मभ्यजन्न (ऐ० ब्रा० ३, ५)'—इत्यादि, 'तेभ्यो वै देवा अपीयाशीमरसन्त मनुष्यगव्यात् (ऐ० ब्रा० ३, ३, ५)'—इति च ॥

(२०) पूरवः। 'पूरी आप्यायने (दि० ग्रा०)' भूमृशीवृचरित्सरि (उ० १, ७)'—इत्यादिना बाहुलकात् उप्रत्ययः। पूरयितव्याः कामानां 'कपूर्णा कुरु'—इति श्रीमोजदेवः। पृणाशुद्धाः ज्ञानार्थिभिरित्यर्थः। "यं पूरवो वृत्रहणं सचन्ते (ऋ० सं० १, ४, २५, ६)"—इति निगमः ॥

(२१) जगतः। 'गम्लृ गतौ (भू० प०)'। 'वर्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगच्छतृवच्च (उ० २, ७८)'—इति क्विप्प्रत्ययान्तो निपात्यते। प्रत्ययस्यादादेशः, द्विर्वचनं, नञ्लोपश्च निपात्यते। गच्छति ग्रामात् ग्रामान्तरम्। "यदेषामन्न जगतामिरज्यसि (ऋ० सं० ८, ३, ६, २)"—इति निगमः ॥

(२२) तस्थुषः। 'ष्ठा गतिनिवृत्तौ (भू० प०)'। 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः (३, ४, ६)। 'क्वसुः (३, २, १०७)'। 'वस्वेकाजाद्घसाम् (७, २, ६७)'—इति इडागमः। 'आतो लोपः (६, ४, ६४)'। 'लिटि धातोः (६, १, ८)'—इति द्विर्वचनम्। 'शर्पूर्वाः खयः (७, ४, ६१)'—इति थकारस्य शेषः। 'अभ्यासे चर्च्च (८, ४, ५४)'—इति तकारः। तस्थिवस् इति स्थिते जसः स्थाने व्यत्ययेन शस् (३, १, ८५)। 'वसोः सम्प्रसारणम् (६, ४, १३१)'। 'शासिवसिघसीनाञ्च (८, ३, ६०)'—

इति पत्यम्। तिष्ठन्ति अस्मिन् धर्मे। "चरन्तं परि तस्थुषः (ऋ० सं० १, १, ११, १)"--इति निगमः। अत्र याज्ञवल्क्य-भाष्यकृद्वचः 'तस्थुषो मनुष्याः ऋत्विग्यजमाना इत्यर्थः'—इति॥

(२३) पञ्चजनाः। अत्र भाष्यम्—'तत्र पञ्चजना इत्येतस्य निगमा भवन्ति। "तदद्य वाचः प्रथमं मसीय०—०जुषध्वम् (ऋ० सं० ८, १, १३, ४)"। तदद्यवाचः परमं मसीय 'येनासुरानभिभवेम देवाः'। असुरा असुरता स्थानेष्वस्ताः स्थानेभ्य इति वापि वासुरिति प्राणनामास्तः शरीरे भवति तेन तद्वन्तः। सोर्देवानसृजत तत्सुराणां सुरत्वमसोरसुरानसृजत तदसुराणामसुरत्वमिति विज्ञायते। 'ऊर्जाद उत यज्ञियासः'। अन्नादाश्च यज्ञियाश्चोर्गित्यन्ननामोर्जयतीति सतः पक्वं सु प्रवृक्णमिति वा॥ 'पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम्'। गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसीत्येके, चत्वारो वर्णाः निषादः पञ्चमः इत्यौपमन्यवः। निषादः कस्मात्? निषदनो भवति निषण्णमस्मिन् पापकमिति नैरुक्ताः। "यत् पाञ्चजन्यया विशा (ऋ० सं० ६, ४, ४३, १)"। पञ्चजनीनया विशा, पञ्च पृक्ता सङ्ख्या लिङ्गप्रयोगेष्वविशिष्टा (निरु० ३, ७, ८)'—इति। अस्य स्कन्दस्वामी—'पञ्चजना इत्येतस्य सन्दिग्धस्य विवेकार्थं निगमा भवन्ति सन्देहश्च मनुष्यनामसु पाठात् पञ्चशब्देन समानाधिकरणः। तत्र यदि देवदत्तादिपञ्चकविषयः स्यात् गन्धर्वादिपञ्चकविषयो वा, न मनुष्यमात्रनामविषयताऽत्र स्यात्, मनुष्यमात्रनामैतदित्याचार्य्यमतान्तरप्रदर्शनाय

माश (ऋ० सं० ७, ६, २३, १)'—इत्यादिवचनमुदाह
णम् ॥

(२५) पृतनाः । 'पृङ् व्यायामे (तु० आ०)'। "त्वयाऽस्मे पृतना जयेयम् (ऋ० सं० ८, ७, १५, १)"—इति निगमः ॥

मनुष्याणां बहुत्वं, ततो बहुवचनान्तत्वम्, तथा निघण्टुष्वपि । 'मनुष्या मानुषा मर्त्या मनुजा मानवा नराः । स्युः पुमांसः पञ्चजनाः पुरुषाः पूरुषा विशः ॥ (अम० को० २, ६, १)' —इत्यादिषु च बहुवचनान्तता दृश्यते ॥

इति पञ्चविंशतिर्मनुष्यनामानि ॥ २५ ॥

**आयती (१)। च्यवाना (२)। अभीशु (३)। अप्नवाना (४)। विनङ्गृसौ (५)। गभस्ती (६)। करस्नौ (७)। बाहू (८)। भुरिजौ (९)। क्षिपस्ती (१०)। शक्वरी (११)। भरित्रे (१२)। इति द्वादश बाहुनामानि ॥४॥**

(१) आयती। 'यती प्रयत्ने (भू० आ०)' गतिकर्मा ॥ (निघ० २, १४)—'इन् सर्वधातुभ्यः (४, ११४ उ०)'—इतीन्प्रत्ययः। आभिमुख्येन यतते कार्य्येषु, गच्छन्ती वा साधनत्वम्। बाहोर्द्वित्वात् सर्वत्र द्विवचनान्तता। निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(२) च्यवाना । 'च्युङ् गतौ (भ्वा० आ०)' । 'सम्यानच् स्तुवः (उ० २, ८९)'—इत्यत्र प्राक्प्रत्ययनिर्देशोऽधिकविध्यर्थ इत्युकेरानच्प्रत्ययः । 'सुपां सुलुक् (७, १, ३९)'—इत्यादिना द्विवचनस्याकारः । गच्छन्तः कर्मगामन्तः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(३) अभीशु । व्याख्यातो रश्मिनामसु । (१ अ० ५ ख०)' । अभ्यश्नुवते कर्माणि अभिनयन्तो वा कर्माण्यतः अभीशाते कर्माणि कर्तुमिति वा । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(४) अप्नवाना । 'आप्लृ व्याप्तौ (स्वा० प०)' 'ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश् (३, २, १२९)' अस्य सार्वधातुकत्वात् श्नुः, 'छन्दस्युभयथा (३, ४, ११७)'—इत्यार्धधातुकत्वात् गुणः, धातोर्ह्रस्वत्वं पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०९) । आप्नुवतः कर्माणि । यद्वा, अप्न इति कर्मनामसु व्याख्यातम्, (२ अ० १ ख०) तदस्यास्ति 'छन्दसीवनिपौ (५, २, १२२ वा०)'—इति वनिपि विभक्तेराकारः पूर्ववत्, तकारलोपश्छान्दसः । कर्मवन्तौ हि बाहू । नकारान्तो वेति सन्देहः । निगमदर्शनान्निर्णेयः ॥

(५) विनङ्गृसौ । बाहुनाम । विनम्य ग्रसतोऽन्नादिकमिति माधवः । पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०९) पूर्वपदे म्यलोपो नुक्, 'ग्रस अदने (भ्वा० आ०)'—इत्यस्मात् पचाद्यच् (३, १, १३४), सम्प्रसारणञ्च । "अन्यस्मै ओममर्द्धिनङ्गृसः (ऋ० सं० ७, २, २३)"—इति निगमः ॥

(६) गभस्ती । व्याख्यातो रश्मिनामसु । (१ अ० ५ ख०) पुनः कदन्त्याभ्यामन्नादीन् । 'गृहीतगभस्ती बाहू, गृह्णाति

पदार्थानाभ्यां पुरुषः'—इति माधवः। "शय्याभिर्न भरमाणो गभस्त्योः (ऋ० सं० ७, ५, २२, ५)"—इति निगमः॥

(७) करस्नौ। करांसीति कर्मनामसु कपाठो व्याख्यातः। तस्मिन् कर्मण्युपपदे 'ष्णा वेष्टने (भू० प०)'—इत्यस्मात् 'आतोऽनुपसर्गे कः (३, २, ३)' 'आतो लोप इटि च (६, ४, ६४)'। 'कर्मणां प्रस्नातारौ (निरु० ६, १७)' वेष्टयितारौ कर्मकर्तावित्यर्थः। "सुम्नकरस्नमतये (ऋ० सं० ६, ३, २, ५)"—इति निगमः॥

(८) बाहू। 'बाधृ लोडने (भू० आ०)'। 'अर्जिदृशिकम्यमिपंसिबाधामृजिपशितुकधुकदीर्घहकारश्च (उ० १, २६)'—इत्युप्रत्ययो होऽन्तादेशश्च। गमयत्याभ्यां कर्माणि, बाधते पराभ्यामिति वा। "मृध्यात इन्द्र स्थविरस्य बाहू (ऋ० सं० ४, ७, ३१, ३)"—इति निगमः।

(९) भुरिजौ। 'हृञ् हरणे (भू० उ०)' 'डु भृञ् धारणपोषणयोः (जु० उ०)' 'भृञ उच्च (उ० २, ७१)'—इति इजिप्रत्ययः। हरतो बिभृतो वा पदार्थान् कर्मकरणसामर्थ्यं वा। "तमस्य भुरिजो धिया (ऋ० सं० ६, ८, १६, ४)"—इति निगमः॥

(१०) क्षिपस्ती। 'क्षिप प्रेरणे' तुदादिः (प०), 'वसंचित सेस्तिः'—इति बाहुलकात् तिप्रत्ययः धातोरसुगागमो गुणाभावश्च प्रेर्यन्ते कर्मसु पुरुषैः॥ 'क्षिपती'—इति पाठान्तरम्। तदा शतरि ङीपि 'आच्छीनद्योर्नुम् (७, १, ८०)' 'वा छन्दसि (६, १, १०६)'—इति द्विवचनस्य पूर्वसवर्णः। क्षिपतः पदार्थान् इतश्चेतश्च कर्मसु। यद्वा, क्षिपे

हेनन्दिजीविप्राणिभ्यः षिदाशिषि (उ० ३, १२३)'—इति वुल्कात् झच्प्रत्ययः झोऽन्तादेशः। क्षिपतः पदार्थात्। गमदर्शनान्निर्णयः॥

(११) शक्वरी। 'शक्लृ शक्तौ (स्वा० प०)' 'स्नामदिपद्यर्त्तिपॄशकिभ्यो वनिप् (उ० ४, १०६)'—इति वनिप्प्रत्ययः, 'वनो र च (४, १, ७)'—इति ङीप्रौ च पूर्ववत् पूर्वसवर्णादेशः। शक्नुतः कर्माणि कर्त्तुम्। "अङ्गुलयः शक्वर्यो दिशश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् (य० वा० सं० १८, २२)"—इति निगमः॥

(१२) भरित्रे। बिभर्त्ति धर्म्मानादिस्य इव। 'अभिशा-दिभ्य इत्रोत्रौ (उ० ४, १६८)'—इति इत्रप्रत्ययः। भूरिपदर्थः। 'अंशुं दुहन्ति हस्तिनो भरित्रैः (ऋ० सं० ३, २, २०, २)"—इति निगमः॥

इति द्वादश बाहुनामानि ॥ ■ ॥

अभुवः (१)। अण्व्यः (२)। विशः (३)। क्षिपः (४)। शर्याः (५)। रशनाः (६)। धीतयः (७)। अथर्यः (८)। विपः (९)। कक्ष्याः (१०)। अवनयः (११)। हरितः (१२)। स्वसारः (१३)। जामयः (१४)। सनाभयः (१५)। योक्त्राणि (१६)। योजनानि (१७)। धुरः (१८)।

शाखाः (१९)। अभीशवः (२०)। दीधितयः (२१)। गभस्तयः (२२)। इति द्वाविंशतिरङ्गुलिनामानि ॥ ५ ॥

(१) अग्रुवः। 'अग्र्वादयश्च (उ० ४, १००)'—इति व्युत्पत्तेषु निपातेषु द्रष्टव्यः। 'अगि गतौ (भ्वा० प०)'—इति धातुः निपातनान्नलोपः, तन्वादित्वादुवङ्। गच्छति कर्माणि प्रति। यद्वा, अग्रशब्दे उपपदे गमेः पूर्वनिपातनात् स्वार्थे पूर्वपदस्य अलोपः गमेष्टिलोपश्च। अग्रे गच्छन्ति ताः। "तमीं हिन्वन्त्यग्रुवः (ऋ० सं० ६, ७, १७, ३)"—इति निगमः। अङ्गुलीनां बहुत्वात् सर्वत्र बहुवचनान्तता ॥

(२) अण्व्यः। अणतिः शब्दार्थः (भ्वा० प०), 'अणश्च (उ० १, ८)'—इति उप्रत्ययः। 'वोतो गुणवचनात् (४, १, ४४)'—इति ङीप्। अणन्ति स्फोटनादिशब्दं कुर्वन्ति, तालादि शब्दं कुर्वन्त्याभिरिति वा। यद्वा, अण्व्यः हस्तपरिमाणापेक्षयाल्पपरिमाणाः। तमीमण्वीः समर्य आ (ऋ० सं० ५, ७, १७, २)"—इति निगमः ॥

(३) विशः। 'विश प्रवेशने (तु० प०)'। 'क्विप् च (३, २, १७८ वा)'—इत्यत्र 'प्राक् प्रत्ययनिर्देशादिष्टसिद्धिः'—इत्युक्तेः क्विपि रैफ उपजनः, विशन्ति साधनमार्गं कार्येषु। 'तमीं हिन्वन्ति धीतयो दश विशः (ऋ० सं० २, २, १३, ५)"—इति निगमः। 'कर्मसु धीयमाना दशाङ्गुलयः'—इति माधवभाष्यम् ॥

(४) क्षिपः। 'क्षिप प्रेरणे (दि० प०)' औणादिकः क्विप्। क्षिप्यन्ते प्रेर्यन्ते पुरुषेण कर्मसु निक्षिपन्त्यास्त्र इगुलीयकादीन् इति वा "मृजन्ति त्वा दश क्षिपः (ऋ० सं० ६, ७, ३०, ४)" —इति निगमः॥

(५) शर्य्याः। 'शॄ हिंसायाम् (क्र्या० प्या० प०)'। 'अघ्न्यादेराकृतिगणत्वात् यत् (उ० ४, १०८)। शृणाति पापात्। "आ यः शर्याभिस्तुविनृम्णो अस्य (ऋ० सं० ८, १, २६, ३)" —इति निगमः॥

(६) रशनाः। रशिबन्धनार्थो धातुरित्युक्तं रश्मिनिर्वचने। (१ अ० ५ ख०) 'युच् बहुलम् (२, ७४)'—इति युच्। बध्नन्ति बन्धनीयं, बध्यते आभिरिति वा। युच्प्रकरणे 'अशेश्च च'—इति श्रीमोमहेशः। अश्नुवते कर्माणि रशनाभिर्दशभिरभ्यधीताम् (ऋ० सं० ७, ५, ३२, ६)" "अच्छा यह्वीरशनाभिर्नयन्ति (ऋ० सं० ७, ३, २२, १)"—इति च निगमौ॥

(७) धीतयः। 'धी (दि० आ०)' धातो 'क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम् (३, ३, १७४)'—इति क्तिच् व्यत्ययेन दधातेरपि भवति, 'घुमास्थागापाजहाति (६, ४, ६६)'—इतीत्वम्। धीयन्ते विधीयन्ते पुरुषैः कर्मसु, धारयन्ति कर्माणि धनानि वा। मन्त्रान्तर्गतस्यार्थो दधातिः। "स सुतधीतिभिर्हित. (ऋ० सं० ६, ७, ३२, ४)"—इति निगमः॥

(८) अथर्वः। 'अत सातत्यगमने (भ्वा० प०)' 'इन् सर्वधातुभ्यः (उ० ४, ११७)'—इतीन्प्रत्ययो बाहुलकात्, धातोरथपदेशः,

'कृदिकारादक्तिनः ( ४, १, ४५ वा० )'—इति ङीष्। 'म वर्तुंमममर्यो ३ न वृषाम् ( ऋ० सं० ३, ५, ५, ३ )'—इत्य 'मर्यो न स्त्रियः इव'—इति माधवः। मर्य इति तेनान्तर्ि मङ्गुलिनामसु ॥

"मर्यास."—इति पाठो बहुषु दृष्टः। तदुपाधुनत्वार्थ न्यायम्। निगमस्तांसाविर्लोणः ॥

(९) गिरः। 'गिर प्रेरणे ( चु० प० )' क्विपि, प्रेरणेन पुरो कार्येषु। "गिरो न पुत्रा निगुये जनानाम् ( ऋ० सं० ६, ८ ३'५ ३ )"—इति निगमः ॥

(१०) कक्ष्याः। "कक्ष्यानिम्यः ( ऋ० सं० ८, ४, ३०, २ )" —इत्यत्र 'कक्ष्याः प्रकाशयन्ति कर्माणि ( निरु० ३, ६ )—इति भाष्यम्। कक्ष्याः प्रकाशयन्त्युनुष्ठानकाले फलेन वा कर्माणि 'ख्यातेः कक्ष्यशब्दनिर्वचनम्'—इति स्कन्दस्वामी। 'गाहते [illegible] इति नामकरणः कक्ष्यानेर्वा ( निरु० २, २ )'—कक्ष्यशब्दनिर्वचन भाष्ये स्कन्दस्याभिमन्यः—'ख्या प्रकथने ( अदा० प० )'—इत्य स्मात् सप्रत्यये निर्थको निर्निमित्तकोऽसौ सः यकाराकारयो लोपोऽभ्यासविकारश्च द्रष्टव्यः"—इति अयमभिप्रायः—प्रायेण 'वृतृवदिहनिकमिकषिभ्यः सः ( उ० ३, ६२ )'—इति ख्यातेर्बाहुल कात् सप्रत्यये बाहुलकादेव द्विर्वचने 'हलादिशेषे हस्वत्वे 'कुहोश्चुः ( ७, ४, ६२ )' न भवति बाहुलकादेव, 'अभ्यासे चर्च ( ८, ४, ५४ )' इति चर्त्वम्, उत्तरस्य ख्या इत्यस्य यकाराकारयोर्लोपः 'खरि च ( ८, ४, ५५ )'—इति चर्त्वम्, 'आदेशप्रत्यययोः ( ८

३, ५१ )'—इति पत्वम् । अकथनेन प्रकाशनं लक्ष्यते । अंसेन नित्यं प्रच्छादनात् प्रकाश्यते पुरुषेण । कक्षो बाहुमूलम् । 'तत्र भवः ( ४, ३, ५३ )'—इत्यर्थे 'शरीरावयवाच्च ( ४, ३, ५५ )'—इति यत्प्रत्ययः । अङ्गुलयोऽपि परम्परया कक्षे भवा इति वक्तुं शक्यते, अंसेन नित्यं प्रच्छादितत्वात्, प्रकाश्यो हि सर्वदा कक्ष्यः, तत्र भवाः, अङ्गुल्यस्तदन्ताः प्रकाश्याः किन्तु प्रकाशयन्ति कर्माणि अनुष्ठानेन फलेन वा, यथाचाधारस्थिते अरणी मांसना प्रकाश्ये तत्र भवोऽग्निः प्रकाशको भवति तद्वत् । यद्वा, कक्ष्या रज्जुः तद्वन्धनसाधनत्वात् कक्ष्याशब्देनोच्यन्ते । "परिष्कृण्वन्ति दशकक्ष्याभिः ( ऋ० सं० ८, ५, ११, ४ )"—"दशावनिभ्यो दशकक्ष्येभ्यः ( ऋ० सं० ८, ४, ३०, २ )"—इति च निगमौ ॥

(११) अवनयः । व्याख्यातं पृथिवीनामसु (१ अ० १ ख० १) । अवन्ति कर्माणि, अवन्ते वा । "सनात् सनीला अवनी रवाताः (ऋ०सं०१, ५, २, ५)"—"दशावनिभ्यः (ऋ०सं० ८, ४, ३०, २)" —इति च निगमौ ॥

(१२) हरितः । व्याख्यातं नदीनामसु । (१अ०१३ख०१२) हरन्त्याभिः पदार्थान् "प तं त्वं हरितो दश ( ऋ० सं० ६, ८, २८, ३ )"—इति निगमः ॥

(१३) स्वसारः । स्यशब्दे उपपदे 'असु क्षेपणे ( दि० प० )' —इत्यस्मात् 'सावसे ऋन् ( उ० २, ८९ )'—इति ऋन्प्रत्ययः सुष्ठु अस्यते क्षिप्यते पदार्थ आभिः, कार्येषु क्षेप्त्र्या वा । यद्वा,

स्वशब्दे उपपदे 'षद्लृ विशरणे ( भ्वा० प० )'—इत्यस्माद् बाहुलकादट् बाहुलकात् टिलोपश्च । स्वं स्वं व्यापारं गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति, स्वस्मिन् स्वस्मिन् हस्ते सीदन्तीति वा । यद्वा, परस्परं भगिनीव दृश्यन्ते, एकहस्तप्रभवत्वात् स्वसार उच्यन्ते 'न षट्स्वस्त्रादिभ्यः (४, १, १०)'—इति स्त्रीप्रत्ययनिषेधः । "दुवस्यन्ति स्वसारो अह्रयाणम् ( ऋ० सं० १, ५, २, ५ )"—इति निगमः ॥

(१४) जामयः, सनामयः । अनयोर्द्वयोरनुसन्धेयः । जमतेर्गतिकर्मणः ( निघ० २, १४ ) 'जनिघसिभ्यामिण् ( उ० ४, १२६ )'—इति बाहुलकादिण्प्रत्ययः । 'अ.लश्रा.लप.लघसिजम्पिजपिभ्य इण्'—इति धौमोप्रदेशः । जमन्ति गच्छन्ति कर्माणि प्रति अङ्गुलयश्चाभिराप्नोतीति वा । जनेरेव वा बाहुलकादकारस्य मकारः, जाताः स्वकारणात् । "त्वं सानायधि जामयः ( ऋ० सं० ६, ८, १६, ५ )"—इति निगमः ॥

(१५) सनामयः । 'णह बन्धने ( दि० उ० )' 'महो भश्च ( उ० ४, १२२ )'—इति इञ्प्रत्ययः भोऽन्तादेशः । नह्यतेऽनया गर्भ इति नाभिः, समाना नाभिरासामिति सनामयः । 'ज्योतिर्जनपदेऽन्यस्मात् सहशब्दस्य समानः । समाना हि मातुर्नाभिरासां, समा नाभिः मुख्यासामिति वा । "सनामयो वाजिनमूर्जयन्ति ( ऋ० सं० ७, ३, २५, ४ )"—इति निगमः ॥

(१६) योक्त्राणि । (१७) योजनानि । 'युजिर् योगे ( रु० उ० )' । 'दाम्नीशसयुयुजस्तुतुदसि ( ३, २, १८२ )'—इति

क्तप्रत्ययः पूर्वत्र। 'युच् बहुलम् ( उ० २, ७४ )'—इति युच्। युञ्जन्ति पदार्थानामिरिति, युक्ता वा हस्तेन, संयम्यते आभिः, क्लेशादय इति वा। शब्दसामान्यात् नपुंसकलिङ्गता। "दशायोक्त्रेभ्यो दशयोजनेभ्यः ( ऋ० सं० ८, ४, ३०, २ )"—इति निगमः॥

(१८) धुरः। धूर्वतेर्वधकर्मणः ( निघ० २, १९ ) कर्त्तरि क्विपि ( ३, २, १७६ ), राल्लोपः ( ६, ४, २१ )' इतिवलोपे रेफस्य विसर्जनीयः, जसि धुरः। धूर्वन्ति घ्नन्त्युपक्षयन्ति कर्माणि स्पर्धः। हिंसन्ति परानाभिरिति वा। धारयतेर्वा औणादिके क्विपि बाहुलकात् आकारस्य उकारः। अङ्गुल्या हि धार्य्यं सुवर्णादि धारयति। "दश धुरो दश युक्ता वहद्भ्यः (ऋ० सं० ८, ४, ३०, २ )"—इति निगमः॥

(१९) शाखाः। 'अशू व्याप्तौ ( स्वा० आ० )' कस्मात् प्रत्यये विहिते 'अश्नोतेर्डित्'—इति श्रीभोजदेवेन कप्रत्यये शाखशब्दो व्युत्पादितः। व्याप्तं हि सर्वम्। खशब्दाधिकरणे उपपदे शेतेः 'अधिकरणे शेतेः ( ३, २, १५ )'—इति अच्प्रत्ययः। अङ्गुल्यो हि हस्ताग्रभागस्थात् खे आकाशे शेरते व्यवतिष्ठन्ते आकाशस्यावकाशरूपत्वात उपपन्नं हि तत्र शयनम्। खशयाः सत्याः पृषोदरादित्वात् ( ६, ३, १०९ ) यकारलोपेन शकाराकारयोः सवर्णदीर्घत्वे खशा इति भवति, ततोऽक्षरद्वयस्य स्थानविनिमयः, टाप्, शाखा। शक्नोतेर्वा पचाद्यचि ( ३, १, १३४ ) उपधादीर्घे, ककारस्य खकारश्च। शक्नुवन्ति हि ता अङ्गुल्य

पुस्तकादि धारयितुं कार्याणि कर्त्तुं वा। यद्वा, 'शाखृ व्याप्तौ (भ्वा० ५०)' पचाद्यच् (३, १, १३४)। शाखन्ति व्याप्नुवन्ति कर्माणि। यद्वा, 'शीङ् स्वप्ने (अदा० आ०), तस्मात् 'वृक्षादयश्चाय'—इति खप्रत्ययो बाहुलकात् हस्तावयवेऽपि भवति। शेरतेऽवतिष्ठन्ते यासु नखादयः इति शाखाः। 'इशतेरिव वा'—इति श्रीभोजदेवः, खप्रत्ययोऽधिकृतः, इकारादेशस्य विकल्पितत्वात् पक्षे शाखानिष्पत्त्या शाखास्थानीयत्वाद्वा शाखा इष्यन्ते। तथाचामरसिंहः—'अङ्गुल्यः करशाखाः स्युः (२, ६, ८२)'—इति। 'हस्ताभ्यां दशशाखाभ्याम् (ऋ० सं० ८, ६, २५, ७)"—इति निगमः॥

(२०) अभीशवः। व्याख्याता रश्मिनामसु (१ अ० ५ ख० ५)। अभ्यश्नुवते कर्माणि, अभीशते वा कर्माणि कर्तुम्। "दशाभीशुभ्योऽभ्यर्चता जरेभ्यः (ऋ० सं० ८, ४, ३०, २)"—इति निगमः॥

(२१) दीधितयः। व्याख्याता रश्मिनामसु (१ अ० ५ ख० १)। अङ्गुरीयकादिधारणाद्धि दीप्यन्ते। दीप्यन्ति कौडन्त्याभिरिति वा दधातेर्व्युत्पन्नो दीधितिशब्दः। "अग्नि नरो दीधितिभिररण्योः (ऋ० सं० ५, १, २३, १)"—निगमः॥

(२२) गभस्तयः। व्याख्याता रश्मिनामसु (१ अ० ५ ख० ७) गृह्णन्ति पदार्थानाभिः पुरुषाः इति गभस्तयः। "दीप्यते मघोरंशुः गभस्तिभिः"—इति निगमः॥

"सुदस्त्यः"—इति केचित्।

एतस्य स्थाने "सस्नुनः"—इति च केचित् पठन्ति । साधं व्याख्याता नदीनामसु ( १ अ० १३ ख० १६ ) । संसरन्ति सह गच्छन्ति कर्माणि प्रति सङ्गता वा । स्पष्टनिगमदर्शनान्निर्णयः ॥

इति द्वयाधिकशतसङ्गुलिनामानि ॥५॥

वश्मि (१) । उश्मसि (२) । वेति (३) । वेनति (४) । वेसति (५) । वाञ्छति (६) । वष्टि (७) । वनोति (८) । जुषते (९) । हर्यति (१०) । आचके (११) । उशिक् (१२) । मन्यते (१३) । छन्त्सत् (१४) । चाकनत् (१५) । चकमानः (१६) । कनति (१७) । कानिषत् (१८) । इत्यष्टादश कान्तिकर्माणः ॥६॥

'कान्तिकर्माणः ( निरु० ३, ६, )'—इच्छार्था धातवः—

(१) वश्मि । 'वश कान्तौ' अदादिः परस्मैपदी । लडुत्तमैकवचनम् । "सदहं वश्मि पवमान सोम ( ऋ० सं० ७, ४, ६, ४ )"—इति निगमः ॥

(२) उश्मसि । वशेर्लडुत्तमपुरुषबहुवचने मसि 'सार्वधातुकमपित् । (१, २, ४)'—इति ङिद्वद्भावात् 'ग्रहिज्या (६, १, १६)'—इत्यादिना सम्प्रसारणम् 'इदन्तो मसिः (७, १, ४६)'—इति

इकारः। "आ वां धाराभृतस्मसि गमध्ये (ऋ० सं० १, २४, ६)"—इति निगमः॥

(३) धेनि। 'धि गतिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु' अदादिः परस्मैपदी। "धेनि होत्रमुत पोत्रं यजत्रा (ऋ० सं० १, ९, २४, ४)"—इति निगमः॥

(४) धेनति। भौवादिको धातुः। "पुराणा' अनु धेनति (ऋ० सं० ८, ६, २३, १)"—"नासत्याभ्यां वि धेनतन् (ऋ० सं० ४, ४, १६, ८)"—इति च निगमौ॥

(५) धेतति। अयमपि भौवादिको धातुः। 'धेतति'—इति पाठान्तरम्। निगमस्त्वमार्गणीयः॥

(६) धाम्यति। 'धा.ति' इत्यापी औणादिकः (प०)। पिपास्या सर्वा धाम्यन्तु (ऋ० सं० ८, ८, ३१, १)"—इति निगमः॥

(७) धते। धतेः परस्मैपदप्रथमपुरुषैकवचनम्। "समनौ गा अजति यस्य धते (ऋ० सं० १, ३, १, ३)"—इति निगमः।

(८) धनोति। 'धनु धान्ये' तनादिः (प०), अनेकार्थत्वाद्धातूनामत्र कान्त्यर्थः। एवमन्यत्रापि। "स्याइ यद्देक्ष्ण परमं धनोषि तत् (ऋ० सं० १, २, २४, ४)"—इति निगमः॥

(९) जुषते। 'जुषी प्रीतिसेवनयोः' तुदादिरात्मनेपदी, अत्र कान्तिकर्मा। "स जुषि' यातिजोषमा चिकित्वान् (ऋ० सं० १, ५, २५, ५)"—इति निगमः। 'जुषते हर्यति इति पाठाद् ...'—इति स्कन्दस्वामिभाष्यम्॥

(१०) हर्यते। 'हर्य गतिकान्त्योः' भ्वादिः परस्मैपदी। "ता जुषाणो हर्यति जातवेदाः (ऋ० सं० ३, ८, ११, २)" इति निगमः॥

(११) आचके। 'चक तृप्तौ' भ्वादिरात्मनेपदी, लडुत्तमपुरुषैकवचनम्। "कमम्योज आचके (ऋ० सं० ३, ४, ६, ५)"—इत्यत्र 'कमेर्लिटि उत्तमे इटि मलोपश्छान्दसः'—इति भानुदत्तः। "रथमिवस्युरश्चके (ऋ० सं० १, २, १६, ४)"—इति निगमः। "यस्ते शकुरयमाचके (ऋ० सं० ६, ३, ४२, ५)"—इति तु 'लोपस्त आत्मनेपदेषु (७, १, ४१)'। यथादृष्टं पाठः॥

(१२) उशिक्। वष्टेः 'वशः कित् (उ० २, ६८)'—इति चिक्प्रत्ययः, कित्त्वात् सम्प्रसारणम्। "उ शिक् पावको अरतिः सुमेधाः (ऋ० सं० ७, ८, २१, १)"—इति निगमः॥

(१३) मन्यते। 'मन ज्ञाने' दिवादिरात्मनेपदी। "माश्रिय मन्यमानास्तुरश्रिम् (ऋ० सं० ५, ४, ८, २)"—"यदि मन्येतोपमुस्य मेत्योदने"—इति च निगमौ॥

(१४) छन्त्सन्। 'छदि संवरणे' चुरादिः। पञ्चमलकारः, णिच्, 'लेटोऽडाटौ (३, ४, ९४)', 'सिब्बहुलं लेटि (३, १, ३४)' 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु (३, ४, ९७)'। 'वृषा छन्तुर्मवते हर्यतः (ऋ० सं० १, ४, २६, ५)'—इत्यत्र मन्यते छन्त्सन् चाकनन् इति कान्तिकर्मसु पाठात्, 'तदिन्मे छन्त्सद् वपुषः (ऋ० सं० ७, ७, २६, ३)'—इति प्रयोगदर्शनाच्च छदिः कान्त्यर्थे'—इति स्कन्दस्वामिभाष्यम्। 'दीर्घताय छन्त्सत्

( ऋ० सं० २, १, ५१, ६ )"—इति, "कं गुताप्रासुः पदे
( ऋ० सं० ८, ६, २६, ६ )"—इति च निगमौ ।

(१५) चाकनत् । 'कनी दीप्तिकान्तिगतिषु ( भू० प
यङ्लुगन्तः । 'नुगतोऽनुनासिकान्तस्य न भवति, प्रत्य
पञ्चमलकारः, 'लेटोऽडाटौ ( ३, ४, ९४ )' 'इतश्च लोपः पर
पदेषु ( ३, ४, ९७ )' । "इहेन्द्रस्य चाकनत् ( ऋ० सं० ६,
३८, १ )"—"ये निः शश्चिषु चाकनत्"—इति च निगमौ ॥

(१६) चकमानः । 'चक तृप्तौ' भ्वादिरात्मनेपदी ।
'ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश् ( ३, २, १२८ )' । "चक
मानः पिबतु दुग्धमंशुम् ( ऋ० सं० ४, ३, ७, १ )"—इति
निगमः ।

(१७) कनति । 'कनी दीप्तिकान्तिगतिषु (भू० प०)' भ्वादिः
परस्मैपदी । "मानत् कनति दुरतम्"—"इन्द्रः सोमस्य काणुका
( ऋ० सं ६, ४, २६, ४ )"—इति च निगमौ ।

(१८) कानिषत् । कनतेर्लेटि परस्मैपदप्रथमपुरुषैकवचने
सिब्बहुलं लेटि, इडागमः, उपधावृद्धिर्बाहुलकात् इकारलोप
पूर्ववत् । "अग्ने तृतीये सवने हि कानिषः ( ऋ० सं० ३, १ ३८
५ )"—इति निगमः

इत्यष्टादश कान्तिकर्माणो धातवः ॥ ६ ॥

अन्धः (१) । वाजः (२) । पयः (३) ।
प्रयः (४) । पृक्षः (५) । पितुः (६) । वय (७) ।

सिनम् (८)। अवः (९)। क्षु (१०)। धासिः (११)। इरा (१२)। इळा (१३)। इषम् (१४)। ऊर्क् (१५)। रसः (१६)। स्वधा (१७)। अर्कः (१८)। क्षद्म (१९)। नेमः (२०)। ससम् (२१)। नमः (२२)। आयुः (२३)। सूनृता (२४)। ब्रह्म (२५)। वर्चः (२६)। कीलालम् (२७)। यशः (२८)। इत्यष्टाविंशतिरन्ननामानि ॥७॥

(१) अन्धः। 'अन्ध इत्यन्ननाम। आध्यानीयं भवति (निरु० ५, १)'—इति भाष्यम्। 'आभिमुख्येन हि ध्यातव्यं सर्वेणान्नं प्रीतेः शरीरस्थितेश्च तदायत्तत्वात्'—इति स्कन्दस्वामी। आङ्पूर्वात् ध्यायतेरसुनि बाहुलकात् यकाराकारयोर्लोपः, उपसर्गस्य ह्रस्वत्वं नुडागमश्च धातोः। यद्वा, 'अद भक्षणे (अदा० प०)'—इत्यस्मात् 'अदेर्नुम् धश्च (उ० ४, २००)'—इति कर्मणि कर्तरि वा कारके असुनि नुमागमो धकारश्चान्तादेशः। अद्यते प्राणिभिः, तान् वा स्वयमत्ति। तथाच श्रुतिः—'अद्यतेऽत्ति च भूतानि (तै० उ० २, २)'—इति। 'अनितेर्नेनान्धः,—इति क्षीरस्वामी। अनितेरसुनि बाहुलकात् धुगागमः। अनित्यन्नं'

हि प्राणनम्। "मामद्रेभिः सिञ्चता मद्य मन्धः (ऋ० ९, ६, १३, १)"—"इन्द्रेहि मत्स्यन्धसः (ऋ० सं० १, १ १)"—इति च निगमौ ॥

(२) वाजः। 'वज गतौ (भू० प०)'। 'अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम् (३, ३, १९)'—इति घञ्। 'अजिव्रज्योश्च (७, ३, ६०)'—इति चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात् कुत्वाभावः। अथ वा तत्र न्यासकारः—'चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वाद्वजेरपि कुत्व-प्रतिषेधः सिद्धो भवति वाजः' इति। निगम्यते, अभिगम्यते हि रसस्सर्वैः। गच्छत्यनेनादत्तेन सुखानि, भुक्तेन इति वा। गच्छत्यनेन शुद्धेन सत्त्वशुद्धिं भोक्ता। यदाहुः—'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिरिति'। यद्वा, गत्यर्था बुद्ध्यर्थाः, जानात्यनेन भुक्तेन धर्मम्। 'दश धर्मान् विजानन्ति धृतराष्ट्र निबोध तान्। मत्तः प्रमत्त उन्मत्तः श्रान्तः क्रुद्धो बुभुक्षितः॥'—इति श्रीमहाभारतम्। सर्वनामनामसु गत्यर्थाद् व्युत्पादितेष्वेषमर्थो बोद्धव्यः। "सुतानां वाजिनीवसू (ऋ० सं० १, ३, ३, ५)"—अन्यत्र "वाजं दधमत्यदं रथम् (ऋ० सं० १, ४, १२, १)"—इति निगमौ ॥

(३) पयः। व्याख्यातं रात्रिनामसु पय इत्यत्र (निरु० २ ५)। यद्वा, 'अय पय गतौ (भू० आ०)'—इत्यस्मादसुन्। पीयते इदम्'। तद्धि चतुर्विधम् पेयचोष्यलेह्यचर्व्यभेदेन। वर्धन्ते वि तेन भुक्तेन। 'जातान्यन्नेन वर्धन्ते (तै० उ० २, २)'—इति श्रुतिः। "पयस्वानग्न आगहि (ऋ० सं० १, २, १२, ३)"—"यदी

घृतस्य पयसा पियानः (ऋ० सं० १, ५, ३७, २)"—इति च निगमः ॥

(४) प्रयः। व्याख्यातमुदकनामसु (१ अ० १२ ख० ३७) "उप प्रयोभिरागतम् (ऋ० सं० १, १, ३, ४)"—"तुराय प्रयोन हर्मि स्तोमं माहिनाय (ऋ० सं० १, ४, १७, १)"—"प्रयस्वन्तः प्रति हर्यामसि त्वा (ऋ० सं० ८, ६, ११, ३)"—इति च निगमाः ॥

(५) श्रवः। 'श्रु श्रवणे (भ्वा० प०)'। कर्मण्यसुन्। श्रूयते प्रशं यथ्यमानं श्रवो यशः। तत्कर्मत्वाच्छ्रवो वा। "सत्यश्रिव श्रवस्तमः" "मन्तं दधामि श्रवसे दिवे दिवे (ऋ० सं० १, २, १३, २)"—"अभिश्रव ऋज्यन्तः (ऋ० सं० ४, ७, १, ३)"—इति च निगमाः। "उप प्रयोभिरागतम् (ऋ० सं० १, १, २, ३)"—इत्यादिषु निरुक्तटीकायां स्कन्दस्वामिना प्रय इत्यन्ननामेत्युच्यते। तथाच 'अक्षिति श्रवः (ऋ० सं० १, ३, २०, ४)'—इत्यादिनिगमेषु वेदभाष्ये, 'श्रव इत्यन्ननाम'—इति स्पष्टमुच्यते। नैरुक्तटीकायामप्येवम् (निरु० १०, ३)। अतः प्रयःश्रवः-शब्दयोः उभयोरप्यन्ननामत्वं स्पष्टम्। अनेकत्वमस्य पाठो विद्वद्भिर्निर्णीयताम् ॥

(६) पृक्षः। 'पृची सम्पर्के (रु० प०)'। औणादिके क्विपि धातोः कुगागमः। सम्पृक्तं हि तज्जातुभिः। पृक्षतिर्दानार्थ इति धा (भ्वा० भा०)। "वाजो नर प्र पृक्षती (ऋ० सं० १, १, ३, ३)"—इत्यादौ माधवेनोक्तम्। तत्र क्विपि बाहुलकात्सलोपः। दीयते ह्यन्नमर्थिभ्यः। "त्रिः पृक्षो अस्मे अक्षरेव पिन्वतम्।

(ऋ० सं० १, ३, ४, ४)"—इत्यत्र ; शब्दस्याभिमाध्य
मध्यनामैतत् पठन्ति। "पृक्षो मरुत याम् (ऋ० सं० ५,
६)"—इत्यादिषु पृक्षशब्दान्तस्य सामानाधिकरण्यदर्शना
धनानां द्रष्टव्यम्—इति। "मतिं पिप्यत' प्रति पृक्षं
(ऋ० सं० १, ५, ११, २)"—"पृक्षं वहतमश्विना (ऋ० सं०
२, १)"—इति च निगमौ। "स्पार्हावीरं मात्यं पृक्ष ईरि (
सं० २, ५, १८, १)"—इत्यादौ तु पृक्षस्यैकवचनान्तमपि दृश्य

(६) पितुः। 'पा रक्षणे (अदा० प०)'। 'कमिमनिज
मायामापादिभ्यश्च (उ० १, ७०)'—इति तु-प्रत्ययो धातुका
कारः। रक्षितव्यं ह्यन्नम्। प्यायतेर्वा धातुलुकात् तुप्रत्ययो धातो
पिभावश्च। "पितुं नु स्तोषम् (ऋ० सं० २, ५, ६, १)"—
प्रमन्दिने पितुमदर्चता वचः (ऋ० सं० १, ७, १२, १)"—इति
निगमौ॥

(७) वयः। 'वी गतिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु (अदा० प०)'।
असुन्। गत्यादिसर्वोऽप्यर्थोऽन्नानुगुणः कारकभेदेन। 'वय
गतौ (भ्वा० आ०)'—इत्यस्मादसुन् वा। "बृहद्वसे वय इन्द्रो
दधाति (ऋ० सं० २, १, १०, २)"—"परि ग्रंसमोमना वां व
यासाथ (ऋ० सं० ५, ५, १६, ४)"—इति च निगमौ॥

केचिदस्य स्थाने "सुतः" इति पठन्ति। तत्र 'पूङ् प्राणि
प्रसवे (अदा० आ०)'। 'तातशातलातसुत'—इत्यादिना क्तप्रत्ययः
पूङो ह्रस्वत्वश्च निपात्यते। सूयते वृष्ट्या। "आदित्याज्जायते
वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः"—इति हि स्मृतिः (मनुः ३, ७६)। यद्वा,

'षु प्रु गतौ (भ्वा० प०)'—इत्येतदुचितं निपातनम्। निगमोऽप्ये-
षणीयः॥

(८) सिनम्। 'षिञ् बन्धने (स्वा० क्र्या० उ०)'। 'इणः
सिञ्जिदीङुष्यविभ्यो नक् (उ० ३, २)'। 'सिनाति भूतानि'—इति
भाष्यम्। 'सिनाति बध्नाति क्षुधा विनश्यन्ति भूतानि धारयति'
—इति स्कन्दस्वामी। सीयते अनेनेति वा। अन्नेन हि भृत्यादयो
बध्यन्ते। "येन स्मा सिनं भरथः स धन्यः (ऋ० सं० ३, ४, ६, १)"
—इति निगमः॥

(९) अवः। 'अव रक्षणगतिकान्तिप्रीतितृप्त्यवगमप्रवेशश्रवणस्वा-
म्यर्थयाचनक्रियेच्छादीप्त्यवाप्त्यालिङ्गनहिंसादानभागवृद्धिषु
(भ्वा० प०)'। असुन्। धात्वर्थेषु योगः सर्वाङ्गीकर्तव्यः। "यथद
प्राण्यवसागमत्"—'अग्निर्गिरोऽवसा वेतु धीतिम् (ऋ० सं० १,
५, २५, ४)"—इति निगमौ॥

(१०) क्षु। 'टु क्षु शब्दे (अदा० प०)'—'क्षि निवासगत्योः
(तु० प०)'। 'क्षः क्षिक्षुभ्यां डुः (उ० १, २२)'—इति विधीय-
मानो डुः क्षुप्रत्ययो बाहुलकादाभ्यामपि भवति। क्षूयते शब्द्यते
स्तोतृभिः स्तूयते देवतात्वादन्नं सूक्तादिभिः गुणवत्तया वा
श्लोकैः, निवसत्यनेन वा। "इषं वाजस्य क्षुमतो रायईशिषे (ऋ०
सं० २, ५, १८, ५)"—"आ नू न इन्द्र क्षुमन्तम् (ऋ० सं० ६,
५, २७, १)"—इति च निगमौ॥

(११) धासि। 'प्लुषिशुषिकुषिभ्यः क्सिः (उ० ३, १५१)'
—इतिबाहुलकात् धाञोऽपि भवति, बाहुलकादेव' इत्थं म

भवति। दीयतेऽर्थिभ्यो धारयति प्राणान् वा। "विदत्सर[illegible] तनयाय धासिम् (ऋ० सं० १, ५, १, ३)"—अत्र धासि[illegible] अन्ननाम इह तु पयस आसन्नकारणत्वात् गोषु प्रयुक्तम्—इति स्कन्दस्वामी॥

(१२) इरा। व्याख्यातं नदीनामसु (१ अ० १३ ख० ११)।

(१३) इला। ईड्यते दीप्यते भुक्तेन जाठरोऽग्निः [illegible] उदरे, स्वपत्यनेन भुक्तेन न हि बुभुक्षितस्य निद्रास्ति। "[illegible] इलां सवीरां मा यजामहे (ऋ० सं० १, ३, २०, ४)"—निगमः॥

(१४) इषम्। 'इषु इच्छायाम् (तु० प०)'। औणादिकः किप्। इष्यत इति। यद्वा, 'इष गतौ (दि० प०)'। [illegible] मेदे माधुर्येण दर्शनाद् स्निग्धत्वादिकपरत्वान्नाम। "इष' स्तोतृ[illegible] आभर (ऋ० सं० ३, ८, २२, १)"—"अश्विना यज्वरीरि[illegible] (ऋ० सं० १, १, ५, १)"—इति च निगमौ॥

(१५) ऊर्क्। 'ऊर्गित्यन्ननाम। ऊर्जयतीति सतः, [illegible] सुप्रवृक्णमिति वा (निरु० ३, ८)'—इति भाष्यम्। 'ऊर्जयति' [illegible] प्राणयति बलयन्तं प्राणयन्तं वा करोतीत्यर्थः। 'पक्वमिति वा' पचतः पकारलोपे इत्था [illegible] ककारलोपे कृते समागमे ऊर्गिति भवति। 'सुप्रवृक्णमिति वा' इत्यर्थे [illegible]लोपे कृते, संयोगादिलोपे कृते, ककारस्योपरि [illegible] ऊर्गिति भवति। सुच्छिन्नं हि तद्भवति भुज्यमानम्—इति स्कन्दस्वामी। 'ऊर्जं ते मारुती अग्निरवेद'—[illegible]

। इते ऊर्गिति भवति। सुष्ठिदं हि तद्भवति मृदुत्वात्'—इति स्कन्दस्वामिग्रन्थः। 'ऊर्ज्यते प्राप्यते जीव्यतेऽनया'—इति महेश्वरमिश्रः। अत्र 'ऊर्जबलप्राणनयोः (चु० प०)' इत्यस्माद्धेव करणे क्विप्। "यंसि त्वमूर्जं न विश्वध क्षरध्यै (ऋ० सं० १, ५, ५, ३)"—इति निगमः॥

(१६) रसः। व्याख्यातमुदकनामसु (१ अ० १२ ख० ३५)। "महे यत् पित्र ईं रसः दिवे कः (ऋ० सं० १, ५, १५, ५)"—इति निगमः॥

(१७) स्वधा। स्वशब्दे उपपदे दधातेः (सू० उ०) 'गेहे कः (३, १, १४४)'—इति कप्रत्ययो बाहुलकात् भवति। स्वेभ्यो धीयते स्वस्मिन् धीयते वा, स्वेन धनेन धीयते वा। "विश्वा हि माया भवसि स्वधा वः (ऋ० सं० ४, ८, २४, १)"—"भादह स्वधामनु (ऋ० सं० १, १, ११, ४)"—इति च निगमौ॥

(१८) अर्कः।

(१९) क्षद्म। व्याख्यातमुदकनामसु (१ अ० १२ ख० १)। क्षुभिर्यसनादिके स्वकार्ये स्थिरं भवति, स्थिरो भवत्यनेन भोक्तेति वा, "अहमन्नमन्नमदन्तमद्मि (सा० सं० मा० २, ९)"—इति श्रुतिः। माधवपक्षे क्षदिरदनार्थः (सौ०), अद्यते बुभुक्षितैः। "स्वादु क्षद्मापो वसतो स्योनकृत्"—इति निगमः॥

(२०) नेमः। 'णीञ् प्रापणे (भू० उ०)'। 'अर्तिस्तुसुहु-सृधृक्षिक्षुभायावापदियक्षिनीभ्यो मन् (उ० १, १३७)'। नमयति सुगतिं दातारं, नीयते देहयात्रा अनेनेति वा॥

"मेमा"—इति मकारान्तं केचित् पठन्ति। तदा मकुल
भिधानस्यागात्मुपा मकारस्येरसम्भाषा ममात्रः। एकेन
सूत्रे वृत्तिकारेणोक्तम्। यद्वा, मनिति करसिद्धिः।
स्वरांगानिर्णयः।

(२१) गम्यम्। 'रास स्पर्शे (भ्वा० प०)'। पुंसि सञ्ज्ञा
यः प्रायेण (उ० ५, ११८)। स्यपन्त्यनेन मुनेन, न हि सुखि
स्यामिलेश स्त। "सम्नेन विदुषिमदायायहां यमु (ऋ० सं०
४, ६, ३)"—इति निगमः॥

(२२) नमः। 'णमु महस्ये (भू० प०)'। असुन्। उ
जातमात्रेभ्यो भूतेभ्यः पूर्वजन्मकृतकर्मवशात्, नम्यते देवतात्
नमन्त्यनेन हेतुना तदुपन्तः प्रयोजनस्य च हेतुत्वेन विवक्षा।
यो महे महि नमो भरध्वम् (ऋ० सं० १, ५, १, २)"—"ए
यो अग्निं नमसा (ऋ० सं० ५, २, २१, १)"—इति च निगमौ

(२३) आयुः। अननं प्राणनमस्ति। "पाहि सद्मिद्‌ विश्वायु
(ऋ० सं० १, २, २२, ३)"—इति निगमः॥

(२४) सूनृता। व्याख्यातमुपोनामसु (१ अ० ८ ख० १४)।
सुष्टु नयन्ति क्षुत्प्रयुक्तान् अर्थ्यते वा तदर्थिभिः। यद्वा, शोभन
नरः सुनरः 'अन्येषामपि दृश्यते (६, ३, १३७)'—इति दीर्घः, सूनु
तायते विस्तीर्यते पुण्येन, 'अन्येषामपि दृश्यते (६, २, १३७)
—इति दीर्घः। वा टाप्। "पुरुणीथे जरते सूनृतावान् (ऋ० सं०
१, ४, २५, ७)"—"अश्विना सूनृतावती (ऋ० सं० १, २, ४,
३)"—इति च निगमौ॥

(२५) ब्रह्म। 'बृहि बृहि वृद्धौ (भू० प०)' 'बृंहेर्नलोपश्च ४, १४१)'—इति मनिन्। परिवृद्धं भवति सर्वप्राणिभिः। भुज्यमानमप्यनुपक्षीयमाणत्वात्, स्वभावतो वा परिवृद्धं जगतो भरणात्, यदन्नेनैव भूतानीति वा 'अन्नात्यन्नेन (तै० उ० २, २)"—इति श्रुतिः। "उप ब्रह्माणि वाघतः ० सं० १, १, ५, ५)"—इति च निगमः॥

(२६) वर्चः। 'वर्च दीप्तौ (भू० आ०)' । असुन्। दीप्तिकरं शरीरादिः। "तया संसृज वर्चसा (ऋ० सं० १, २, ३)"—"सं माग्ने वर्चसा सृज (ऋ० सं० १, २, १२, ४)" मायुषा सह वर्चसा (ऋ० सं० ८, ३, २७, ४)"—इति माः॥

(२७) कीलालम्। 'कल गतौ (प०)' चौरादिकः, 'कील ले (भू० प०)' 'कील खण्डने'। कील बन्धने इति पूर्वो लिङ्गयर्थः। कील खण्डने इति तु सुच्छेदमित्यर्थः। वा कीला जाठराग्नेर्ज्वाला, तां लाति 'कर्मण्यण्(३, २, )'। "कीलालपे सोमपृष्ठाय वेधसे (ऋ० सं० ८, ४, २२, ४)" इति निगमः॥

(२८) यशः। व्याख्यातमुदकनामसु (१अ० १२खं० ५०)। यशो र्दीप्त्यर्थात्। कीर्तिकरं चेति माधवः। तदा वर्चस्वदर्थः। शोन पर्क मधुमोष्यन्तरा (ऋ० सं० ८, ६, २,५)"—रिपुश्च यशस्वता (ऋ० सं० ३, १, १६, ६)"—इति निगमौ॥

इत्यष्टाविंशतिरन्ननामानि॥ ७॥

आवयति (१)। भर्वति (२)। बभस्ति (३)। वेति (४)। वेवेष्टि (५)। अविष्यन् (६)। बप्सति (७)। भसथः (८)। बब्धाम् (९)। ह्वरति (१०)। इति दशात्तिकर्माणः ॥८॥

(१) आवयति। आङ्पूर्वात् वेतेः (अदा० प०) 'बहुलं छन्दसि (२, ४, ७३)'—इति शपो लुगभावः। यद्वा 'वेञ् तन्तुसन्ताने (उ०)' भ्वादिः, अनेकार्थत्वात् घः नामश्चात्तिकर्मत्वम्। एवमन्येष्वपि द्रष्टव्यम्। "मा तु स पयति गव्यमश्व्यम् (ऋ० सं० ६, २, २, १०)"—इति निगमः ॥

(२) भर्वति। 'भर्व हिंसायाम्' भ्वादिः परस्मैपदी। "पृथून्यग्निरनुयाति भर्वन् (ऋ० सं० ४, ५, ८, २)"—"तेन सूभर्वं शतवत सहस्रम् (ऋ० सं० ८, ५, २०, ५)"—इति निगमौ ॥

(३) बभस्ति। 'भस भर्त्सनदीप्त्योः' जुहोत्यादिः परस्मैपदी। "हरी इहान्धांसि बप्सता (ऋ० सं० १, २, २६, २)"—इति निगमः ॥

(४) वेवेष्टि। 'विष्लृ व्याप्तौ (जु० उ०)'। 'जुहोत्यादिभ्यः श्लुः (२, ४, ७५)'। "स्वतेदयोयथातिथि ज्योतिष्कृत्या परिवेवेष्टि"—"यदा त्वा अतिथयः परिवेष्टि"—"मरुतः

परिवेष्टारः"—इति च निगमाः। प्रयोजकव्यापारे प्रयुक्तत्वात् निरूपणीयम् ॥

(५) वेति। वी गत्यादौ अदादिः परस्मैपदी। "वीतं पात पयस उस्रियायाः (ऋ० सं० ३, ३, २३, ४)"—इति निगमः ॥

(६) अविष्यन्। अवतेर्वर्त्तमाने व्यत्ययेन लृट्, लटः सद्दा। "तृष्णविष्यन्नतसेषु तिष्ठति (ऋ० सं० १, ७, २३, २)"—इति निगमः। अत्र च 'अविष्यन्नत्तिकर्मा भक्ष्यन्नित्यर्थः'—इति स्कन्दस्वामी। तस्मादविष्यादिति पाठो न युक्तः ॥

(७) वप्सति। भसेः प्रथमपुरुषे बहुवचने 'घसिभसोर्हलि च (६, ४, १००)'—इत्युपधालोपे रूपम्। "दद्भिर्वनानि वप्सति (ऋ० सं० ६, ३, २१, ३)"—इति निगमः ॥

(८) भसथः। भसेर्लेटि थसि 'बहुलं छन्दसि (२, ४, ७६)' —इति शपः श्लुर्न भवति। "न देवा भसथश्चन (ऋ० सं० ४, ८, २५, ४)"—इति निगमः ॥

(९) बप्साम्। भसेर्लेटि तसस्तामि श्लौ द्विर्वचनान्तत्वा-नित्यत्वात् उपधालोपः प्राप्नोति छान्दसत्वान्न, 'घसिभसोर्हलि च (६, ४, १००)'—इत्युपधालोपः। 'धि च (८, २, २५)'—इत्यादिसूत्रेषु सिचो लोप इति पक्षे सकारलोपश्छान्दसः सकार मात्रलोप इति पक्षे 'झलोझलि (८, २, २६)'—इति सलोपः भस्त्यजश्त्वे। बप्सामिति पृथक्पाठे प्रयोजनं मृग्यम्। "बप्सं ते हरीधाना"—इति निगमः ॥

(१०) ह्वरति । ह्वृ कौटिल्ये' भ्वादिः परस्मैपदी । "अ...
मतिष्टद्वरुणह्वरन्तमः ( ऋ० सं० १, ४, १८, ५ )" -"उर ह्व...
यदुपरा अपिन्वन् (ऋ० सं० १, ५, २, १)"—इति निगमौ ।

इति दशात्तिकर्माणः ॥ ८ ॥

ओजः (१) । वाजः (वा) पाजः (२) । शवः (३) । तरः (४) । तवः (५) । त्वक्षः (६) । शर्द्धः (७) । बाधः (८) । नृम्णम्(९) तविषी (१०) । शुष्मम् (११) । शुष्णम् (१२) । शूषम् (१३) । दक्षः (१४) । वीळु (१५) । च्यौत्नम् (१६) । सहः (१७) । यहः (१८) । वधः (१९) । वर्गः (२०) । वृजनम् (२१) । वृक् (२२) । मज्मना (२३) । पौंस्यानि (२४) । धर्णसिः (२५) । द्रविणम् (२६) । स्यन्द्रासः (२७) । शम्बरम् (२८) । इत्यष्टाविंशतिर्बलनामानि ॥९॥

(१) ओजः । व्याख्यातमुदकनामसु (१ अ० १२ ख० ४१) । ...दकत्वेन, ...ति हि बलवती भवन्ति ओजिष्ठा, स्त्रमात्र...

त्यनेन वा शत्रून्। वर्द्धतेऽनेन वैश्वर्य्यादि, वर्द्धते व्यायामादिना। मावर्थान्तरावपि वृद्ध्यर्थेषु बोद्धव्यौ। 'उर्वधिकम्'—इति माधवः। हिंस्यन्तेऽनेन शत्रवो वा। 'उपेर्जुट् च'—इति श्रौभोजदेवः। वसुनि गुणः। ओषति दहति शत्रून्। "ओजसो जातमुतमन्य एनम् (ऋ० सं० ८, ३, ४, २)"—'वसूनि जाते जनमान ओजसा (ऋ० सं० ६, ७, ३, ३)"—इति निगमौ॥

(२) वाजः। व्याख्यातमन्ननामसु (२ अ० ७ ख० २)। गच्छन्त्यनेन शत्रून् प्रति जिगीषवः। गम्यतेऽधिगम्यते व्यायामादिना वलेन। इमावर्थावुत्तरत्रापि गत्यर्थेषु बोद्धव्यौ। 'वाजो वलं, वाजयतेः प्रेरणार्थात्'—इति माधवः। अनेन शत्रून् प्रेरयति विद्रावयतीति। "परिवाजेषु भूषथः (ऋ० सं० ३, १, १२, ४)"—इति निगमः॥

पाजः। 'पा रक्षणे (अदा० प०)'। 'पातेर्जुट् च'—इत्यसुन्। वलेन हिंस्यते सर्वम्। "कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीम् (ऋ० सं० ३, ४, २३, १)"—इति निगमः। "समिद्धस्य रुशददर्शि पाजः (ऋ० सं० ३, ८, १३, २,)"—इत्यत्र स्कन्दस्वामिना 'पाजो वलम्'—इत्येतावदेवोक्तं न तु वलनामेति वाजशब्दे तु 'परिवाजेषु भूषथः (ऋ० सं० ३, १, १२, ३)'—इत्यत्र वलनामेतदित्युक्तम्, 'अत्यं न मिहे वि नयन्ति वाजिनम्' (ऋ० सं० १, ५, ७, १)'—इत्यत्र 'अत्यं न वाजं हवनस्यदं रथम् (ऋ० सं० १, ४, ११, १)'—इत्यादौ च ऋक्भाष्ये वाजशब्दोपरि 'अपि वलनाम'—इत्युच्यते। अतो वाजपाज-

शप्त्योरुभयोरपि पञ्चानामर्थं ज्ञापकम्, तत्रैकतमस्य पदे पितृपद्भिरर्पयितम् ॥

(३) शापः। ण्यन्तशापनमुरुक्तनामसु (१ अ० १२ ख० ४)। "मा भेम शापसस्ते (ऋ० सं० १, १, २१, २)"—इति निगमः।

(४) तरः। 'तॄ प्लवनतरणयोः (भू० प०)'। असुन्। तरत्यनेन आपदम्। 'यायतरो मघवन् यायदोजः (ऋ० सं० ६, ३, ३, २)"—इति निगमः ॥

(५) तवः। तवतिर्वधार्थः, असुन्। "अपादमिन्द्र तवसा जघन्थ (ऋ० सं० ३, २, २, ३)"—"योगे योगे तवस्तरम् (ऋ० सं० १, २, २६, २)"—इति च निगमौ ॥

(६) त्यक्षः। 'तक्षू तनूकरणे (भू० प०)'। असुन्। तनूक्रियन्ते तेन शत्रवः। "स प्र रिक्वे त्यक्षसा क्ष्मो दिवश्च (ऋ० सं० १, ७, १०, ५)"—इति निगमः ॥

(७) शर्द्धः। 'शर्द्धतिरुत्साहार्थः'—इति स्कन्दस्वामी, असुन्। शत्रुजयादायनेन उत्साहितत्वात्। "अभ्राजिशर्द्धो मरुतोयदर्णसम् (ऋ० सं० ४, ३, १५, ६)"—इति निगमः ॥

(८) बाधः। 'बाधृ विलोडने (भू० आ०)' 'अकर्तरि च कारके सञ्ज्ञायाम् (३, ३, १९)'—इति घञ्। बाध्यतेऽनेन शत्रवः। निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(९) नृम्णम्। 'नृम्णं नॄन् नतम् (निरु० ११, ९)'—इति भाष्यम्। 'नॄन् शत्रुभूतान् प्रति नमति, ण्यर्थो वा नमिः, नमयति प्रह्वीकरोति'—इति स्कन्दस्वामी। "इन्द्रनृम्णं हि ते शवः

( ऋ० सं० १, ५, २१, ३ )'—इत्यत्र ऋक्भाष्यम्—'यस्माच्छत्रुभूतानां मनुष्याणामपि नमनकरणं तव बलम्'—इति । स एष तत्र पृषोदरादित्वेन नृनमनशब्दस्य वर्णलोपादौ नृम्णमिति द्रष्टव्यम् । "अयो नृम्णं च रोदसी सपर्यतः ( ऋ० सं० ८, १, ६, १ )"—"महिश्रयस्तुविनृम्णम् (ऋ० सं० १, ३, २७, १)"—इति च निगमौ ॥

(१०) तविषी । तविः सौत्रो धातुर्वृद्ध्यर्थः । तवेष्टिषन्प्रत्ययः । टित्वात् ङीप् । "कृष्णा रजांसि तविषीं दधानः (ऋ० सं० १, ३, ६, ४ )"—"युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी (ऋ० सं० १, ३, १८, २ )"—इति निगमौ ॥

(११) शुष्मम् । 'शुष शोषणे (दि० प०)' । 'अविसिविसिशुषिभ्यः कित् (उ० १, १४१)'—इति मनप्रत्ययः । शुष्यत्यनेनारिः । 'शुषिः प्रीणनार्थः'—इति माधवः । प्रियं हि बलम् । 'शुष्ममिति बलनाम, शोषयतीति सतः (निरु० २, २४)'—इति भाष्यम् । 'परस्परसांयोगिकमपि बलं विशेषयति उपमेयतीत्यर्थः'—इति स्कन्दस्वामी । तत्र शोषयतेर्मनिन् 'बहुलमन्यत्रापि सम्ज्ञाच्छन्दसोः'—इति लुक् । "शुष्मा इन्द्रमवाता अहुतप्सवः (ऋ० सं० १, ७, १२, ४)"—"यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेताम् (ऋ० सं० २, ६, ७, १)"—इति निगमौ ॥

(१२) शुष्णम् ।

(१३) शूरम् । 'शुष शोषणे ( दि० प० )' । 'पूषमुयकलुरकाय्यविन्द्रियादयः'—इत्यादिग्रहणात् 'उणः प्रत्ययादयोऽपि भवन्ति'

—इति दण्डनाथवृत्तिः। ऊणप्रत्ययणिलोपश्च निपात्यते शुष्मवदर्थः। "इन्द्राय शूष मर्चति (ऋ० सं० १, १, १८, ५)" —इनतमः सत्वभि र्योह शूषैः (ऋ० सं० ३, ३, १३, २)"—इति निगमौ ॥

(१४) दक्षः। 'दक्ष शैघ्र्ये च (भू० आ०)' चकाराद्वृद्धौ। 'दक्ष गतिहिंसनयोः (चु० घ० प०)'। 'दक्षतिरुत्साहार्थः'—इति स्कन्दस्वामी। असुन्। शत्रुविजये क्षिप्रो भवत्यनेन, हिंस्यते वाऽनेन शत्रवः, प्रोत्साहितो वा भवति शत्रुविजये। 'मित्रं हुवे पूतदक्षम् (ऋ० सं० १, १, ४, २)'—इति भाष्ये स्कन्दस्वामी— 'दक्ष इति सकारान्तं बलनाम'। अकारान्तमपि तस्यैवमर्थान्तरे द्रष्टव्यम्। "जज्ञाना पूतदक्षसा (ऋ० सं० १, २, ८, ४)"— इति निगमः ॥

(१५) वीळु। वीलयति संस्तम्भकर्मा। 'भृमृशीङ्तृचरित्सरितनिधनिमिमस्जिभ्य उः (उ० १, ७)'—इति उप्रत्ययो बाहुलकाद्णादपि भवति। संस्तब्धो दृढो भवति अनेन, संस्तभ्यन्तेऽनेन शत्रव इति वा। निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१६) च्यौत्नम्। 'च्युङ्गतौ (भू० आ०)'। अन्तर्णीतण्यर्थो वा। च्यवन्ति च्यावयन्ति शत्रूननेन राज्यात्। "प्रच्यौत्नेन मघवा सत्यराधाः (ऋ० सं० ८, १, ८, ६)"—इति निगमः ॥

(१७) सहः। 'षह मर्षणे (भू० आ०)' छन्दस्यभिभवार्थः। ... । सहत्यनेन शत्रून्। "ये सहांसि सहसा सहन्ते (ऋ० ५, १, ८, ४)"—इति निगमः ॥

(१८) वहः। व्याख्यातमुदकनामसु (१ अ० १२ ख० ४३)। प्राप्यते आहूयते वा अनेन शत्रुः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(१९) वधः। 'हन हिंसागत्योः (भ्वा० प०)। 'हनश्च वधः (३, ३, ७६)'—इत्यप्। हन्यतेऽनेन शत्रुः। निगमोऽन्वेषणीयः।

(२०) वर्गः (२१) वृजनं। (२२) वृक्। 'वृजी वर्जने (रु० प०)'। घञ्। 'कृपृवृजिमन्दिनिधाञ्भ्यः क्युः (उ० २, ७९)' 'क्विप् च (३, २, ७६)'। वर्ज्यन्तेऽनेन प्राणेः। "जरयन्ती वृजनं पद्वदीयते (ऋ० सं० १, ४, ३, ५)"—"प्रतीचीनं वृजनं दोहसे गिरा (ऋ० सं० ४, २, २३, १)"—इति च निगमौ॥ माधवस्तु—'मध्योदात्तस्तु वृजनं वर्तते बलयुद्धयोः। "वृजने न वृजिनान्त्सस्मिषेप (ऋ० सं० ३, २, १६, १)"—"त्वं शुष्णं वृजने पृक्ष आणौ (ऋ० सं० १, ५, ४, ३)"—"जरयन्ती वृजनं (ऋ० सं० १, ४, ३, ५)" 'तु वर्तते उपद्रवे'—इति। तदन्वेषणीयौ निगमौ॥

(२३) मज्मना। टु मस्जो शुद्धौ (तु० प०)'। औणादिको मनिन् (उ० ४, १४०)। 'झलां जश् झशि (८, ४, ५३)' जुत्वम्, तृतीयैकवचनम्। मज्जयति शत्रून्। "नाभा पृथिव्या भुवनस्य मज्मना (ऋ० सं० २, २, १२, ४)"—"स इन्महानि समिथानि मज्मना (ऋ० सं० १, ४, १६, ५)"—"वि रोदसी मज्मना बाधते शवः (ऋ० सं० १, ४, १०, ५)"—इति निगमः। निगमेषु तृतीयैकवचनान्तस्य प्रायशो दर्शनात् तदन्तः पठितः॥

(२४) पौंस्यानि। 'पुंसि अभिवर्द्धने (प०) चुरादिः। अन्न्यादयश्च (उ० ४, १०८)'—इति यत्प्रत्ययान्तेषु निपातितेषु द्रष्टव्यः।

"पौंस्यानि नियुतः सश्चुरिन्द्रम् (ऋ० सं० ४, ७, ८, ३)"—"यस्मिन् विश्वानि पौंस्या (ऋ० सं० १, १, १०, ४)"—"महत्तदस्य पौंस्यम् (ऋ० सं० १, ५, ३०, ५)"—इति निगमाः ॥

(२५) धर्णसि। 'धृञ् धारणे (भू० उ०)'। "सानसिवर्णसिपर्णसि (उ० ४, १०४)"—इत्यसिप्रत्ययो नुमागमोऽपि निपात्यते गुणः। ध्रियतेऽनेन राज्यादि। निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(२६) द्रविणम्। 'द्रु गतौ (भू० प०)'। 'द्रुदक्षिभ्यामिनन् (उ० २, ५२)'। "स नो ददातु द्रविणम्"—इति निगमः ॥

(२७) स्यन्द्रासः। 'स्यन्दि किञ्चिच्चलने (भू० आ०)' 'मन्दुरन्ध्रसिलिन्ध्रेभपुंड्रतीधशीध्रगोरेन्द्रामन्द्रस्यन्द्रकुलीरादयः' इ रन्प्रत्ययान्तो निपात्यते। तस्मात् असेरसुक् (७, १, ५०) स्यन्दतेऽनेन शत्रून्। निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(२८) शम्बरम्। व्याख्यातमुदकनामसु (१ अ० १२ ख० ७।) संध्रियतेऽनेन शत्रुः, संवृणोति वा तत्पत आपदम्। शमनमुपघाणामुत्कृष्टं च युद्धार्थौ, शम्येनेन्द्रेणादीयते वा। बलाधिदैवताहीन्द्रः। 'या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्मैव तत् (निरु० ७, १०)'—इति भाष्यम्। निगमोऽन्वेषणीयः ॥

इत्यष्टाविंशतिर्बलनामानि ॥९॥

मघम् (१)। रेक्णः (२)। रिक्थम् (३)। वेदः (४)। वरिवः (५)। श्वात्रम् (६)। रत्नम् (७)। रयिः (८)। क्षत्रम् (९)। भगः (१०)।

ोऽव्रहुम् (११)। गयः (१२)। द्युम्नम् (१३)।
न्द्रियम् (१४)। वसु (१५)। रायः (१६)।
ाधः (१७)। भोजनम् (१८)। तना (१९)।
ृम्णम् (२०)। बन्धुः (२१)। मेधा (२२)।
शः (२३)। ब्रह्म। (२४)। द्रविणम् (२५)।
वः (२६)। वृत्रम् (२७)। ऋतम् (२८)।
इत्यष्टाविंशतिरेव धननामानि ॥१०॥

(१) मघम्। मंहतिर्दानकर्मा (धा० ३, २०, १०)। 'घञर्थे विधानम् (३, ३, ५८ वा०)'—इत्यत्र परिगणितस्य प्रायिकत्वात् प्रत्यये पृषोदरादित्वात् लोपो हकारस्य घकारश्च। दीयतेऽर्थिभ्यः। "तेभिरिन्द्रं चोदय दातवे मघम् (ऋ० सं० ७, २, ३३, ५)" —"यदिन्द्र दक्षिणा मघोनी (ऋ० सं० २, ६, ६, ६)"—इति नैगमौ ॥

(२) रेक्णः। 'रिचिर् विरेचने (रु० उ०)'। 'रिचेर्धने घिच्च (उ० ४, १९४)'—इत्यसुन्, नुडागमो गुणश्च, घित्त्वात् 'चजोः कु घिण्ण्यतोः (७, ३, ५२)'—इति कुत्वम्। रेक्ण इति धननाम, रिच्यते प्रयतः (निरु० ३, २)'—इति भाष्यम्। रिच्यते अपतिष्ठते प्रयतः म्रियमाणस्य धनं धनिना सह न म्रियत इत्यर्थः। 'रेक्णो धनं रिचेः प्रेरणार्थात्'—इति माधवः। प्रेर्यतेऽनेन दत्तेन

भूम्यादिः कर्मानु। "स्पार्हं गयेश्वनः परमं यवौति तत् (ऋ० सं० १, २, ३५, ४)"—"परिवर्तं स्यात्स्य रेक्णः (ऋ० सं० ५, ५, १, २)"—इति च निगमौ॥

(३) रिक्णम्। रिचेः (रु० उ०) 'पातृतुदिवचिरिचिसिचिभ्यस्थक् (उ० २, ७)'—इति थक्। पूर्ववर्णः। "न अन्तो रिक्थम्नारैक् (ऋ० सं० ३, २, ५, २)"—इति निगमः।

(४) वेदः। 'विद्लृ लाभे (तुदा० प०)'। असुन्। विन्दतेर्, लभ्यते याऽनेन धर्मादिः। "होतारं विश्ववेदसम् (ऋ० सं० १, १, २२, १)"—इति निगमः॥

(५) वरिवः। वृञ् वरणे (स्वा० उ०) अस्माद् यङ्लुगन्तात् असुनि धातुत्मकादिलोपः। भृशं व्रियते, वरिवम्। हेतुत्वाद्वा वरिवः 'वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी। एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् (२, १३, ६)'—इति मनुः। "युधा देवेभ्यो वरिवश्चकर्थ (ऋ० सं० १, ४, २५, ५)"—"अंहो राजन् वरिवः पूरवे कः (ऋ० सं० १, ५, ५, २)'—इति निगमौ॥

(६) श्वात्रम्। आशुशब्द उपपदे 'अत सातत्यगमने (भ्वा० प०)'—इत्यस्मात् आदित्यश्चिदसि'—इति त्रन्प्रत्ययः, पृषोदरादित्वेन आशुशब्दश्च व्युत्पत्स्यते, यणादेशसवर्णदीर्घौ। आशु अतति आशु गच्छति, चञ्चलं हि धनम्। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(७) रत्नम्। 'रमु क्रीडायाम् (भ्वा० आ०)' 'रमेस्त च (उ० ३, १२)'—इति नप्रत्ययः तकारश्चान्तादेशः रमणीयं हि

रम्। 'रमतेऽस्मिन्'—इति क्षीरस्वामी। 'चित्ते रमस्व थ
मन्यमानः'—इति श्रुतिः। "धा रत्नं महि स्थूरं बृहन्तम् (ऋ
सं० ४, ६, ८, ५)"—होतारं रत्नधातमम् (ऋ० सं० १, १,
१)"—इति निगमौ ॥

(८) रयिः। व्याख्यातमुदकनामसु(१अ०१२ख० ७१)। गम
प्राप्यते पुण्येन गच्छत्यनेन तृप्तिं भोगसाधनत्वात्, यशो याऽ
दत्ते, दीयतेऽर्थिभ्य इति वा। "अग्निना रयिमश्नवत् (ऋ० स
१, १, १, ३)"—इति निगमः ॥

(९) क्षत्रम्। व्याख्यातमुदकनामसु (१अ० १२ख० ४५)। पु
जन्मसुकृतवशेन तद्धति स्थिरं भवति, गृहाते उपभोगसाधनत्वा
हिनस्ति दारिद्र्यम्। गतावपि शब्दवर्थः। क्षतात् पाप
त्रायते। क्षत्रशब्दात् त्रायतेश्च पृषोदरादित्वात् क्षत्रम्। धनै
पापं नरा निस्तरन्तीत्युच्यते। "न हि ते क्षत्रं न सहो न मन
(ऋ० सं० १, २, १, १)"—"सुक्षत्रासो रिशादसः (ऋ०
१, १, ३६, ५)"—इति च निगमौ ॥

(१०) भगः। 'भज सेवायाम् (भू० उ०)'। 'पुंसि सञ्ज्ञा
घः प्रायेण (३, ३, ११८)' 'चजोः कु घिण्यतोः (७, ३, ५२
भज्यते सेव्यते भोगार्थिभिः। यद्वा सेव्यतेऽनेन हेतुना तद्ध
भगशब्दः पुंलिङ्गो धनवचनः। "शिक्षास्तोतृभ्यो मातिधग्भगं
(ऋ० सं० २, ६, ६, ६)"—"यद्दित—स्तोमगः"—इति निगम

(११) मीळ्हुम्। 'मिह सेचने (भू० प०)'। क्तवचत्व
त्वढलोपदीर्घाः, व्यहकारभावश्च। सिच्यतेऽर्थिभ्यो दातृ

'सहस्रमीव्ह्वुषमशिवानमा इत्यत्र' भट्टभास्करमिश्रमाये
मीव्हुङ् इति धननाम'—इति दृश्यते। ततो निघण्ट्व उकारा
निगमदर्शनाभावात् अकारान्तनिगमदर्शनात् उकारान्ताकारान्तयु
योरपि स्वीकारोऽस्माकम्। "रुद्रस्य ये मीव्हुषः सन्ति पुत्रा
(ऋ० सं० ५, १, ७, ३)"—"तां आ रुद्रस्य मीव्हुषः (ऋ० सं०
५, ४, २८, ५)"—इत्यादौ निर्वाहकत्वात् "मीव्हुम्"—इति
पठितव्यमिति केचिदाहुः। अन्ये तु "मीव्हः"—इति सकारान्त-
मपि। तेषां मीव्हांसमिति निर्वाहः। उभयेषामपि "सहस्र
मीव्हहे (ऋ० सं० १, ७, ३४, ५)"—इत्यकारान्तस्य पाठोऽपे-
क्षणीयः। बहुम्यस्तु निर्णयः॥

(१२) गयः। व्याख्यातमपत्यनामसु (२अ० २ख० ८)। इहापि
तदर्थः। गीयते स्तूयते होतृभिः। "अपस्तदायुषेगयम् (ऋ० सं० १,
५, २१, २)"—इति निगमः॥

(१३) द्युम्नम्। 'द्युम्नसुम्ननिम्न'—इत्याविना 'द्युत दीप्तौ (भू०
आ०)'—इत्यस्मात् नप्रत्ययो मकारश्चान्तादेशो निपात्यते।
तेन तद्रुपात्। दीप्यते द्युम्नम्। 'द्यु अभिगमने (अदा० प०)
इति क्षीरस्वामी। अत्र धातोर्मगागमो निपात्यते। "द्युम्नं सह
सातमम् (ऋ० सं० १, १, १८, ३)"—"द्युम्नायाजेभिरागतम्।"—
इति च निगमौ॥

(१४) इन्द्रियम्। 'इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्र-
जुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा (५, २, ९३)'—इति घप्रत्ययान्तमत्तोदात्तं
निपात्यते। इन्द्रः—'इदि परमैश्वर्ये (भू० प०)' परमैश्वर्ययुक्त

ज्यते। इन्द्रस्य लिङ्गम्। घनेन हि ऐश्वर्य्ययुक्त इति ध्यज्यते। त्र षष्ठी, समर्थात्, लिङ्गार्थे घम्। यद्वा, इन्द्रेण दृष्टम् न्द्रियम्। यद्वा, इन्द्र आत्मा, तत्कृतेन शुभाशुभेन कर्मणा सृष्टम्। न्द्रजुष्टं घा, आत्मना सेवितम्, तद्द्वारेण भोगोत्पत्तेः। इन्द्र- त्तं वा, इन्द्रेण पूर्वकर्मणा वा अस्त्युपदत्तम्। सृष्टजुष्टदत्तार्थेषु तीयर समर्थात्। "दक्षिणं पादमवनेनिजेऽस्मिन्नाष्ट्र इन्द्रियं धामि (ऐ० ब्रा० ८, ५, ४)"—इति निगमः।

(१५) वसुः। वाजिनामसु "वस्ती"—इत्यत्र (६६ पृ०) व्याख्यातम्। वस्ते आच्छादयति तिरोभावयति दारिद्र्यम्। "अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिः (ऋ० सं० ८, १, ५, १)"—इति निगमः॥

(१६) रायः। 'रा दाने (अदा० प०)'। 'रातेर्डैः (उ० २, ६२)'। जस्। दीयतेऽर्थिभ्यः, तदेव प्राप्यते वा पूर्वकृतेन पुण्येन। "अनामृणः कुविदादस्य रायः (ऋ० सं० १, ३, १, १)" —इति निगमः॥

(१७) राधः। 'राध साध संसिद्धौ (स्वा० प०)'। असुन्। 'राध्नुवन्ति साध्नुवन्ति धर्मादीन् पुरुषार्थान्'—इति स्कन्दस्वामी। राध्यतेऽनेन धर्मादिरिति वा। राधिर्हि साधोऽपि। हिनस्ति दारिद्र्यम्। "राध इन्द्र वरेण्यम् (ऋ० सं० १, १, १७, ५)" —"राधस्तन्नो विदद्वसऽउभयहस्त्याभर (ऋ० सं० ४, २, १०, १)"—इति निगमौ॥

(१८) भोजनम्। 'भुज पालनाभ्यवहारयोः (रु० प०)'। ल्युट्, 'इत्यल्युटो बहुलम् (३, ३, ११३)'—इति। यद्वा, अभि-

भतार्थे भवति भुज्यते सद्भिः, भुंज्यन्तेऽनेन विषया इति पाल्यतेऽनेन वा। "शग्ध्यतामा भरा भोजनानि (ऋ० सं० ३, १८, ५)"—"मा नः प्रिया भोजनानि प्र मोषीः (ऋ० सं० १, ७, १६, ३)"—इति निगमौ ॥

(१६) तना। 'तनु विस्तारे (त० प०)'। पचाद्यच् (३, १, १३४)। तनोति विस्तारयति त्रिवर्गसाधनं हि धनम्। तृतीयैकवचनस्य 'सुपां सुलुक् (७, १, ३६)'—इत्याकारः। "विहृयन्ते तना गिरा (ऋ० सं० ६, ३, २५, १)"—"आ यो मधू तनाय कम् (ऋ० सं० १, ३, १६, २)"—इति निगमौ ॥

(२०) मृम्णम्। व्याख्यातं बलनामसु (२३२ पृ०)। मनति महीकरोत्यर्थिभ्यस्तदुपस्तु। "हस्ते दधानो नृम्णा विश्वानि (ऋ० सं० १, ५, ११, २)"—इति निगमः ॥

(२१) बन्धुः। 'बन्ध बन्धने (क्र्या० प०)'। "शृस्वृस्निहित्रप्यसिवसिहनिक्लिदिबन्धिमनिभ्यश्च'—इति उप्रत्ययः। बध्नात्यनेन भृत्यादीन्। यद्वा, बन्धुरिव बन्धुः। "अबन्धुना शुभवसोपजग्मुषः (ऋ० सं० १, ४, १६, ४)"—इति निगमः ॥

(२२) मेधा। 'मिधृ मेधृ सङ्गमे च (भ्वा० उ०)' चकारात् हिंसामेधयोश्च। 'मिधिः सङ्गत्यर्थः'—इति माधवः। घञ्। सङ्गच्छतेऽनेन सर्वं तदुपता, हिंस्यते वा तदुपात् चौरादिभिः 'हन्ति पर्यावकारणात्'—इति महाभारतम्। यद्वा, असौ धीयते सर्वैरितव्यं रक्षितव्यं दातव्यमिति धनवता बुद्धौ धनं धार्यते। अत्र मनिरान्त उपपदे धातोः 'घमर्थे कविधानम् (३, ३ ५८ वा०)'

—:।

—इति कः, पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०९) मतिशब्दस्य मेभावः। "मेधाकारं विदथस्य प्रसाधनम् (ऋ० सं० ८, ४, २१, ३)"—इति निगमः॥

(२३) यशः। व्याख्यातमन्ननामसु (२२७ पृ०)। "उत स्या मे यशसाश्वेतनायै (ऋ० सं० २, १, १, ४)"—इति निगमः॥

(२४) ब्रह्म। व्याख्यातमन्ननामसु (२२८ पृ०)। परिवृढो-ऽनेन धर्मादयः, बृंहकं वा भोगानाम्। "अस्माकं ब्रह्म पृतनासु सह्याः (ऋ० सं० २, २, २२, ७)"—इति निगमः॥

(२५) द्रविणम्। व्याख्यातं धननामसु (२३६ पृ०)। रयिवदर्थः। "त आ यजन्त द्रविणं समस्मै"—इति निगमः॥

(२६) श्रवः। व्याख्यातमन्ननामसु (२२१ पृ०)। "अस्मे पृथुश्रवो बृहत् (ऋ० सं० १, १, १८, २)"—"बृहच्छ्रवा असुरो बर्हणाकृतः (ऋ० सं० १, ४, १७, ५)—इति निगमौ॥

(२७) वृत्रम्। व्याख्यातं मेघनामसु (९० पृ०)। आच्छादयति दारिद्र्यम्, आच्छाद्यते वा राजतः करादिभयात्। गत्यर्थे रयिवदर्थः। वृद्धौ महद्वदर्थः। "वृत्रं पुरुकुत्साय रन्धीः (ऋ० सं० २, ४, १६, २)"—इति निगमः। अत्र स्कन्दस्वामिना 'वृत्रं धननाम'—इति व्याख्यातत्वात् केषुचित् कोशेषु दृश्यमानमपि "वित्तम्"—इति न पठनीयम्॥

(२८) ऋतम्। 'वृङ् सम्भक्तौ (क्रया० प०)'। 'दुतनिभ्यां दीर्घश्च वा (उ० ३, ८७)'—इति चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात्

चप्रत्ययः। सम्भज्यते सर्वैः।' "घृतश्चयः सद्गुरिविश्वा ( ऋ० सं० २, ६, २७, ३ )"—इति निगमः॥

इत्यष्टाविंशतिरेव धननामानि ॥ १० ॥

अघ्न्या (१)। उस्रा (२)। उस्रिया (३)। अही (४) मही (५)। अदितिः (६)। इला (७)। जगती (८)। शक्करी (९)। इति नव गो (मातृ) नामानि ॥११॥

अघ्न्या। 'अहन्तव्या भवतीत्यघघ्नीति वा ( निरु० ११, ४३ )'—इति भाष्यम्। अघस्य दुर्भिक्षादेर्हन्त्री वा अहन्तव्या। अघ शब्दे नञि वा उपपदे हन्तेः 'अघ्न्यादयश्च ( उ० ४, १०८)'—इति यत्प्रत्ययान्तं निपात्यते। "नहि मे अस्त्यघ्न्या ( ऋ० सं० ६, ७, १२, ४ )"—"अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं ( ऋ० सं० २, ३, २१, ५ )"—इति निगमौ॥

(२) उस्रा। व्याख्यातं रश्मिनामसु ( १५५ पृ० )। वसति क्षीरादि हविरस्याम्। 'उस्रियेति गोनामोत्स्राविणोऽस्यां भोगा उस्रेति च'—इति ( निरु० ४, १९ ) भाष्यम्। 'उत्स्राविणोऽस्यां भोगास्ते उद्धृर्ध्वं स्रवन्ति गच्छन्ति क्षीरदधिनवनीतक्रमेण'—इति स्कन्दस्वामी। "मयोभूर्वातो अभिवातूस्राः ( ऋ० सं० ८, ८, २७, १ )"—"उस्राः पिनेव जारयाव्य वर्णैः ( ऋ० सं० ४, ५, १४, ४ )"—इति च निगमौ॥

(३) उस्रिया। उस्रशब्दात् पृषोदरादित्वेन स्वार्थे घः। अर्थः पूर्ववत् "अविद् उस्रिया अनु (ऋ० सं० १, १, ११, ५)"—"समुस्रियाभिर्वावशन्त नरः (ऋ० सं० १, ५, १, ३)"—इति च निगमौ॥

(४) मही। अहिशब्दो व्याख्यातो मेघनामसु (८७ पृ०)। 'कृदिकारात् :(४, १, ४५ वा०)'—इति ङीप्। गम्यतेऽनया क्षीरादिहविः, गम्यते दृश्या पुण्यम्, अंहति श्रृङ्गादिना मनुष्यान्, न हन्तव्या वा। निगमोऽप्येवम्वर्णीयः। "ईळेन्यासो अह्यो ३ नचारवः (ऋ० सं० ७, ३, २, ३)"—इति भाष्यं द्रष्टव्यम्॥

(५) मही, (६) अदितिः, (७) इळा। व्याख्यातानि पृथिवीनामसु (१४ पृ०, ३२ पृ०, ३३ पृ०)। तत्र द्यतेः क्तिनि, 'द्यतिस्यति (४, ७, ४०)'—इतीत्वे दितिः, नञ्समासः। इत्यदितिशब्दस्य व्युत्पत्तिः। महाते पूज्यते सर्वदेवतात्मकत्वात् उपभोगसाधनत्वाद्वा। मह्यन्तेऽनया देवाः यत् आर्धानां हविषां तदायत्तत्वात्। "देवाश्च याभिर्यजते ददाति च"—इति श्रुतिः। पुनः पुनः दुह्यमानापि न क्षीयते। न द्यति, असण्डकर्मायां वा। ईड्यते स्तूयते देवतात्वात् ईप्यते वा वारतया। गम्यते सद्भिरिरिति वा। "महीनां पयोऽसि (य० वा० सं० ४, ३)"—इति, "अदित एहि सरस्वत्येहि (य० वा० सं० ३८, २)"—इति, "मिमिक्ष्या समिळामिरा (ऋ० सं० १, ५, ५, ६)"—"इडे रन्ते हव्ये काम्ये (य० वा० सं० ८, ४३)"—इति च निगमाः॥

(८) जगती। मनुष्यनामसु "जगतः"—इत्यत्र व्याख्यात (२०० पृ०)। गम्। 'जगिगम् (४, १, ६)'—इति ... गमने मनुर्गतिः। जगत्या छन्दसा सादृश्यात् ... पयोऽभेदेन वा जगती। "जागता हि पशवो जगती हि ... हरम्"—इति हि ब्राह्मणम्। "जागताः पशवः (ऐ० ब्रा० ४, १, ३)"—इति च। "तमोऽपयोऽत्मेन स रैयनोर्जगतीमि"—इति निगमः॥

(९) शक्वरी। व्याख्यातं धातुनामसु (२०७ पृ०)। शक्नोति क्षीरादिप्रदानेन तद्वन्तं प्रीणयितुं स्पर्शनेन वा पावयितुं शक्वरीशब्दसम्बन्धादभेदेन वा शक्वरी। "पशवो वै शक्वर्यः पशू वापरुध्यते"—इति श्रुतिः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

इति नव गो (मातृ) नामानि॥ ११॥

रेळते (१)। हेळते (२)। भामते (३)। हृणीयते (४)। श्रीणाति (५)। श्रेपति (६)। दोधति (७)। वनुष्यति (८)। कम्पते (९)। भोजते(१०)। इति दश क्रुध्यतिकर्माणः॥१२॥

(१) रेळते। अयं नैरुक्तो धातुः। "अरेळता मनसा देवान् ... पतेत्"—इति निगमः॥

(२) हेळते। हेड् अनादरे क्रोधे च भ्वादिरात्मनेपदी। "अहेळमानोररिवाँ अजाश्व (ऋ० सं० २, २, २, ४)"—

"अहेलमानो वरुणेह बोधि ( ऋ० सं० १, २, १५, १ )"—इति निगमौ ॥

(३) भामते । 'भाम क्रोधे' भ्वादिरात्मनेपदी । "देव जुष्टोच्यते भामिनेगोः ( ऋ० सं० १, ५, २५, १ )—"स्वयम्भू-र्भामो अभिमातिषाहः ( ऋ० सं० ८, ३, १८, ४ )"—इति निगमौ ॥

(४) हृणीयते । 'हृणीङ् रोषे वैमनस्ये च' कण्ड्वादिः । "पुनः प्रायच्छदहृणीयमानः ( ऋ० सं० ८, ६, ७, २ )"—हृणीय-मानो अप हिमद्वेषः ( ऋ० सं० ३, ८, १५, २ )"—इति निगमौ ॥

(५) प्रीणाति । 'प्री भये' क्र्यादिः परस्मैपदी । अनेका-र्थत्वात् क्रुध्यतिकर्मा । एवमुत्तरत्रापि । "यतः कृण्वन्तमसुरं प्रीणन्ति ( ऋ० सं० २, ७, १०, २ )"—इति निगमः ॥

(६) भ्रेषति । 'भ्रेषु चलने' भ्वादिः स्वरितेत् । निगमोऽ-न्वेषणीयः ॥

(७) दोधति । भैक्लो धातुः । "इन्द्रो वृत्रस्य दोधतः ( ऋ० सं० १, ५, २१, ५ )"—इति निगमः ॥

(८) वनुष्यति । 'वनुष्यतिर्हन्तिकर्मा ( निरु० ५, २ )'—इत्यत्र स्कन्दस्वामी—'वनोतेः कण्ड्वादिप्रक्षेपात् यक्प्रत्ययः,तत्स-न्नियोगेन च वनुभावो द्रष्टव्यः'—इति । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(९) कम्पते । 'कपि चलने' भ्वादिरात्मनेपदी । निगमो-ऽन्वेषणीयः ॥

(१०) भोजते । 'भुज कौटिल्ये' तुदादिः परस्मैपदी। 'छन्दस्युभयथा (३, ४, ११७)'—इत्यार्धधातुकत्वात् गुणः। व्यत्ययेनात्मनेपदम्। निगमोऽन्वेषणीयः ॥

इति दश क्रुध्यतिकर्माणः ॥ १२ ॥

हेलः (१)। हरः (२)। घृणिः (३)। त्यजः (४)। भामः (५)। राहः (६)। ह्वरः (७)। तपुषी (८)। जूर्णिः (९)। मन्युः (१०)। व्यथिः (११)। इत्येकादश क्रोधनामानि॥१३॥

(१) हेलः। हेलतेः भावे असुन्। "देवस्य हेलोऽवयासिसीष्ठाः (ऋ० सं० ३, ४, १२, ४)"—इति निगमः ॥

(२) हरः। 'हृञ् हरणे (भू० उ०)' असुन्। हरति ह्रया-एत्यविवेकं, ह्रियते वाऽनेन पुरुषः स्ववशम्, दुर्जयोऽन्तरः शत्रुः क्रोधः। निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(३) घृणिः। ज्वलन्नामसु व्याख्यातम् (१०६ पृ०)। क्षरत्यनेन स्वेदादिः, दीप्यतेऽनेन वा, क्रुद्धोऽग्निरिव ज्वलति हि प्रसिद्धः। "आघृणे संसचावहै (ऋ० सं० ४, ८, २१, १)—इति निगमः। 'मा हृणानस्य (ऋ० सं० १, २, १६, २)—स्य गाम्'—हृणिरिति क्रोधनामसु पाठात् हरति क्रोधार्थोऽपि त्यते'—इति स्कन्दस्वामी, तत् कथमिति विचिन्त्यम् ॥

(४) त्यजः। 'त्यज हानौ (भ्वा० प०)'। असुन्। त्यज्यते सत्पुरुषैः, त्यज्यन्तेऽनेन प्राणा इति वा, त्यज्यते वा स्वधर्मः। क्रुद्धः पापं किन्न कुर्यात् क्रुद्धो हन्यात् गुरूनपि। क्रुद्धः परुषया वाचा नरः साधूनपि क्षिपेत्"—इति हि महाभारतम्। 'महश्चिदसि त्यजसो वरूता (ऋ० सं० २, ४, ८, १)"—"किं येषु त्यज एनश्चकर्थ (ऋ० सं० ८, ३, १४, ६)"—इति निगमौ।

(५) भामः। भामतेर्भावे घञ्। यद्वा 'भा दीप्तौ (अदा० प०)'। 'अर्त्तिस्तुसुहुसृधृक्षिक्षुभायावापदियक्षिनीभ्यो मन् (उ० १, १३७)'—इति मन्। दीप्यते तेन तद्वान्। "देवत्तप्रोच्यते भामिने गीः (ऋ० सं० १, ५, २५, १)"—"स्वयम्भूर्भामो अभिमातिषाहः (ऋ० सं० ८, ३, १८, ४)"—इति निगमौ॥

(६) एहः। 'हन हिंसागत्योः (अदा० प०)' असुन्। 'नभि हन एह च (उ०४, २१८),—इति नञ्युपपदे विधीयमान एहादेशो बाहुलकात् नञ्विनापि भवति। "अनेहसस्ते हरिवो अभिष्टौ (ऋ० सं० ८, १, ३०, २)"—इति निगमः॥

(७) ह्वरः। 'ह्वृ कौटिल्ये (भ्वा० प०)' असिकर्मा च। असुन्। ह्वरति कुटिलो भवत्यनेन अस्ति वा।

(८) तपुषी।

(९) जूर्णिः। जूर्णिर्जवतेर्वा द्रवतेर्वा जीर्यतेर्वा'—इति भाष्यम् (निरु० ६, ४,)। गच्छत्यनेन दुःखं, लोकगर्हां वा हिनस्ति परान् वा। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(१०) मन्युः। 'मन ज्ञाने (दिवा० आ०)'। "यजि-
मनिशुन्धिदसिजनिभ्यो युच् (उ० ३, १८)"—इति यु-
धातुस्फायनादेर्गणाभाव। मायते क्रोधरूपेण। यद्वा, मन्य-
दीप्तिकर्मणो युच्। "दीप्यतेऽनेन सजान। म हि ते सर्व-
सहो ॥ मन्युम्। (ऋ० मं० १, २, १४, १)"—"अ-
हृणानस्य मन्यवः (ऋ० मं० १, २, ११, २)"—इति
निगमौ ॥

(११) व्यथिः। 'व्यथ भयसञ्चलनयोः (भ्वा० आ०)'। "अत
सर्वधातुभ्यः (उ० ४, ११४)"—इति इन्। बिभेत्यस्मात् सञ्च-
लति प्राणेन व्यथमानः। "पतत्रिभिरश्रमैरव्यथिभिः (ऋ० १,
५, ५, १६, ७)"—"अग्ने माकिष्टे व्यथिरा दधर्षीत् (ऋ० ३,
३, ४, २३, ३)"—इति च निगमौ ॥

इत्येकादश क्रोधनामानि ॥ ११ ॥

वर्तते (१)। अयते (२)। लोटते (३)।
लोठते (४)। स्यन्दते (५)। कसति (६)।
सर्पति (७)। स्यमति (८)। स्रवति (९)।
स्रंसति(१०)। अवति (११)। श्चोतति (१२)।
ध्वंसति (१३)। वेनति (१४)। मार्ष्टि (१५)।
भुरण्यति (१६)। शवति(१७)। कालयति(१८)।

पेलयति (१९)। कण्टति (२०)। पिस्यति (२१)।
विस्यति (२२)। मिस्यति (२३)। प्रवते (२४)।
प्लवते (२५)। च्यवते (२६)। कवते (२७)।
गवते (२८)। नवते (२९)। क्षोदति (३०)।
नक्षति (३१)। सक्षति (३२)। म्यक्षति (३३)।
सचति (३४)। ऋच्छति (३५)। तुरीयति (३६)।
चतति (३७)। अतति (३८)। गाति (३९)।
इयक्षति (४०)। सश्चति (४१)। त्सरति (४२)।
रंहति (४३)। यतते (४४)। भ्रमति (४५)।
ध्रजति (४६)। रजति (४७)। लजति (४८)।
क्षियति (४९)। धमति (५०)। मिनाति (५१)।
ऋण्वति (५२)। ऋणोति (५३)। स्वरति (५४)।
सिसर्ति (५५)। विपिष्टि (५६)। योपिष्टि (५७)।
रिणाति (५८)। रीयते (५९)। 'रेजति (६०)।
दघ्यति (६१)। दभ्नोति (६२)। युध्यति (६३)।
धन्वति (६४)। अरुयति (६५)। आर्य्यति (६६)।

सीयते (६७) । तकति (६८) । दीयति (६९)
ईपति (७०) । फणति (७१) । हनति (७२)।
अर्दति (७३) ! मर्दति (७४) । सर्त्ते (७५)।
नसते (७६) । हर्य्यति (७७) । इयर्त्ति (७८)।
इर्त्ते (७९) । ईङ्खते (८०) । जयति (८१)।
श्वात्रति(८२)। गन्ति(८३)।आगनीगन्ति(८४)।
जङ्घन्ति (८ ) । जिन्वति (८६) । जसति(८७)
गमति (८८) । ध्रति (८९) । ध्राति (९०)
ध्रयति (९१) । वहते (९२) । रथर्यति (९३)।
जेहते (९४)। ष्वःकति (९५) । क्षम्पति (९६)।
प्साति (९७) । वाति (९८) । याति (९९)।
इषति (१००)। द्राति (१०१)। द्रूलति (१०२)।
एजति (१०३)। जमति (१०४)। जवति
(१०५) । वञ्चति (१०६) । अनिति (१०७)।
पवते (१०८) । हन्ति (१०९) । सेधति (११०)।
अगन् (१११) । अजगन् (११२) । जिगाति

(११३)। पतति (११४)। इन्वति (११५)। द्रमति (११६)। द्रवति (११७)। वेति (११८)। हन्तात् (११९)। एति (१२०)। जगायात् (१२१)। अयथुः (१२२) इति द्वाविंशशतं गतिकर्माणः ॥

अत्र वर्त्तते इत्यादीनां गत्यर्थानां गतिकर्मकत्वं स्कन्दस्वामिना प्रतिपादितम्। अनेकार्थत्वाद्वा गतिकर्मत्वम्। पथ्यप्रदर्शितनिगमानां निगमा अन्वेषणीयाः। अनुक्तविकरणानां भ्वादित्वं ज्ञेयम्, अनुक्तौ परस्मैपदित्वञ्च ॥

(१) वर्त्तते। 'वृतु वर्त्तने (भू०)' आत्मनेपदी ॥

(२) अयते। (३) लोटते। (४) लोठते ॥

(५) स्यन्दते। 'स्यन्दू प्रस्रवणे (भू०)'। आत्मनेपदी। "स्यन्दन्तां कुल्या विषिताः पुरस्तात् ( ऋ० सं० ४, ४, २८, ३ )" —इति निगमः ॥

(६) कसति। 'कस गतौ ( अदा० प० )'।

(७) सर्पति। 'सृप्लृ गतौ (भू० प०)'। "नमो अस्तु सर्पेभ्यः" —"अहिर्न जूर्णामति सर्पति त्वचम् ( ऋ० सं० ७, ३, २०, ४ )" —इति निगमौ ॥

(८) स्यमति।

(९) स्रघति। 'स्रु गतौ ( भू० प० )'। "अवस्रवेदघशंसो ( ऋ० सं० २, १, १७, १ )"—इति निगमः ॥

(१०) भ्रमते। 'भ्रमु अनवस्थाने (भू०)' भ्वादिः। "आनेन जागमनि स प्र सर्गे त (ऋ० सं० २, ७, ४, १)"—इति निगमः। 'भ्रमतिगत्यर्थः'—इति हरदत्तः॥

(११) धपति। 'धप रक्षणगत्यादौ (भू० प०)' "धापीः पुरुहन्त धमन्तीः (ऋ० सं० ३, २, २, ५)"—"धेदनिष्टं धापति (ऋ० सं० ६, ५, २६, ४)"—इति निगमौ।

(१२) श्चोतति। 'श्चुतिर् क्षरणे (भू० प०)'। "श्चोतन्ति ते यतो स्तोकाः (ऋ० सं० ३, १, २१, ५)"—इति निगमः॥

(१३) ध्वंसति।

(१४) वेनति। नैरुक्तधातुः। "आ प्र द्रव हरिवो मा वेनः (ऋ० सं० ४, १, २६, २)"—"नासत्या मा वि वेनः (ऋ० सं० ४, ४, १६, २)"—इति निगमौ॥

(१५) मार्ष्टि। 'मृज शुद्धौ' अदादिः। "मृगो न भीम (ऋ० सं० २, २, २४, २)"—"उ रायन्तरिक्षे मर्जयन्त (ऋ० सं० ५, ४, ६, ३)"—इति निगमौ॥

(१६) भुरण्यति। 'भुरण धारणपोषणयोः' कण्ड्वादिः। "भुरण्यन्तु जनाँ अनु (ऋ० सं० १, ४, ८, १)"—"शुचिर्वो स्तोमो भुरणावजीगः (ऋ० सं० ७, ७, २२, १)"—इति च निगमौ॥

(१७) शवति। 'शव गतौ'। 'शु गतौ—इति स्कन्दस्वामी, "मा भेम शवसस्पते (ऋ० सं० १, १, २१, २)"—इति ॥

(१८) कालयति। 'कल क्षेपे' चुरादिरदन्तः। व्यत्ययेन स्थानिवद्भावाद्वृद्धिः। "तं काले काल आगते यते"—इति निगमः। 'कालः कालयतेर्गतिकर्मणः (निरु० २, २५)'—इति यास्कः॥

(१९) पेलयति। 'पेल फेल शेल गतौ (भू० प०)'। "वयांसि इव गन्धेन पिपीलिकाः प्रसाद्"—इति निगमः। 'पिपीलिका पेलतेर्गतिकर्मणः (निरु० ७, १३)'—इति यास्कः॥

(२०) कण्टति। 'कटि गतौ (भू० प०)'। "यातुधानेभ्यः कण्टकीकारीम् (य० वा० स० ३०, ८)"—इति निगमः। 'कण्टकः कन्तपो वा कृन्ततेर्वा कण्टतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः इति निरुक्तम् (१, ३२)'। 'कण्टति पश्यति परान्'—इति स्कन्दस्वामी॥

(२१) पिस्यति। 'पिस पेस गतौ (भू० प०)'। व्यत्ययेन श्यन्॥

(२२) विस्यति। (२३) मिस्यति। 'विस प्रेरणे' 'मसी परिमाणे' दिवादिः। मिस्यतीतीकारश्छान्दसः। "इयं शुष्मे-भिर्बिसखा इवारुजत् (ऋ० सं० ४, ८, ३० २)"—इति निगमः। अत्र 'विस्यतिर्गतिकर्मसु पठ्यते'—इति स्कन्दस्वामी। ऋग्भाष्ये —विस्यति मिस्यति इमौ गैरुकधातू॥

(२४) प्रवते। (२५) प्लवते। (२६) च्यवते। 'च्युङ् ज्युङ् प्रुङ् प्लुङ् रुङ् क्लुङ् गतौ (भू० आ०)'। अभि प्रवन्त समनेव योषाः (ऋ० सं० ३, ८, ११, ३)"—"तिस्रः पृथिवीरुपरि प्रवा दिवः (ऋ० सं० १, ३, ५, २)"—इति निगमौ॥

(२७) धगने। 'धुङ् गतिरेषणयोः (भू० आ०)'। "गयारं धरुणः कवन्धम् (ऋ० सं० ४, ४, ३०, ३)" — इति निगमः। 'कयनेर्गतिकर्मणः कवन्धमुदकम्' — इति स्कन्दस्वामी॥

(२८) गयने।

(२९) नयने। 'णु स्तुतौ' अदादिः (प०)। 'बहुलं छन्दसि (२, ४, ७६)' — इति शपो लुगभावः, आत्मनेपदं व्यत्ययेन। 'प्रधंनव उद्मुतो नवन्त (ऋ० सं० ५, ४, ६, १)' — इति निगमः॥

(३०) क्षोदति। 'क्षुदिर् सम्प्रेषणे' रुधादिः, स्वरितेत्, व्यत्ययेन शप्। "क्षोदन्त आपो रिणते वनानि (ऋ० सं० ३, २३, ६)" — इति निगमः॥

(३१) नक्षति। 'नक्ष गतौ (भू० प०)'। "शाकच्युतोऽपि मंक्षत धाम् (ऋ० सं० १, ३, ३, ४)" — इति निगमः॥

(३२) सक्षति। 'षच समवाये' स्वरितेत् (भू०)। 'सिप् बहुलं लेटि (३, १, ३४)' 'लेटोऽडाटौ (३, ४, ९४)'। नैरुक्तधातुर्वा। "सक्ष्यान्त्रेव प्र वावृतुः (ऋ० सं० १, ३, २४, १)" — इति स्कन्दस्वामी॥

(३३) म्यक्षति। म्यक्षेर्गतिकर्मणो रूपम्' — इति स्कन्दस्वामी॥

(३४) सचति। सच समवाये (भू० उ०)'। "अच्छिद्रपत्राः सचन्ताम् (ऋ० सं० १, २, ६, १)" — "अग्नि' विश्वा अभि पृक्षः सचन्ते (ऋ० सं० १, ५, १६, २)" — इति

निगमौ। 'सचत्यृच्छतीति गतिकर्मसु पाठात्'—इति स्कन्दस्वामी॥

(३५) ऋच्छति। 'ऋ गतिप्रापणयोः (भ्वा० प०)'। 'पाघ्राध्मा (७, ३, ७८)'—इत्यादिसूत्रेण ऋच्छादेशः। "यावा स्तेनं शरव ऋच्छन्तु (ऋ० सं० ८, ४, ७, ५)'—इति निगमः॥

(३६) तुरीयति। नैरुक्तधातुः॥

(३७) यतति। 'यते याचने' स्वरितेत्। "दूराद्दूरमचीयतम्"—इति निगमः। 'यततिर्गत्यर्थे च'—इति भट्टभास्करमिश्रः॥

(३८) अतति। 'अत सातत्यगमने'। "अयमु ते समतसि (ऋ० सं० १, २, २८, ४)"—इति निगमः॥

(३९) गाति। 'गाङ्गतौ (अदा० आ०)'। व्यत्ययेन परस्मैपदी। "निर्गात्—पूतेव स्वधितिः शुचिर्गात् (ऋ० सं० ५, २, ४, ४)"—इति निगमः॥

(४०) इयक्षति। 'यज पूजायाम्' तुदादिरात्मनेपदी। व्यत्ययेन परस्मैपदम्। 'छन्दस्युभयथा (३, ४, ११७)'—इति हि आर्द्धधातुकत्वात् णिलोपः। यजेः सनि वा रूपम्, अभ्यासस्य सम्प्रसारणं व्यत्ययेन। "कथिमियक्षसि प्रयज्यः (ऋ० सं० ४, ८, ५, ४)"—इति निगमः। 'गतिकर्मा'—इति हरदत्तः॥

(४१) सश्चति। सचतेरेव छान्दसः शकार उपजनः। "असश्चन्ती भूरिधारे पयस्वती (ऋ० सं० ५, १, १४, २)"—

अदजीविण वृषणं सश्चतः श्रिये (ऋ० सं० १, ५, ८, ३)"—
निगमौ ॥

(४२) त्सरति। 'त्सर छद्मगतौ (भू० प०)'। "अ
त्सरन्ति धेनुभिः (ऋ० सं० ५, ७, १८, १)"—अवत्सा
त्स्वृयात्यश्चिकित्वान् (ऋ० सं० १, ५, १५, ५)"—
निगमौ ॥

(४३) रंहति। रहि गतौ (भू० प०)'। "सहस्रसाः शतसा
अस्य रंहिः (ऋ० सं० ८, ८, ३६, ३)"—"पुरोहरिभ्यां वृषभो
रथो हितः (ऋ० सं० १, ४, १७, ३)"—इति निगमौ। 'रथो
रंहतेर्गतिकर्मणः (निरु० ६, ११)'—इति भाष्यम् ॥

(४४) यतते। 'यती प्रयत्ने' आत्मनेपदम् (भू०)। "इ
इव श्रेणिशो यतन्ते (ऋ० सं० २, ३, १२, ५)"—"मित्रं
यातयज्जनम् (ऋ० सं० ६, ७, ११, २)"—इति निगमौ ॥

(४५) भ्रमति। 'भ्रमु चलने (भू० प०)'। "भ्रमिरस्यग्नि
इन्मर्त्यानाम्"—इति निगमः ॥

(४६) भ्रजति। 'भ्रज भ्रजि गतौ' (भू० प०) "भ्राजिरेतस्य
ददृशे न रूपम् (ऋ० सं० २, ३, २२, ४)"—"अद्भिर्भ्रजति रव
भर्त्रमान् (ऋ० सं० १, ५, २७, १)"—इति निगमौ ॥

(४७) रजति। (४८) लजति। (४९) लियति ॥

(५०) धमति। धमिः रतौत्रः'—इति स्कन्दस्वामी। धम,
'ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः (भू० प०)'। 'पाघ्राध्मास्था (७, ३,
७८)'—इत्यादिना धमादेशः। "प्रायन्वार्णाः पुरुहूतं धमन्तो

(ऋ० सं० ३, २, २, ५)"—निरपीमदृग्धो घमथो निरधस्यान (ऋ० सं० ४, १, ३०, ४)"—इति निगमौ ॥

(५१) मिनाति। 'मीञ् हिंसायाम्'। मीनातेर्निगमे (७, ३, ८१)'—इति ह्रस्वः। "मिनोति"—इति पाठान्तरम्। तत्र 'डु मिञ् क्षेपणे' स्वादिः। "समचक्रं रथमविध्यमिन्वम् (ऋ० सं० २, ८, ६, ३)"—इति निगमः। 'मीनातेरेतद्रूपम्, सर्वेणापि लोके आधगन्तुमशक्यम्'—इति हरदत्तः ॥

(५२) ऋण्वति। 'ऋवि रवि गतौ (मू० ५०)'। 'इदितोनुम् धातोः (७, १, ५८)' 'रवेर्मतौ बहुलम् (६, १, ३४ वा०)'—इति बहुलवचनात् सम्प्रसारणम्। "व्यनुषग् यार्या देव ऋण्वति (ऋ० सं० १, ४, २३, ३)"—इति निगमः। 'ऋण्वतिर्गतिकर्मा, अन्तर्णीतण्यर्थः। विविधं गमयति—इति स्कन्दस्वामिभाष्यम् ॥

(५३) ऋणोति। 'ऋण गतौ' तनादिः स्वरितेत्। सम्प्रा-पूर्वको विधिरनित्यः—इति लघूपधगुणाभावः। "अभिकृष्णेन रजसा द्यामृणोति (ऋ० सं० १, ३, ७, ४)" "ऋणो रपो अन-यद्यामिः (ऋ० सं० २, ४, १६, २)"—इति निगमौ। उभयोरपि 'ऋणोतिर्गतिकर्मा'—इति स्कन्दस्वामिभाष्यम् ॥

(५४) स्वरति 'स्वृ शब्दोपतापयोः'। "हरी इन्द्र प्रतद्वसू अभिस्वर (ऋ० सं० ६, १, १२, २)"—इति निगमः ॥ अत्र 'गतिकर्मा'—इत्युक्तं स्कन्दस्वामिना। "अनिमेषं विदथाभि स्वरन्ति (ऋ० सं० २, ३, १८, १)" इत्यादौ 'गतिकर्मस्वपठितोऽपि गत्यर्थः' इत्युक्तम् ॥

(५५) सिसर्त्ति। 'सृ गतौ' जुहोत्यादिः। ..
परयोश्च (७, ४, ७७)' 'बहुलं छन्दसि (७, ४, ७८)'—इति अभ्
सस्येत्वम्। "प्र याहवा सिसृतं जीवसे न' (ऋ० सं० ५, ५,
५)"—इति निगमः।

(५६) विविष्टि। 'विपॢ व्याप्तौ' जुहोत्यादिः (उ०)। लेटि
'सिब्बहुलं लेटि (३, १, ३४)'। "अग्ने संयेविपोरयिम् (ऋ० सं०
६, ५, २६, १)"—इति निगमः। 'समन्तात् प्रापय'—इति भट्ट
भास्करमिश्रः।

(५७) योयिष्टि। 'युप हिंसायाम् (मू० प०)'। लेटि सिपि
व्यत्ययेन गुणः॥

(५८) रिणाति। 'री गतिरेषणयोः' क्र्यादिः सादिश्च।
"अघायमाणो निरिणाति शत्रून् (ऋ० सं० १, ४, २१ ३)"—
"लोपामुद्रा वृषणं नीरिणाति (ऋ० सं० २, ४, २२, ४)"—इति
निगमौ॥

(५९) रीयते। 'रीङ् श्रवणे' दिवादिः। "प्र तु तिर्न ॥
रीयते (ऋ० सं० १, २, २८, २)"—इति निगमः। 'रीयते रेजतीति
गतिकर्मसु पाठात् गत्यर्थः'—इति स्कन्दस्वामिभाष्यम्॥

(६०) रेजति। नैरुक्तधातुः। "द्यावो भय इयान् मन्म रेजति
(ऋ० सं० २, १, १७, १)"—'चलति गच्छतीत्यर्थः'—इति
स्कन्दस्वामी॥

(६१) दृप्यति। 'दृप पाल्ने' स्वादिः। व्यत्ययेन श्यन्। "तथा-
॥ यो मघस्य धाता (ऋ० सं० २, ८, ४, ५)"—इति च निगमः॥

(६२) दम्नोति। 'दम्भु दम्भे' स्वादिः॥

(६३) युध्यति। 'युध सम्प्रहारे' दिवादिरात्मनेपदी, व्यत्ययेन परस्मैपदी॥

(६४) धन्वति। 'रिवि रवि धवि गत्यर्थाः (मू० प०)'। "परि सोम प्रधन्वा स्वस्तये (ऋ० सं० ७, २, ३३, ५)"—"न यस्य द्यावापृथिवी न धन्व (ऋ० सं० ८, ४, १५, १)"—इति निगमौ॥

(६५) अरुपति। नैरुक्तधातुः। "वि धूममग्ने अरुषं मियेध्य (ऋ० सं० १, ३, ६, ■)"—स्वसारः श्यावी मरुषीमजुषन् (ऋ० सं० १, ५, १५, १)"—"प्रतीची चक्षुरुर्विरजानन् (ऋ० सं० १, ५, १८, १०)"—इत्यादिषु स्कन्दस्वामिभाष्यम्-'अरुपतिर्गतिकर्मा'—इति दृष्टम्। "युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तम् (ऋ० सं० १, १, ११, १)"—इत्यादौ द्विश्योः प्रदेशयोः 'अरुष्यतिर्गतिकर्मा:—इत्यपि। उभयथा दृष्टमपि, बहुषु प्रदेशेषु दर्शनात् अरुपतीति पाठो युक्तः।

(६६) आर्यति। "मामार्यन्ति कृतेन कर्त्वे ■ च (ऋ० सं० ८, १, ५, ३)"—"तमिच्छ्यौत्नैरार्यन्ति (ऋ० सं० ६, १, २१, ६)"—इति निगमौ॥

(६७) सीयते। 'षिञ् बन्धने' स्वादिः क्र्यादिश्च। व्यत्ययेन श्यन्। "डीयते"—इति पाठान्तरम्। तदा 'डीङ् विहायसा गतौ' दिवादिः। निगमदर्शनान्निर्णयः॥

(६८) तकति। 'तक हसने (मू० प०)' "यः शूरसातापरितक्म्ये धने (ऋ० सं० १, २, ३३, १)"—अन्योन्यानमत्सर्गप्रतर्के" इति निगमौ॥

(६९) दीयति। 'दीङ् क्षये' दिवादिः'। व्यत्ययेन परस्मैपदम्। "श्येनो न दीयन्नन्वेति पाथः (ऋ० सं० ५, ६, ६, ५)" इति निगमः॥

(७०) ईषति। "ईष गतिहिंसादानेषु' आत्मनेपदी, व्यत्ययेन परस्मैपदम्। "उगानो गा ईषते धृष्णुगायतः (ऋ० सं० ४, ४, २३, २)"—इति निगमः। यद्दु 'ईर्मेति गतिकर्मसु पाठात्'—इति स्कन्दस्वामी॥

(७१) फणति। 'फण गतौ'। "यथामद्दांम्यवापनीफणन (ऋ० सं० ३, ७, १४, ४)—इति निगमः।

(७२) हनति। 'हन हिंसागत्योः' अदादिः। 'बहुलं छन्दसि (२, ४, ७३)'—इति शपो लुग् न भवति। "सं यद्धनन्त मन्युभिर्जनासः (ऋ० सं० ५, ४, २६, २)"—इति निगमः।

(७३) अर्दति। 'अर्द गतौ याचने च'॥

(७४) मर्दति। 'मृद् मर्दने'। व्यत्ययेन परस्मैपदम्॥

(७५) सर्स्रते। 'सृ गतौ' जुहोत्यादिः परस्मैपदी। व्यत्ययेनात्मनेपदम्। पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०९) अभ्यासस्य रुगागमः। "प्रसर्स्राते दीर्घमायुः प्रयक्षे (ऋ० सं० ३, १, १, १, —"आतेन जात मति स प्रसर्स्रते (ऋ० सं० २, ७, ४, १)—इति निगमौ॥

(७६) नसते। 'नस कौटिल्ये' आत्मनेपदी। "अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्याम् (ऋ० सं० ८, ८ २१, १)"—इति निगमः॥

(७७) हर्यति। 'हर्य गति कान्त्योः'।

(७८) इयर्त्ति। 'ऋ सृ गतौ' जुहोत्यादिः। 'अर्त्तिपिपर्त्योश्च (७, ४, ७७)'। "कृष्णीरियर्त्ति ओजसा (ऋ० सं० १, १, १४, ३)"—इति निगमः॥

(७९) ईर्त्ते। 'ईर गतौ कम्पने च' अदादिरात्मनेपदी। "मत्सरासः प्रसुपः साकमीरते (ऋ० सं० ७, २, २२, १)"—इति निगमः॥

(८०) ईङ्खते। 'ईखि गतौ' (मू०) आत्मनेपदी। "प्र ईङ्खयन्ति पर्वतान् (ऋ० सं १, १, ३७ २)"—इति निगमः। अत्र 'ईङ्खतिः गतिकर्मा'—इति स्कन्दस्वामिभाष्यम्॥

(८१) क्रयति। (८२) श्वात्रति। एतौ सौत्रकधातू॥

(८३) गन्ति। 'गम्लृ गतौ (भू० प०)'। व्यत्ययेन शपो लुक्। "अङ्गिरोभिरागहि यज्ञियेभिः (ऋ० सं० ७, ६, १४, ५)"—निगमः॥

(८४) आगनीगन्ति। 'गम्लृ गतौ (भू० प०)'। दाधर्त्तिदर्धर्षि (७, ४, ६५) इत्यादिना आङ्पूर्वस्य गमेर्लटि अभ्यासस्य चुत्वाभावो नीगागमश्च निपात्यते। यङ्लुगन्ताद्वा लटि निपातनाद्रूपसिद्धिः। "वक्ष्यन्ती वेदा गनीगन्ति कर्णम् (ऋ० सं० ५ १, १६, ३)"—इति निगमः॥

(८५) जङ्गति। गमेर्यङ्लुकि 'नुगतोऽनुनासिकान्तस्य (७, ४, ८५)'—इति नुकि च रूपम्। "प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यात् (ऋ० सं० १, ४, २५, ४)"—इत्यत्र 'जङ्गन्तेर्गतिकर्मण एतद्रूपम्'—इति स्कन्दस्वामिभाष्यम्।

(८६) जिन्वति। 'इवि जिवि धिवि प्रीणनार्थाः (मू० भ्वा०)'

(८७) जसति। 'जसु मोक्षणे' दिवादिः (भ्वा०)। व्यत्ये-
यात् ॥

(८८) गमति। गम्लृ गतौ (मू० भ्वा०)'। लेट्। लेटोऽडा-
(३, ४, ९४)'। बाहुलकात् 'सिब्बहुलं लेटि (३, १, ३४)'—इति
शिप् न भवति। यद्वा, 'सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते'—इति
छन्दसाभावः। "स आगमन्तु स इह श्रुवन्तु (ऋ० सं० ५, ८५
१)"—इति निगमः ॥

(८९) ध्रति। (९०) ध्राति। (९१) ध्रयति। त्रयोऽपि
नैरुक्ताः ॥

(९२) वहते। 'वह प्रापणे' (मू० उ०) स्वरितेत्। "वैश्वा-
नरं मातरिश्वा परावतः (ऋ० सं० ४, ५, १०, ४)"—इत्यत्र
'परापूर्वस्य वहतेर्गतिकर्मणः परावच्छब्दः'—इति स्कन्दस्वामी ॥

(९३) रथर्यति। नैरुक्तधातुः। 'रंहतेर्वा रथो रंहणं गमनं
इच्छतीति क्यचि रथीयतीति प्राप्ते रेफउपजन ईकाराभावश्च
पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०९)'—इति स्कन्दस्वामी। "एव
देवो रथर्यति (ऋ० सं० ६, ७, २०, ५)"—इति निगमः।
माधवभाष्यं द्रष्टव्यम् ॥

(९४) जेहते। 'येह जेह वाह प्रयत्ने' आत्मनेपदी।
यि तातृपुरेषत्रा जेहमाना (ऋ० सं० ७, ६, १८, ४)"
—इति निगमः। 'ओ हाङ् गतावित्यस्य रूपम्'—इति
स्कन्दस्वामी ॥

(९५) च्यवति। (९६) सुभ्यति। (९७) प्लाति।
(९८) याति। (९९) याति॥

(१००) इषति। 'इष गतौ' दिवादिः (प०)। व्यत्ययेन शः। "तत्रासम्यमिषयः शर्म यंसन् (ऋ० सं० ५, १, २१, २)"—इति निगमः॥ 'इष्णुरिषतेर्गतिकर्मणः (६, १८)'—इति निरुक्तम्॥

(१०१) द्राति। 'द्रा कुत्सितायां गतौ' अदादिः (प०)। "वेथ् यथो मतयो दस्र दद्रुः (ऋ० सं० १, ५, ३, १)"—इति निगमः॥

(१०२) मूलति। नैरुक्तधातुः॥

(१०३) एजति। 'एजृ कम्पने (भू० प०)'। "पृथेन वृष्णिरेजति (ऋ० सं० १, १, ११, २)"—"यथा समुद्र एजति (ऋ० सं० ४, ४, २, ४)"—इति निगमौ।

(१०४) जमति। 'जमु अदने (भू० प०)'। "न जामये तान्वोरिक्थ मारैक् (ऋ० सं० ३, २, ५, २)"—इति निगमः। 'जामिर्जमतेर्गतिकर्मणः'—इति स्कन्दस्वामी॥

(१०५) जवति। 'जु गतौ'—इति क्षीरस्वामी। "न पातय इन्द्र जुजूर्त्तु नः"—"विपाट् शुतुद्री पयसा जवेते (ऋ० सं० ३, २, १२, १)"—इति निगमौ॥

(१०६) पञ्चति। 'पञ्चु गतौ (भू० प०)'। "नमो पञ्चते परिपञ्चते (य० वा० सं० १६, २१)"—इति निगमः॥

(१०७) भनिति । 'अन प्राणने, अन च (अदा० प०)' "अत्र मानर्गान्यनिति"—इति निगमः । 'अनितिर्गतिकर्मा'
इति माधवः ॥

(१०८) पयते । 'पय गतौ'। "यन्द्राग्ने पयते घ
फिक्षन (ऋ० सं० ७, ७, २२, १)"—"एतं संवाय पविलिद
तिग्मग्"—इति निगमौ ॥

(१०९) हन्ति । 'हन हिंसागत्योः' अदादिः (प०)। "नि
येन वृत्रिहत्यया (ऋ० सं० १, १, १५, २)"—आस्य घ
मधिसानौ जघान (ऋ० सं० १, २, ३७, २)"—इति
निगमौ ॥

(११०) सेधति । 'षिधु गत्याम् (भू० प०)'। "सेधत द्वेषो
भयतं सच्या भुवा (ऋ० सं० १, ३, ५, ५)"—इति निगमः ॥

(१११) मगन् । 'गम्लृ गतौ (भू० प०)'। लुङि तिपि
च्लेः 'मन्त्रे घस (२, ४, ८०)'—इति लुकि, "इतश्च (३, ४,
६७)'—'संयोगान्तलोपः (८, २, २३)' 'मोनोधातोः (८, २,
६४)'—इति मकारस्य नकारः । "यदामागन् प्रथमजा ऋतस्य
(ऋ० सं० २, ३, २१, २)"—इति निगमः ॥

(११२) भजगन् । गमेर्लुङि 'बहुलं छन्दसि (२, ४, ७३)'—
इति शपः श्लुः । पूर्ववत्त्वम् (८, २, ६४)। "यन्मातुरजगन्पयः
(ऋ० सं० ३, १, ५, २)"—इति निगमः ॥

(११३) जिगाति । 'गा स्तुतौ (अदा० प०)'। छन्दसि
जुहोत्यादिः । 'अर्तिपिपर्त्योश्च (७, ४, ७७)' 'बहुलं छन्दसि

(७, ४, ७८)'—इति अभ्यासस्येत्वम्। "धेना जिगाति दाशुषे (ऋ० सं० १, १, ३, २)"—इति निगमः। 'जगतीति पाठान्तरम्'—इति स्कन्दस्वामिभाष्यम्॥

(११४) पतति। 'पत्लृ गतौ (भू० प०)'। "गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूता (ऋ० सं० ५, १, २१, १)"—इति निगमः॥

(११५) इन्वति। 'इवि गतौ (भू० प०)'। "देवीर्द्वारो बृहतीर्विश्वमिन्वा (य० वा० सं० २१, ३०)"—इति निगमः॥

(११६) द्रमति। 'द्रम हम्म मीमृ गतौ (भू० प०)'। "प्र चन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः (ऋ० सं० ८, ३, २३, ४)'—इति निगमः। 'चन्द्रमाश्चायं द्रमति'—इति भाष्यम् (निरु० ११, ५)'। 'द्रमतिर्गतिकर्मा'—इति स्कन्दस्वामी॥

(११७) द्रवति। 'द्रु द्रु गतौ (भू० प०)'। "यथा नरः सं च वि च द्रवन्ति (ऋ० सं० ५, १, २१, १)"—इति निगमः॥

(११८) वेति। 'वी गतिप्रजननकान्त्यशनखादनेषु' अदादिः। "अपामी यां यामते वेति सूर्यम्"—"पदं न वेत्योदती (ऋ० सं० १, ४, ४, १)"—इति निगमौ॥

(११९) हन्तात्। हन्तेर्लोटि तातङि रूपम्। "हयन्तात्"—इति केचित् पठन्ति। तत्र 'हय गतौ (भू० प०)'—इत्यस्य तातङि तकार उपजनः॥

(१२०) एति। 'इ गतौ' अदादिः (प०)। "चिचाकश्चन्द्रमा नक्तमेति (ऋ० सं० १, २, १४, ५)"—इति निगमः॥

(४) ओमम्। निगमोऽयम्। "ओमासिन् पृथिवीमहन् (ऋ० सं० ८, ६, २७, ४)"—"ओमः पार्थ म शौचिष (ऋ० सं० ४, १८, ३)—इति निगमौ। 'अस्मदीयानां निगमः ओमानः स्यात् ... पायुरक्षकाः'—इति हि माधवः॥

(५) ओमाः। अपनिर्गमिकर्मा। 'जोरी च (उ० २, ११)'—इति ईकप्रत्यय ईकारआन्तादेशः। अम्। "ओमा भवित्री चित्तः (ऋ० सं० ७, २, ११, ५)"—"ओमं दूलममर्दयन् (ऋ० सं० १, ३, ३०, ११)"—इति निगमौ॥

(६) जूर्णिः। व्याख्यातं क्रोधनामसु (२४६ पृ०)। निगमो ऽन्वेषणीयः॥

(७) शूर्त्ताः। 'तातयातमुत'—इत्यादि भोजसूत्रे आदिशब्दे शृणात्यस्मात् क्तप्रत्ययान्तो निपात्यते। शृणाति फलकामम्। "त्वया शूर्त्ता वहमाना अपत्यम् (ऋ० सं० २, ४, १७, १)"—इति निगमः। 'शूर्त्ताः क्षिप्रास्त्वरमाणाः'—इति महभास्करमिश्राः॥

(८) शूघनासः। सु शब्दे उपपदे हन्तेः 'सुघ् बहुलम् (उ० २, ७४)'—इति सुचि बाहुलकात् कुत्वं णिलोपश्च निपात्यते दीर्घश्च। शीघ्रमागच्छत्यनेन क्रियाफलम्। तस्मात् जसोऽसुक्। "सिन्धोरिव प्राध्वने शूघनासः (य० वा० सं० १७, ६५)"—इति निगमः। 'शूघनासः क्षिप्रगमनाः'—इत्युवटः॥

(९) शीभम्। 'शीभ कत्थने (भू० आ०)'। घञ्। शीभ्यतेऽनेन तद्वान्। "प्रयात शीभमाशुभिः (ऋ० सं० १, ३, १४, ४)"

—"आयस्तृणाः पूर्ण्यं यात शीसम् ( ऋ० सं० ३, २, १४, २ )" —इति निगमौ ॥

(१०) तूतु । 'ञि त्वरा सम्भ्रमे ( भू० आ० ) । 'मस्जीपो-तुक्'—इति बाहुलकात् तुकप्रत्ययो धातोस्तूभावश्च । तरत्यनेन फललाभमथ, त्वरतेऽनेन फलमागन्तुम् । "तूर्ष्यचिष्यमतसेषु तिष्ठति ( ऋ० सं० १, ४, २, २ )"—"तूर्णीमनुप्रसितिं द्रुणानः ( ऋ० सं० ३, ४, २३, १ )"—इति निगमौ ॥

(११) तूयम् । व्याख्यातमुदकनामसु ( १४४ पृ० ) । यद्धते-ऽनेन तद्वन्तः श्लाघ्याः । "आपित्वे नः प्रापित्वे तूयमा गहि ( ऋ० सं० ५, ७, ३०, ३ )"—इति निगमः ॥

(१२) तूर्णिः । 'ञि त्वरा सम्भ्रमे' । 'वहिश्रिश्रुयुद्रुग्लाहा-त्वरिभ्यो नित् ( उ० ४, ५१ )'—इति नित्प्रत्ययः । त्वरतेऽनेन फलमागन्तुम् । "अणो यत्तूर्णिश्चरति प्रजानन् ( ऋ० सं० ८, ४, ११, १ )"—"सुतमा गन्त तूर्णयः (ऋ० सं० १, १, ६, २)"—इति निगमौ ॥

(१३) अजिरम् । अज गतिक्षेपणयोः (भू० प०)' । 'अजिर-शिशिरशिथिलस्थिरस्फिरस्थविरखदिराः ( १, ५३ )'—इति किर-प्रत्ययो जिभावश्च निपात्यते । क्षिपति फलोत्पत्तिभायम् । "रथा मीळते अजिरं दत्याय ( ऋ० सं० ५, २, १४, २ )—इति निगमः ॥

(१४) भुरण्युः । भुरण्यतिर्गतिकर्मा । 'मृगय्वादयश्च ( उ० २, ३६ )'—इति क्युप्रत्ययः । "येना पावक चक्षसा भुरण्यं ( ऋ०

सं० १, ५, ८, १ )"—इत्यत्र स्कन्दस्वामिना 'भुरण्यतिः क्षि करणार्थः'—इति प्रतिपादितम् । तत्र 'भुरण्यराद्यस्य क्षि पिशिषगमनादिक्रियाकर्तरि सत्यन्येव वृत्तिः । "श्येनान्तरे हि भुरण्युः ( ऋ० सं० १, ५, १२, १ )"—इति निगमः 'भुरण्यतेर्गतिकर्मण इदं, क्षिप्रनाम वा'—इति स्कन्दस्वामि भाष्यम् ॥

(१५) शुः । निपातः । "श्वानं वस्तो बोधयितारमब्रवीत् ( ऋ० सं० २, ३, ६, ३ )"—इति निगमः । 'शु आशुगामी'— इति निरुक्तम् ( ६, १ ) ॥

(१६) आशुः । 'अशु व्याप्तौ' । 'कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण् ( उ० १, १ )' । व्याप्नोत्यनेन मरणलक्षणेन व्याप्तम्' 'आशु इदं क्षिप्रनाम क्षिप्रगामी'—इति स्कन्दस्वामिभाष्यम् । आशु इति च शब्दस्वरूपापेक्षया नपुंसकनिर्देशः । तेन आशु इति निपातः, आशुरिति सत्त्ववाची च उभयमपि पठितं भवति। तथा च स्कन्दस्वामी "समाशुमाशवे भर (ऋ० सं० १, १, ८, ३)" —इत्यत्र ऋग्भाष्ये 'आशुमिति क्षिप्रनामैतत्'—इति।' 'आशु इति शु इति च क्षिप्रनामनी भवतः'—इति ( निरु० ६, १ )। निर्विचक्षयोपन्यास इति चेत्? न, निपातत्वादिति चोक्तत्वात्। "त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिः ( ऋ० सं० २, ५, १७, १ )"—इति निगमः ॥

(१७) प्राशुः । 'सत्त्ववाच्याशुवत्'—इति भाष्ये प्रकर [illegible] । 'हस्तो हन्तेः प्राशुर्हनने ( निरु० १, ७ )'—इति

भाष्ये 'प्राशुः क्षिप्रः'—इति स्कन्दस्वामी। "सुप्राव्यः प्राशुषालेव वीरः ( ऋ॰ सं॰ ३, ६, १४, १ )"—इति निगमः॥

(१८) तुतुजिः। 'तुजि हिंसायाम् ( भू॰ प॰ )'। 'कि किनोः प्रकरणे'—इत्यर्थे 'छन्दसि सदादिभ्यो दर्शनात्'—इति किन्प्रत्ययः। लिड्वद्भावात् द्विर्वचनम्। "तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य ( ६, १, ७ )'—इति दीर्घः। तूर्णवदर्थः। 'आयुक्षाता मश्विना तुतुर्जि रथम् ( ऋ॰ सं॰ ७, ८, ७, १ )"—इति निगमः॥

(१९) तूतुजानः। तोजतेर्लिटि कानजादेशः। "इन्द्रा याहि तूतुजानः ( ऋ॰ सं॰ १, १, ५, ६ )"—इति निगमः। 'क्षिप्रार्थे स्वर आदित अन्तोदात्तः तुगर्थस्तूतुजानो महे मतः'—इति माधवः॥

(२०) तुज्यमानासः। तोजतेरेव कर्मणि लटि शानच्। "तुज्यमानास आविषुः ( ऋ॰ सं॰ १, १, २१, ५ )"—इति निगमः॥

(२१) अज्राः। अजतेः 'स्फायितञ्चिवञ्चि ( उ॰ २, १३ )—इत्यादिना रक्। 'वाहुलकादार्द्धधातुके विकल्प इष्यते'--इति वैकल्पिकत्वात् वीभावाभावः। अजिरवदर्थः। "धौर्न भूमि गिरयो नाज्रान् ( ऋ॰ सं॰ ८, १, २२, ३ )"—इति निगमः। 'अज्रान् सत्वरान् शीघ्रान्'—इति भट्टभास्करमिश्रः॥

(२२) साचीवित्। (२३) द्युगत्। (२४) ताजत्। त्रयो निपाताः। साचीविदित्यस्य निगमोऽन्वेषणीयः॥ "अतस्त्वा गीर्भिर्द्युगदिन्द्रकेशिभिः ( ऋ॰ सं॰ ६, ६, ३६, ४ )"—इति

निगमः। अत्र भाष्यम्—'युगत् शीघ्रं पुनीते गच्छ इति'
—इति वेङ्कटमाधवे उपलभ्यते। 'तूतुजानः तरणिः युगत्'—इ
क्षिप्रनामसु युगत्पदस्यानेनाव्यवधानादि॥ "ताजत्—भार्जति"—
"ताजत्—मर्मायते"—इति निगमौ॥

(२५) तरणिः। तरतेः 'अर्तिसृधृधम्यम्यश्यवितॄभ्योऽनिः (उ०
२, १०२)'—इत्यनिप्रत्ययः। शुद्धयत्नः। "विन्द्यो शमी तरणि-
त्वेन वाघतः (ऋ० सं० १, ७, ३०, ३)"—"तरणिरिज्जयति
(ऋ० सं० १, ४, ७, ४)"—इति निगमौ॥

(२६) वातरंहा। 'वा गतिगन्धनयोः (अदा० ५०)'। 'हसि-
मृग्रिण्वामिदमिलूपूधुर्विभ्यस्तन् (उ० ३, ८४)'—इति तन्। 'रमु
क्रीडायाम् (भू० भा०)' 'रमेश्च [वेगे] (उ० ४, २०८)'—
इत्यसुन् हुगागमश्च। वातवत् रंहो यस्य सः। "वातरंहसो
दिव्यासो अत्याः (ऋ० सं० २, ४, २५, २)"—इति निगमः॥

इति षड्विंशतिः क्षिप्रनामानि॥ १५॥

तलित् (१)। आसात् (२)। अम्बरम् (३)। तुर्वशे (४)। अस्तमीके (५)। आके (६)। उपाके (७)। अर्वाके (८)। अन्तमानाम् (९)। अवमे (१०)। उपमे (११)। इत्येकादशान्तिकनामानि॥१६॥

(१) तळित्। 'तड आघाते' चुरादिः। 'ताडेर्णिलुक् च (उ० १, ९५)'—इतीतिप्रत्ययः। "दूरे चित् सन्तळिदिवाति रोचसे (ऋ० सं० १, ६, २१, २)"—"या नो ददे तळितो य अरातयः (ऋ० सं० २, ६, ३०, ४)"—इति निगमौ॥

(२) आसात्। 'आस उपवेशने (अदा० आ०)'। 'पुंसि सञ्ज्ञायां घः प्रायेण (३, ३, ११८)। अन्तिके आसते। "आ न इन्द्रो दूरादा न आसात् (ऋ० सं० ३, ६, ३, १)"—"स नो दूराच्चासाच्च (ऋ० सं० १, २, २२, ३)"—इति निगमौ। 'आसादि-त्यन्तिकनाम'—इति स्कन्दस्वामिभाष्यम्। "आसादासेः"—इति माधवः॥

(३) अम्बरम्। 'कृदरादयश्च'—इत्यरन्प्रत्ययो मुगागमश्च निपात्यते। प्राप्यते ह्यासन्नम्। "यच्चासत्या परावति यद्वा स्थो अध्यम्बरे (ऋ० सं० ५, ८, २३, ४)"—इति निगमः। स्कन्द-स्वामिव्यतिरिक्तभाष्यकारमते। स्कन्दस्वामी तु 'अन्तरिक्षनाम' —इति॥

(४) तुर्वशे। व्याख्याते मनुष्यनामसु (११८ पृ०)॥ तूर्णं व्याप्यते अन्तिकम्। "यच्चासत्या परावति यद्वा स्थो अधि तुर्वशे (ऋ० सं० १, ४, २, २)"—इति निगमः॥

(५) अस्तमीके। अस्तंशब्दे उपपदे माते: 'अलीकादयश्च (उ० सं० ४, २५)'—इति धीकन्प्रत्ययो धातोर्लोपश्च निपात्यते। अस्तं प्राप्यते असिन्, अन्तिकस्थं हि नाश्यते। "सचस्व नः पराक आ सचस्वास्तमीक आ (ऋ० सं० २, १, १७, ४)"—इति निगमः॥

(६) आके। (७) उपाके। (८) अर्वाके। आङ्पु... च्छन्दसि पूर्वपदेषु क्रमतः 'चलाकादयश्च (उ० ४, १४)'—इति अ... प्रत्ययो धातोर्लोपश्च निपात्यते। अर्वाक् गन्ता। आक्र... उपक्रम्यते गन्तृभिः। क्रम्यते च ह्यासन्नम्। "आके नि... अहभिर्वियुतः (ऋ० सं० ३, ७, २१, ६)"—"सि... उपाकऽआ (ऋ० सं० १, २, २३, १)"—"यन्नासत्या पराके अर्वा... अस्ति भेषजम् (ऋ० सं० ५, ८, ३२, ५)"—इति निगमाः॥

(९) अन्तमानाम्। अन्तिकशब्दात्तमपि 'तमेदस्व'—... तादिलोपः। अन्तिकतममन्तिमम्। "अथाते अन्तमानाम् (ऋ० सं० १, १, ७, ३)"—"शिक्षा सख्यो अन्तमस्य (ऋ० सं० १,... २२, ५)"—इति निगमौ। आसुदात्तमन्तिकम्, अन्तोदात्तम्... तृतीयाबहुवचनम्, "अतो वयमन्तमेभिर्युजानाः (ऋ० सं० ३, २४, ५)"—इति माधवः॥

(१०) अवमे। 'अव रक्षणादिषु (भू० ५४)'। 'अवे... पा' इति मप्रत्ययः। गम्यते ह्यासन्नम्। "अस्मे पद्भुनामवम... सख्ये (ऋ० सं० २, ७,२४, २)"—"मध्यमस्यामवमस्यामुत म... (ऋ० सं० १, ७, २७, ५)"—इति निगमौ॥

(११) उपमे। उपपूर्वात् मिनातेः 'अन्येष्वपि दृश्यते (३, २, १०१)'—इति डः। उपचिनुयते ह्यन्तिकम्। "उपमे रोचने दिव... (ऋ० सं० ६, ६, १, ४)"—"असाद्रुत्यमुपमं स्वर्णाम् (ऋ० सं० १, ४, २७, ३,—इति निगमौ॥

इत्येकादशान्तिकनामानि॥११॥

रणः (१)। विवाक् (२)। विखादः (३)।
दनुः (४)। भरे (५)। आक्रन्दे (६)।
ाहवे (७)। आजौ (८)। पृतनाज्यम् (६)।
ाभीके (१०)। समीके (११)। ममसत्यम्
१२)। नेमधिता (१३)। सङ्काः (१४)।
ामितिः (१५)। समनम्। (१६) मीळ्हे
१७)। पृतनाः (१८)। स्पृधः (१६)। मृधः
२०)। पृत्सु (२१)। समत्सु (२२)। समर्ये
(२३)। समरणे (२४)। समोहे (२५)।
समिथे (२६)। सङ्खे (२७)। सङ्गे (२८)।
संयुगे (२६)। सङ्गथे (३०)। सङ्गमे (३१)।
वृत्रतूर्ये (३२)। पृक्षे (३३)। आणौ (३४)।
शूरसातौ (३५)। वाजसातौ (३६)।
समनीके (३७)। खले (३८)। खजे (३६)।
पौंस्ये (४०)। महाधने (४१)। वाजे (४२)।
अज्म (४३)। सद्म (४४)। संयत् (४५)।

संयतः (४६)। इति षट्चत्वारिंशत् संग्राम-
नामानि ॥१७॥

(१) रणः। 'भण रण कण शब्दार्थाः (भू० प०)' 'पदिरण्योरुपसंख्यानम् (३, ३, ८० वा०)'—इत्यप्। 'रणन्ति दुन्दुभयोऽत्र योधा वा परस्परं शब्दायन्ते। यद्वा, रमन्ते 'रास्नासास्नास्थूणावीणाः (उ० ३, १५)'—इत्यादिना नप्रत्ययो मकारलोपश्च निपात्यते। रमणीयो हि संग्रामो विचित्रकर्मविधानत्वात्। "मत्स्वा इन्द्र वृषभो रणाय (ऋ० सं० ३, ६, ११, १)"—इति निगमः॥

(२) विवाक्। विविधा विरुद्धा वाचो यत्र योधानाम्। "हयन्त उ त्वा हव्यं विवाचि (ऋ० सं० ५, ३, १४, २)"—इति निगमः॥

(३) विखादः। 'खद स्थैर्ये हिंसायाञ्च (भू० प०)'। विशिष्टं स्थैर्यमत्र शूराणां हिंसनं वा। "तं विखादे सस्निमद्य श्रुतं नरम्। (ऋ० सं० ७, ८, १४, ४)"—इति निगमः॥

(४) नदनुः। 'णद अव्यक्ते शब्दे (भू० प०)'। 'अनुङ् नदश्च (उ० ३, ४६)'—इति चानुङ्प्रत्ययः। "यदा कृणोषि नदनुं समूहसि (ऋ० सं० ६, २, ३, ४)"—इति निगमः॥

(५) भरे। 'डु भृञ् धारणपोषणयोः (जु० उ०)'। 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यः (३, १, १३४)' तत्र गणपाठः—'पच-वच-वप-वद-लप-तज-भराः'—इति। बिभर्त्ति पोषयति

सुभटानां धैर्य्यं यशो वा। यद्वा, 'पुंसि सञ्ज्ञायां घः (३, ३, ११८)'। बिभ्रत्यनेन जयलक्ष्मीं योधाः। उभयत्रापि पृषोदरादेराकृतिगणत्वादाद्युदात्तत्वम्। यद्वा, 'भृ भर्त्सने' क्र्यादिः स्वादिश्च। भर्त्स्यन्ते हि तत्र शत्रवः। हरतेर्वा भः। ह्रियन्ते हि यत्र योद्धृणामायूंषि धनानि च। 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि (३, १, ८४ वा०)'। "अस्मिन् भरे नृतमं वाजसातौ (ऋ० सं० ३, २, ४, ७)"—"अनु क्रोशन्ति क्षितयो भरेषु (ऋ० सं० ३, ७, ११, ५)"—इति निगमौ।

(६) आक्रन्दे। 'क्रदि क्लदि क्लुदि आह्वाने रोदने च (भ्वा० आ०)'। क्रन्दन्त्याह्वयन्तेऽन्योन्यमत्र, रुदन्ति वानेन बन्धुविनाशहेतुत्वात्। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(७) आहवे। 'ह्वेञ् स्पर्द्धायाम् (भ्वा० उ०)'। 'आङि युद्धे (३, ३, ७३)'—इत्यप्। 'बहुलं छन्दसि (६, १, ३४)'—इति सम्प्रसारणञ्च। आहूयन्तेऽत्र परस्परं स्पर्द्धया योधाः। "न कश्चन सहत आहवेषु (ऋ० सं० ४, ७, ३०, १)"—इति निगमः॥

(८) आजौ। 'अज गतिक्षेपणयोः (भ्वा० प०)'। अज्यतिभ्याञ्च (उ० ४, १२७)'—इति इण्प्रत्ययः। बाहुलकाद्वीभावाभावः। अजन्ति गच्छन्त्यत्र विजयश्रिये योद्धारः, कातराः पराभवं वा। एवमर्थो गत्यर्थेषु द्रष्टव्यः। क्षिप्यन्ते शस्त्राणि क्षिपन्त्याक्षिपन्ति वान्योन्यं वीर्य्यतारतम्यात्। "तेन वाजं सनिषदस्मिन्नाजौ (ऋ० सं० ८, ३, ७, ४)"—इति निगमः॥

(९) पृतनाज्यम्। पृतनाशब्दोपपदादजेर्वा मन्याद्रि-
त्यात् (उ० ४, १०८) यत्प्रत्ययः। पृतनानां सेनानामजनं
यत्र। "गाथो मुद्गलः पृतनाज्येषु (ऋ० सं० ८, ५, २१, १)"
—इति निगमः॥

(१०) अर्मकि। अभिपूर्वादेतेः 'अभीकादयश्च (उ० ४,
२५)'—इतीकप्रत्ययो धातोर्लोपश्च निपात्यते। यद्वा, न विद्यन्ते
र्मीयेषां ते अर्मकाः। अर्मकैः क्रियमाणत्वात् अर्मकमित्यु-
च्यते। "पाहि पक्षियो दुरितादर्भीके (ऋ० सं० १, ८, २६,
४)"—इति निगमः॥

(११) समीके। संपूर्वोऽस्य गतिः। अर्मकिवत्। निग-
मोऽन्वेषणीयः॥

(१२) ममसत्यम्। मम सत्यं जयः इति योद्धूणां
वाक्यविषयत्वान्ममसत्यमित्याचक्षते। पृषोदरादिः। 'त्वां
जना ममसत्येष्विन्द्र (ऋ० सं० ७, ८, २२, ४)"—इति निगमः॥

(१३) नेमधिता। 'सुधितवसुधितनेमधितधिष्वधिषीय च
(७, ४, ४५)'—इति नेमपूर्वाद्धधातेः क्तप्रत्यये इत्वमिड़ागमो वा
निपात्यते। नेमशब्दो दानपर्यायः। सप्तम्येकवचनस्याकारादेशः
(७, १, ३९)। "इन्द्रवरो नेमधिता हवन्ते (ऋ० सं० ५, ३, ११, १)"
—"विदन्मर्तो नेमधिता चिकित्वान् (ऋ० सं १, ५, १७, ४)"—
"नेमधिता न पौंस्या (ऋ० सं० ८, ४, २८, १३)"—इति निगमाः॥

(१४) सङ्काः। सचतेर्गतिकर्मणः बाहुलकादङ्कप्रत्ययष्टिलो-
। यद्वा,-संपूर्वात् किरतेः कृन्ततेर्वा 'अन्येष्वपि दृश्यते (३,

१०१)'—इति उः। सङ्कीर्यन्तेऽत्र योद्धारः, सम्यक् कृत्यन्ते छिद्यन्ते आयुधैर्वा। "इषुधिः सङ्काः पृतनाश्च सर्वाः (ऋ० सं० ५, १, १६, ५)'—इति निगमः।

(१५) समितिः। सम्पूर्वादेतेः क्तिन्। "राजानः समिताविव (ऋ० सं० ८, ५, ३, १)"—इति निगमः॥

(१६) समनम्। सम प्रम अवैकल्ये (भू० प०),। समन्ति विकलता भवत्यस्मिन् शूराः। "ज्या इयं समने पारयन्ती (ऋ० सं ५, १, १६, ३)"—इति "वि या सृजति समनं (ऋ० सं० १, ४, ४, १)" —इति च निगमौ॥

(१७) मीळ्हे। "मीळ्हम्"—इति धननामसु व्याख्यातश्च (२३१ पृ०)। मीळ्हहार्थत्वात् संग्रामोऽपि मीळ्हम्। यद्वा, मीळ्हमस्मिन्नस्तीति 'लुगकारेकाररेफाश्च (४, ४, १२८ वा० २)' —इति मत्वर्थीयस्य लुक्। "प्रधने"—इत्यपठितमपि संग्रामनाम। प्रकीर्णान्यस्मिन्निति आभरणरूपेण चूडामणिकरकविशेषात्। "समीळ्हे मर भाजा हयन्ते (ऋ० सं० १, ५, ५, १)" —इति निगमः। 'स्वर्मीळ्हे। स्वरित्युदकनाम। उदकार्थे संग्रामे भाजौ अन्यस्मिन्नपि संग्रामे'—इति स्कन्दस्वामिभाष्यम्। "स जामिभिर्यत्समजातिमीळ्हे (ऋ० सं० १, ७, १०, १)" —इति च॥ ।

(१८) पृतनाः। 'पृङ् व्यायामे (तु० आ०)' 'पृपूसां कित्' —इति तनन्प्रत्ययः। व्याप्रियन्तेऽत्र योद्धारः। "रणाय निघ्नन् पृतनासु शत्रून्"—इति निगमः।

(१९) स्पृधः। स्पर्द्ध सङ्घर्षे (धा० आ०)। क्विप्‌चिप्रच्छि (३, २, १७८ वा०)'—इत्यत्र 'प्राक् प्रत्ययनिर्देशादिष्टसिद्धिः (३, २, १७८ भा०)'—इत्युक्तेः क्विप्। पृषोदरादित्वात् रेफस्य ऋकारोऽल्लोपश्च। शसि स्पृधः। स्पर्द्धन्तेऽत्र परस्परं योद्धारः। "जयेम संयुधि स्पृधः (ऋ० सं० १, १, १५ ३)"—इति निगमः। स्पृध इति संग्रामनाम, तत्करोति (३, १, २५ वा० २)'—इति णिजन्तात् क्विप्, संग्रामकारिण इत्यर्थः—इति स्कन्दस्वामिभाष्यम्।

(२०) मृधः। 'अमर्द्धन्तो सोमपेयाय देवा (ऋ० सं० ३, १, २५, ४)'—'मिहो न वातममृधम् (ऋ० सं० ३, १४, १)'—इत्यादौ 'मृधिर्हिंसार्थः'—इति स्कन्दस्वामिभाष्यम्। तत्र पूर्ववत् क्विप् शस्। "अयं सुतः सुमखमा मृधस्कः (ऋ० सं० २, ६, २१, ४)"—"चिन इन्द्र मृधो जहि (ऋ० सं० ८, ८, १०, ४)"—इति निगमौ।

(२१) पृत्सु। पृतनाशब्दश्च संग्रामनामसु पठितोऽपि 'नासिकापृतनासानूनां नसपृत्स्नवो वाच्याः (६, १, ६३ वा०)—इति पृदादेशो विहितत्वात् पुनः पाठः। "यमग्ने पृत्सु मर्त्यम् (ऋ० सं० १, २, २३, २)"—इति निगमः।

(२२) समत्सु। सम्पूर्वादत्तेः क्विप् समासयन्ति योद्धृणामा-पृं॑ति। सम्पूर्वान्मदी हर्षे इत्यस्माद्वा क्विपि समो मलोपः। संहृष्यन्ति तत्र सुभटाः। "समत्सु त्वा हवामहे (ऋ० सं० ५, ८, ३६, ३)"—"धन्वना तीव्राः समदो जयेम (ऋ० सं० ५, १, १, २)"—इति निगमौ।

(२३) समर्ये। मर्यशब्दो मनुष्यनामसु व्याख्यातः (१६६ पृ०)। मर्यैः मरणधर्मिभिः सह वर्तते, सहशब्दस्य समावः। "मास्मै-तादृगपगूहः समर्ये (ऋ० सं० ७, ७, १६, ४)"—"तवस्वधाव इयमासमर्ये (ऋ० सं० १, ५, ७, १)"—इति निगमौ॥

(२४) समरणे। सम्पूर्वात् 'ऋ स्र गतौ (भू० प०)'—इत्यस्मान् ल्युट्। "मां वृताः समरणे हवन्ते (ऋ० सं० ३, ७, १७, ५)"—इति निगमः॥

(२५) समोहे। 'ऊहिर् तुहिर् अर्दने (भू० प०)'। तत्पूर्वाद्घञ्। सम्यगूहन्ते अर्द्यन्तेऽत्र मिथो योद्धारः। 'अभिगाय मोहम् (ऋ० सं० १, ४, २७, १)'—इत्यादौ वहेरिदं रूपमिति स्कन्दस्वामी। स च सम्पूर्वाद्वहेर्घञि पृषोदरादित्वात् सम्प्रसारणे लघूपधगुणः। समुह्यन्तेऽत्र रथादिना सुभटाः, सुभटैर्वा कवचानि। "समोहे वा य आशत (ऋ० सं० १, १, १६, १)"—इति निगमः। 'अन्तोदात्तं संग्रामनाम, मध्योदात्तं णमुलन्तम्'—इति माधवः। "इयर्ति रेणुं मघवा समोहम् (ऋ० सं० ३, ५, २३, ३)"—इति णमुलन्तम्।

(२६) समिथे। सम्पूर्वादेतेः 'समीणः (उ० २, १०)'—इति थक्। "यदन्यरूपः समिथे बभूथ (ऋ० सं० ५, ६, २५, ६)—" "स इन्मदानि समिथानि मज्मना (ऋ० सं० १, ४, १६, ५)—" इति निगमौ॥

(२७) सङ्खे। सम्पूर्वात् खनिङः 'अन्येष्वपि दृश्यते (३, २, १०१)'—इति डः, 'बहुलं सम्ज्ञाच्छन्दसोः (२, ४, ५४ वा०)'

(३८) खले। 'खज मन्थे (भू० प०)'। पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण (३, ३, ११८)'। प्रायेण जकारस्य लकारः। मन्थन्ति हि योद्धारोऽत्र। 'स्खल सञ्चलने (भू० प०)'—इत्यस्मात् घः। प्रायेण सकारलोपः। स्खलन्ति अत्र कातराः। "खले न पर्षान् प्रति हन्मि भूरि (ऋ० सं० ८, १६, २)"—इति निगमः॥

(३९) खजे। 'खज मन्थे (भू० प०)'। पूर्ववत् साध्यः। "कर्मन् कर्मन्छतमूतिः खजङ्करः (ऋ० सं० १, १०, १)"—इति निगमः॥

(४०) पौंस्ये। बलनामसु व्याख्यातम् (२३५ पृ०) अभिधर्ष्यतेऽनेन। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(४१) महाधने। 'मह पूजायाम् (भू० प०)'। 'वर्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगच्छतृवच्च (उ० २, ८४)'—इति निपातनम्। धिवि प्रीणनार्थः (भू० प०)। इदित्त्वान्नुम्। पचाद्यच्। वकारलोपः, इकारस्याकारश्च पृषोदरादित्वात्। धिनोतीति धनम्। प्रीणयतीति संग्रामो बहुधारा। महच्चासौ धनञ्च महाधनम्। महद्धनमर्थोऽनेनेति वा। "इन्द्रं वयं महाधने (ऋ० सं० १, १, १३ ५)"—"नास्य वर्त्ता न तरुता महाधने (ऋ० सं० १, ३, २१ ३)"—इति निगमौ॥

(४२) वाजे। वाजशब्दो व्याख्यातो बलनामसु (२३१ पृ०)। "इन्द्र वाजेषु नो अव (ऋ० सं० १, १, १३, ४)"—"तं त्वा वाजिनम् (ऋ० सं० १, १, ८, ३)"—इति निगमौ।

(४३) अज्म। अज गति क्षेपणयोः (भू० प०)'। मनिन्। "अग्निर्नादीदेचित इद्धो अज्मन्ना ( ऋ० सं० १, ७, १६, २ )" —इति निगमः। 'यज्ञगृहे युद्धे वा'—इति माधवः॥

(४४) सद्म। सदेर्मनिन्। अवसायन्तेऽत्र प्राणिनः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(४५) संयत्। सम्पूर्वाद् यमेर्यतेर्वा औणादिकः क्विप्। यमेरनुनासिकलोपः तुगागमः। संयतन्ते संयच्छन्ति हयादीन्। "इलाभिः संयतं करत् ( ऋ० सं० ५, ७, २, २ )"। 'संयत् संग्रामः'—इति इरदत्तः। "आसंयत मिन्द्रणः स्वस्तिम् ( ऋ० सं० ४, ६, १४, ५ )"—इत्यत्र 'संयतं युद्धम्'—इति माधवः॥

(४६) संयतः। सम्पूर्वाद् यमेः सम्पदादित्वात् क्विप्, अनुनासिकलोपे तुगागमः। संयननीयो हि शूरैः संग्रामः। "परस्या अधि संवतः (ऋ० सं० ६, ५, २६, ५)"—"स संयतो मघजातस्तु तुर्यात् (ऋ० सं० ४, १, ७, ३)"—इति निगमौ॥

इति षट्चत्वारिंशत् संग्रामनामानि॥ १७॥

इन्वति (१)। नक्षति (२)। आक्षाणः (३)। आनट् (४)। आष्ट (५)। आपानः (६)। अशत् (७)। नशत् (८)। आनशे (९)। (१०)। इति दश व्याप्तिकर्माणः॥ १८॥

(१) इयर्ति। अत्र यणकर्मसु पैङ्गल्यकर्मसु च प्रक
त्यादिगतिकर्मार्थानुगमनुगमनम्। 'इति भाष्यं (भू० प
"रथीनां गोनामिन्यति (ऋ० सं० १, १, ३४, २)"—इति निग

(२) नक्षति। 'णक्ष गतौ (भू० प०)'। महामर्तानु
पर्यन्तम् (ऋ० सं० ४, १, १३, ७)"—"पृषदश्व निरुक्तो प
नक्षत (ऋ० सं० १, ४, १०, ४)" इति निगमौ। इयर्ति न
क्षति व्याप्तिकर्मसु पठितम् इकार आगम श्नान्तः'—
स्कन्दस्वामिभाष्यम्।

(३) आक्षाणः। अश्नोतेर्लिटि शानच्। 'सिव्बहुलं ले
(३, १, ३४)'—इति बाहुल्यात् सिपि, उपधादीर्घश्च, व्रश्चादिना
'षढो कः सि (८, २, ४१)' आदेशप्रत्यययोः (८, ३, ५९)' षत्वम्।
आक्षाणे शूर वज्रिवः (ऋ० सं० ७, ७, ८, १)"—इति निगमः।
भाष्य द्रष्टव्यम्॥

(४) आनट्। 'णश अदर्शने (दि० प०)'। लुङि च्लेः 'मन्त्रे
घसह्वरणश (२, ४, ८०),—इति लुक्। संयोगान्तलोपे (८, २,
२३), व्रश्चादिपत्वे (८, २, ३६), जश्त्वम्। 'छन्दस्यपि दृश्यते
(६, ४, ७३),—इति आडागमः। "किमिच्छन्ती सरमा प्रेदमा-
नट् (ऋ० सं ८, ६, ५, १)"—"धर्मस्त्वेदेमिर्द्रविणं व्यानट् (ऋ०
सं० ८, २, १६, १)"—इति निगमौ॥ यद्वा अश्नोतेर्लिटि पस्त्वे
व्यत्ययेन पशो लुक्, व्रश्चादिना पत्वम्, 'झलांजशोऽन्ते (८, २,
३९)' 'वाऽवसाने (६, ४, ५६)'। "उपांशुना सममृतत्वमानट्
(ऋ० सं० ३, ८, १०, १)—इति निगमाः॥

: (५) आष्ट। अश्नोतेर्लुङि आत्मनेपदप्रथमपुरुषैकवचनम्। 'आष्ट मघिदार्थंगाधम्"—इति निगमः

(६) आपानः। 'आप्लृ व्याप्तौ (स्वा० प०)' शानच्। अन्तर्नैघकर्मणः 'तद्रूपम्' इति स्कन्दस्वामी। "आपानासो विवस्वतः (ऋ० सं० ६, ७, ३४, ५)"—इति निगमः। भाष्यं द्रष्टव्यम् (निरु० ३, १०)॥

(७) अशात्। अश्नोतेर्व्यत्ययेन लङि च्लेः पूर्ववत् लुक्। 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि (६, ४, ७५)'—इत्यड्भावः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(८) नशात्। नशयतेर्लेटि 'लेटोऽडाटौ (३, ४, ९४)' 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु (३, ४, ९७)'। "स धीतये से नशात्"—"न किः शवांसि ते नशात् (ऋ० सं० ६, ५, २, ३)"—इति निगमौ॥

(९) आनशे। अश्नोतेर्लिटि रूपम्। "न किः स्वस्य आनशे (ऋ० सं० १, ६, ६, २)"—इति निगमः॥

(१०) अश्नुते। "अततनूर्नतद्रामो अश्नुते (ऋ० सं० ७, ३, ८, १)"—"व्यश्नुहि तर्पया काममेषाम् (ऋ० सं० १, ४, १८, ४)"—इति निगमौ॥

इति दश व्याप्तिकर्माणः॥ १८॥

दभ्नोति (१)। श्रथति (२)। ध्वरति (३)। धूर्वति (४)। वृणक्ति (५)। वृश्चति (६)। कृणवति (७)। कृन्तति (८)। श्वसिति (९)।

नभते (१०)। अर्दयति (११)। स्तृणाति (१२)। स्नेहयति (१३)। यातयति (१४)। स्फुरति (१५)। स्फुलति (१६)। निवपन्तु (१७)। अवतिरति (१८)। वियातः (१९)। आतिरत् (२०)। तलित्। (२१)। आखण्डल (२२)। द्रूणाति (२३)। रम्णाति (२४)। श्रृणाति (२५)। शम्नाति (२६। तृणेढ्वहि (२७) ताढ्वहि (२८)। नितोशते (२९)। निवर्हयति (३०)। मिनाति (३१)। मिनोति (३२)। धमति (३३)। इति त्रयस्त्रिंशत् वधकर्माणः ॥१९॥

व्यातिकर्मसु शाकपूणेरतिरिक्ता एव "पिव्याकः"—"उद्रयथाः"—"पिग्रे"—इति स्कन्दस्वामी ॥

(१) दभ्नोति। "दम्भु दम्भे" स्वादिः (पा०)। "न त्वा वेता आ दभ्नुवन्ति भूर्णयः (ऋ० सं० १, ४, २०, २)"—इति निगमः ॥

(२) श्नथति। श्नथ क्नथ क्रथ हिंसायाम् (भू० प०)। श्नथद् वृत्रमुत सनोति वाजम् (४, ८, २७ १)"—"मघ पुरो श्नथति य श्रधिरम् (ऋ० सं० ८, ६, २३, ५)"—इति निगमौ।

(३) ध्वरति।

(४) धूर्वति। 'तुर्वी थुर्वी दुर्वी धुर्वी हिंसार्थाः (धा० प०)'। उपधायाञ्च (८, २, ७८)'—इति दीर्घः। "धूरसि धूर्व धूर्वन्तं धूर्व (य० मा० सं० १, ८)"—इति निगमः॥

(५) वृणक्ति। वृजी वर्जने रुधादिः। "नि चक्रेण रथ्या दुष्पदा वृणक् (ऋ० सं० १, ४, २६, ४)"—इति निगमः॥

(६) वृश्चति। 'ओव्रश्चू छेदने' तुदादिः। ग्रहिज्या (६, १, १६)'—इत्यादिना सम्प्रसारणम्। 'वृश्चा मध्यं प्रत्यग्र' श्रृणीहि (ऋ० सं० ३, ७, ४, २)"—"विवृश्च वज्रेण वृत्रमिन्द्रः (ऋ० सं १, ४, १८, ५)"—इति निगमौ॥

(७) कृणति। 'कृवि हिंसाकरणयोः (भू० प०)' व्यत्ययेन धिन्विकृण्व्योरच (३, १, ८०)'—इत्येतन्न भवति॥

(८) कृन्तति। 'कृती छेदने (धा०)' तुदादिः। 'शेमुचा-दीनाम् (७, १, ५९)'। "वि दस्यूँ योनावकृतो वृथाषाट् (ऋ० सं० १, ५, ४, ४)"—इति निगमः॥

(९) श्नथिति॥

(१०) ममते। 'मम तुम हिंसायाम्' (भू०) आत्मनेपदी। "ममत्ता मन्यवे रमे (ऋ० सं० ६, ३, २२, १)"—इति निगमः॥

(११) मर्दयति। 'मर्द हिंसायाम्' (भू० प०) आधृषीयः। "वृत्रं पिपर्त्तमर्दयन् (ऋ० सं० २, ७, ६, १)"—इति निगमः॥

(१२) स्तृणाति। 'स्तृञ् आच्छादने' क्र्यादिः रुधादिः। 'कदु वृषभोऽ भस्तृतम् ( ऋ० सं० ६, ४, ४६, ५ )"—इति निगमः॥

(१३) श्नोदयति। 'श्निद स्नेहने' चुरादिः। "यः स
र्णीन् पूर्व्यः (ऋ० सं० १, ७, २१, २)"—इति निगमः।
यनिर्थघकर्मा'—इति स्कन्दस्वामी ॥

(१४) यातयति। 'यति निकारोपस्कारयोः',चुरादिः। "श
तयन्त क्षितयो नयन्याः (ऋ० सं० १, ३, २, १)"—इति निगम

(१५) स्फुरति। (१६) स्फुलति। 'स्फुर स्फुरणे' 'स्फु
सञ्चलने' तुदादिः, तुदादिः। "पदा क्षुम्पमिव स्फुरत् (ऋ० सं
१, ६, ६, ३)"—"आर्त्नी इमे विस्फुरन्ती अमित्रान् (ऋ० सं
५, १, ११, ४)"—इति निगमः। 'स्फुरतीति घधकर्मसु पाठा
—इति स्कन्दस्वामी ॥

(१७) निघपन्तु। 'डु वप बीजसन्ताने (भू० उ०)'—इत्य
स्मात् लोट्। "अन्यन्ते अस्मन्निघपन्तु सेनाः (ऋ० सं० २, ८,
१८, १)"—इति निगमः ॥

(१८) अवतिरति। तरतेर्लट् 'बहुलं छन्दसि (७, ४, ७८
—इतीत्वम्। "अवातिरज्ज्योतिषाग्निस्तमांसि (ऋ० सं० ४,
५, ११, १)"—"यदिन्द्र शारदीरवातिरः (ऋ० सं० २, १, २०, ४)"
—इति निगमौ ॥

(१९) वियातः। 'तत्र वियात इत्येतद् वियातयन इति
वियातयेति वा (निरु० ३, १०)'—इति भाष्ये स्कन्दस्वामी
तस्य समाधिमर्थं व्याचष्टे—'विपूर्वस्य यातयतेर्वा घे प्रत्यये
वियातय इति भवति धारयः पारयः इतिवत्। तस्य सम्बोधनम्
वियातयेति। वियातयितरिति वा-पाठान्तरम्—इति। धारय-

पारयेति दृष्टान्तप्रदर्शनेन 'व्यत्ययो बहुलम् ( ३, १, ८५ )—इति अस्मादपि 'अनुपसर्गाल्लिम्पविन्द ( ३, १, १३८ )'—इति सूत्रेण शप्रत्यय इति दर्शयति ॥

(२०) आतिरत्। आङ्पूर्वात्तरतेर्लङ् पूर्ववत् इत्वम्। "इन्द्रः पूर्भिरातिरत् दासमर्कैः"—इति निगमः ॥

(२१) तलित्। अन्तिकनामसु व्याख्यातम् (२७२ पृ०) ॥

(२२) आखण्डल। 'खड खडि कडि भेदे ( चु० )' चुरादिः। अस्मादाङ्पूर्वात् 'मङ्गेरलच् ( उ० ५, ७२ )'—इति बाहुलकादलच्। "आखण्डल प्रहूयसे ( ऋ० सं० ६, १, २४, २ )"—इति निगमः ॥

(२३) द्रूणाति। 'द्रू हिंसायाम्, क्र्यादिः। "तृष्वी सस प्रसितिं द्रूणानः ( ऋ० सं० ३, ४, २३, १ )"—इति निगमः ॥

(२४) रम्णाति। 'रमु क्रीडायाम्' भ्वादिरात्मनेपदी, व्यत्ययेन श्ना, परस्मैपदम् ॥

(२५) शृणाति। 'शॄ हिंसायाम्' क्र्यादिः प्वादिश्च। "शृणाति वीड्वरुजति स्थिराणि (ऋ० सं० ८, ४, १५, १)"—इति निगमः ॥

(२६) शम्नाति। 'शमु उपशमे' दिवादिः। व्यत्ययेन श्ना "शिशिरं जीवनाय कम् (निरु० १, १०)"—इति निगमः। 'शिशिरं शृणातेः शम्नातेर्वा'—इति निरुक्तम् ( १, १० )। 'शम्नातेः हिंसार्थस्य'—इति स्कन्दस्वामी ॥

(२७) तृणेढ्मि। 'तृहि हिंसायाम्' रुधादिः। इरिदिति निपातनाभावः। निगमोऽन्वेष्टव्यः ॥

(१३) स्नेहयति। 'ष्णिह स्नेहने' चुरादिः। "य... तीगु पूर्व्यः (ऋ० सं० १, ५, २१, २)"—इति निगम... यतिर्वधकर्मा'—इति स्कन्दस्वामी ॥

(१४) यातयति। 'यति निकारोपस्कारयोः' चुरादिः... तयन्त क्षितयो नवग्वाः (ऋ० सं० १, ३, २, १)"—इति नि...

(१५) स्फुरति। (१६) स्फुलति। 'स्फुर स्फुरणे'... सञ्चलने' तुदादिः, कुटादिः। "पदा क्षुम्पमिव स्फुरत् (ऋ०... १, ६, ६, ३)"—"आर्जी इमे विस्फुरन्ती अमित्रान् (ऋ०... ५, १, १६, ४)"—इति निगमः। 'स्फुरतीति वधकर्मसु पठ... —इति स्कन्दस्वामी ॥

(१७) निवपन्तु। 'डु वप बीजसन्ताने (भू० उ०)'—इ... स्मात् लोट्। "अन्यन्ते अस्मन्निवपन्तु सेनाः (ऋ० सं० १,... १८, १)"—इति निगमः ॥

(१८) अवतिरति। तरतेर्लट् 'बहुलं छन्दसि (७.१.१... —इतीत्वम्। "अवातिरज्ज्योतिषाग्निस्तमांसि (ऋ० सं०... ५, ११, १)"—"इन्द्र शारदीरवातिरः (ऋ० सं० २, १, १५,... —इति निगमौ ॥

(१९) वियातः। 'तत्र वियात इत्येतद् वियातस्य ... वियातयेति वा (निरु० ३, १०)'—इति भाष्ये स्कन्द... तस्य समाधिमयं व्याचष्टे—'विपूर्वस्य यातयतेर्वा ये... वियातय इति भवति धारयः पारयः इतिवत्। तस्य ... वियातयेति। वियातयितरिति वा 'पाठान्तरम्—इति। ...

इति दृष्टान्तप्रदर्शनेन 'व्यत्ययो बहुलम् ( ३, १, ८५ )'—इति ...दपि 'अनुपसर्गाल्लिम्पविन्द ( ३, १, १३८ )'—इति सूत्रेण ...श्य इति दर्शयति ॥

(२०) आतिरत्। आङ्पूर्वात्तरतेर्लङ् पूर्ववत् ह्रस्वम्। "इन्द्रः ...रातिरत् दासमर्कैः"—इति निगमः ॥

(२१) तलित्। अन्तिकनामसु व्याख्यातम् (२७९ पृ०) ॥

(२२) आखण्डल। 'खड खडि कडि भेदे (प०)' ...दिः। अस्मादाङ्पूर्वात् 'मङ्गेरलच् ( उ० ५, ७२ )'—इति ...हुलकादलच्। "आखण्डल प्रहूयसे ( ऋ० सं० ६, १, २४, ...)"—इति निगमः ॥

(२३) दूणाति। 'दू हिंसायाम्, क्र्यादिः। "तृष्वी मनु ...सेर्ति दूणानः ( ऋ० सं० ३, ४, २३, १ )"—इति निगमः ॥

(२४) रम्णाति। 'रमु क्रीडायाम्' भूवादिरात्मनेपदी, ...त्ययेन श्ना, परस्मैपदम् ॥

(२५) शृणाति। 'शॄ हिंसायाम्' क्र्यादिः प्वादिश्च। "शृणाति ...लुरुजति स्थिराणि (ऋ० सं० ८, ४, १५, १)"—इति निगमः ॥

(२६) शम्नाति। 'शमु उपशमे' दिवादिः। व्यत्ययेन श्ना ...'शिशिरं जीवनायकम् (निरु० १, १०)"—इति निगमः। 'शिशिरं ...णातेः शम्नातेर्वा'—इति निरुक्तम् ( १, १० )। 'शम्नातेः ...हिंसार्थस्य'—इति स्कन्दस्वामी ॥

(२७) तृणेऌहि। 'तृहि हिंसायाम्' रुधादिः। लटि तिपि ...कारभावः। निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(२८) ताव्यति। 'तड आघाते' चुरादिः। [illegible] पृषोदरादित्वात् रूपसिद्धिः। "वि शुष्णस्याद्रिहि वि [illegible] तुरस्य (ऋ० सं० ८, ८, ३८, २)"—इति निगमः॥

(२९) निशांशते। शोशते भैरवो धातुः। "मर्ता म[illegible] शोशते (ऋ० सं० ७,५, १३, ४)"—"इन्दुरिन्द्राय शोशते [illegible] (ऋ० सं ७, ५, २१, ११)"—"शुनासीरा हविषा तोशमाना"—इति निगमाः॥

(३०) निवर्हयति। 'वर्हि हिंसायाम्' चुरादिः, नि[illegible]। "वर्हिष्यते नि सहस्राणि वर्हयः (ऋ० सं० १, ४, १६, १)"—इति निगमः॥

(३१) मिनाति, (३२) मिनोति (३३) धमति। गतिक[illegible] व्याख्याताः (२५६ पृ०)। "न ता मिनन्ति मायिनो न धी[illegible] (ऋ० सं० ३, ४, १, १)"—"न मिनन्ति वेधसः"—"उशिग्भ्यो नामिमीत वर्णाम् (ऋ० सं० २, ५, २४, ५)"—इति मिनातेर्नि गमाः। अत्र 'मिनातिर्वधकर्मा'—इति स्कन्दस्वामी। "धावा वर्णं चरत आमिनाने (ऋ० सं० १, ८, १, २)"—"उत द्वियर्हा अमिनः सहोभिः (ऋ० सं० ४, ६, ७, १)"—इति मिनोतेर्निगमौ। अनयोः, 'मिनोतिर्वधकर्मा'—इति स एव। "वि सप्तरश्मिरधमत्तमांसि (ऋ० सं० ३, ७, २६, ४)"—इति निगमः॥

इति त्रयस्त्रिंशत् वधकर्माणः॥ १९॥

दिद्युत् (१)। नेमिः (२)। हेतिः (३)। नमः (४)। पविः (५)। सृकः (६)। वृकः (७)। वधः (८)। वज्रः (९)। अर्कः (१०) कुत्सः (११)। कुलिशः (१२)। तुजः (१३)। तिग्मम् (१४)। मेनिः (१५)। स्वधितिः (१६)। सायकः (१७)। परशुः (१८)। इत्यष्टादश वज्रनामानि ॥ २० ॥

(१) दिद्युत्। 'द्युतदीप्तौ (भू० आ०)'। 'द्युतिगमिजुहोतीनां द्वे च (३, २, १७८ वा० २)'—इति क्विपि द्वित्वे, 'द्युतिस्वाप्योः सम्प्रसारणम् (७, ४, ६७)' इत्यभ्यासस्य सम्प्रसारणम्। द्योतते उज्ज्वलत्वात्। द्यतेर्वा क्विपि पृषोदरादित्वात् रूपसिद्धिः। द्यति शत्रून्। "अस्तुर्न दिद्युत्त्वेष प्रतीका (ऋ० सं० १, ५, १० ४)"—"यत्रा वो दिद्युद्रदति (ऋ० सं० २, ४, २, १)"—"या ते दिद्युदवसृष्टा (ऋ० सं० ५, ४, १२, ३)"—इति निगमः।

(२) नेमिः। नयतेः 'नियोमिः (उ० ४, ४३)'—इति मि प्रत्ययः। नयति शत्रून् विनाशं, नीयन्तेऽनेन वा ऐश्वर्यात्। यद्वा, णमु प्रह्वत्वे (भू० प०)'। उत्सर्गाच्छन्दसि गमादिभ्यो-दर्शनात् (३, २, १७१ भा०)'—इति किप्रत्ययः। लिड्वद्भावाद् द्विर्वचने 'अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि (६, ४, १२०)' अन्तर्णी-

(४) राजति। 'राजृ दीप्तौ (भू० ३०)' इत्यस्य रूपम्। "विराजति (ऋ० सं० १, १, ६, ३)"—"राजन्तमध्वराणाम् (ऋ० सं० १, १, २, ३)"—इति निगमौ ॥

इति चत्वार ऐश्वर्यकर्माणः ॥ २१ ॥

राष्ट्री (१)। अर्य्यः (२)। नियुत्वान् (३)। इनइन (४)। इति चत्वारीश्वरनामानि ॥ २२ ॥

(१) राष्ट्री। राजतेरैश्वर्य्यकर्मणः (निघ० २, २१, ४)। "सर्वधातुभ्यः (उ० ४, १५४)'—इति ष्ट्रन् प्रत्ययः। व्रश्चादिना (८, २, ३६) षत्वम्। षित्वात् ङीष् (४, १, ४१)। "राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा (ऋ० सं० ६, ७, ५, ४)"—इति निगमः ॥

(२) अर्य्यः। 'ऋ गतौ (भू० ५०)'—इत्यस्मात् ण्यति प्राप्ते 'अर्य्यः स्वामिवैश्ययोः (३, १, १०३)'—इति यन्निपात्यते। गम्यते हि सर्वैरीश्वरः। "समर्य्यो गा अजति यस्य वष्टि (ऋ० सं० १, ३, १, १)"—मंहिष्ठो अर्य्यः सत्पतिः (ऋ० सं० ६, १, २५, ६)" —इति निगमौ ॥

(३) नियुत्वान्। नियुच्छब्दो व्याख्यातः 'नियुतो वायोः' इत्यत्र (१७१ पृ०)। नियुतोऽश्वाः तामिस्तद्वान्। 'तसौ मत्वर्थे (१, ४, १९)'—इति भसंज्ञाया विधानाज्जश्त्वम् न भवति। "... यशमयसे नियुत्वान् (ऋ० सं० ४, ७, १२, ५)"—इति

अस्य स्थाने "पति."—इति केचित् पठन्ति। तत्र 'पा रक्षणे (अदा० प०)' 'पातेर्डतिः (उ० ४, ५७)'। रक्षिता हीश्वरः। 'पिता पाता वा पालयिता वा'—इति भाष्ये (निरु० ४, २१) अत्र पातेर्ण्यन्तात् बाहुलकात् डतिः रूपसिद्धिश्च स्कन्दस्वामिना उक्ता। "शिप्रिन् वाजानां पते (ऋ० सं० १, २, २७, २)"—इति निगमः॥

(४) इनः। पनेः सम्भाजनार्थे वर्त्तमानात् समुपसर्गार्थविशिष्टात् 'इण्सिञ्जिदीङुष्यविभ्यो नक् (उ० ३, २)'—इति नक् प्रत्ययः। अर्थस्तु 'तत्रेन इत्येतत्सनितः (निरु० ३, ११)'—इत्यत्र स्कन्दस्वामिना विस्तरेणोक्तः। "इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः (ऋ० सं० २, ३, १८, १)"—इति निगमः॥

इति चत्वारीश्वरनामानि॥ २२॥

इति श्रीदेवराजयज्वविरचिते नैघण्टुककाण्डनिर्वचने द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः॥ २॥

अपस्तुङ्मनुष्याआयरयग्नु वो वश्म्यन्ध आवयत्योजोमघमव्यारेलतेहेलोवर्त्तेनुतलिद्रण इन्वतिदभ्नोतिदिद्यु दिरज्यति राष्ट्रीति द्वाविंशतिः॥

इति निघण्टौ द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः॥२॥

०—०—०

(४) भूरि। भवतेः 'अदिशदिभूशुभिभ्यः क्रिन् (उ० ४, ६५)' —इति क्रिन्प्रत्ययः। भवति तत् सर्वस्यानुग्रहाय। "यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः (ऋ० सं० २, २, २४, ५)"—इति निगमः॥

(५) शश्वत्। 'टु ओ श्वि गतिवृद्ध्योः (धा० पा०)'। 'संश्वत्प्रत्यङ्‌वेदत् (उ० २, ७१)'—इत्यादिना द्विर्वचनम्, अभ्यासवकारैकारेकारस्याकारो डित्त्वमाद्युदात्तत्वं च निपात्यते। परिवर्द्धते गम्यते वा। "अहं धनानि सञ्जयामि शश्वतः (ऋ० सं० ८, १, ५, १)"—"यच्चिद्धि शश्वता तना (ऋ० सं० १, २, २१, १)" —इति निगमौ॥

(६) पिश्यम्। (७) परीणसा।

(८) व्यानशिः। विपूर्वादश्नोतेरुत्सर्गतश्छन्दसि गमादिभ्यो दर्शनात् (३, २, १७१ भा०)'—इति किः। द्वित्वम्। अत आदेः अश्नोतेश्च। विविधं व्याप्नोति। "व्यानशिः पवसे सोमधर्मभिः (ऋ० सं० ७, ३, १२, ५)"—इति निगमः॥

(९) शतम्। 'पङ्‌क्तिविंशतित्रिंशच्चत्वारिंशत्पञ्चाशत्षष्टिसप्तत्यशीतिनवतिशतम् (५, १, ५९)'—इति दशदशांशमायत्तं च निपात्यते। "दशदशतः" इति निरुक्तम् (३, १०)। निरवयवसामर्थ्यात् बहुमात्रेऽपि वर्त्तते। "वाजयामः शतग्वतो (ऋ० सं० १, १, ८, ४)"—इति निगमः॥

(१०) सहस्रम्। सहो बलनामसु व्याख्यातम् (२३४ पृ०)। तेन मत्वर्थीयः। बलस्यापि मायिनी शक्तिरस्मिन्नस्ति। "सहस्राक्षरा परमे व्योमन् (ऋ० सं० २, ३, २२, १)"—इति निगमः॥

(११) सलिलम्। व्याख्यातमुदकनामसु (१।१२)। गम्यते हि जलपरत्वम्। "सर्वं सलिलं सर्वमा इदम् (ऋ० सं० ८, ७, १७, ३)"—इति निगमः। 'सलिलमिति बहुनाम। सलिलं कुपितमिति पाठात्'—इति दुर्गवृत्तः॥

(१२) कुविद्। निपातोऽयम्। "कुविद् सोमस्यापामिति (ऋ० सं० ८, ६, २६, २)—इति निगमः॥

इति द्वादश बहुनामानि॥ १॥

ऋहन् (१)। ह्रस्वः (२)। निघृष्वः (३)। मायुकः (४)। प्रतिष्ठा (५)। क्रृधु (६)। वम्रकः (७)। दभ्रम् (८)। अर्भकः (९)। क्षुल्लकः (१०)। अल्प (११)। इत्येकादश ह्रस्वनामानि॥ २॥

(१) ऋहन्। 'रुह बीजजन्मनि (भू० प०)'—'रह त्यागे (भू० प०)'। अनयोः 'संश्चत्तृपद्वेहदित्यादयः (उ० २, ७१)'—इति रेफस्य सम्प्रसारणम्, इतिप्रत्ययः, शतृवद्भावश्च निपात्यते। तत्र, दण्डनाथवृत्तिः—'आदिग्रहणाद्रिहद्वियदित्यादयो भवन्ति'—इति। आरुह्यते हि ह्रस्वो वृक्षादिः, त्यज्यते वा दीर्घार्थिभिः। "वृहन्तं चिद्दहते रन्धयानि (ऋ० सं० ७, ७, २१, ३)"—इति निगमः॥

(२) ह्रस्वः। 'सर्वनिघृष्वरिष्वलष्वशिवपद्वप्रह्वेष्वा अतन्त्रे' —इति घन्प्रत्ययान्तो निपात्यते। ह्रसतिः शब्दार्थे पठितः, तथाप्यत्र न्यूनार्थे वर्त्तते। "नमो ह्रस्वाय च वामनाय च (य० वा० सं० १६, ३०)"—इति निगमः॥

(३) निघृष्व। घृषु सङ्घर्षे (भ्० प०)'। अत्र न्यूनार्थः। इगुपधलक्षणः कः। ह्रस्वदर्थः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(४) मायुकः। 'डु मिञ् प्रक्षेपणे (स्वा० उ०)'। 'कृवापा (उ० १, १)'—इत्युण्। स्वार्थे कः। प्रक्षिप्यतेऽनायासेन। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(५) प्रतिष्ठा। प्रतिपूर्वात् तिष्ठतेर्न्यूनार्थात् 'घञर्थे कविधानम् (३, ३, ५८ वा०)'—इति बाहुलकात् कर्त्तरि कः। प्रतितिष्ठति। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(६) कृधु। 'कृती छेदने (तु० प०)'। 'पृभिदिव्यधिगृधि धृषिभ्यः (उ० १, २३)'—इत्यादिना बाहुलकात् कुप्रत्ययस्तकारस्य धकारश्च। 'निकृन्तमिव हि तद् भवति ह्रस्वत्वादेव'—इति स्कन्दस्वामी। "यो अस्कृधोयुरजरः स्वर्वान् (ऋ० सं० ४, ६, १३, ३)"—इति निगमः॥

(७) वम्रकः। 'टु वम उद्गिरणे (भ्० प०)' न्यूनार्थः। 'स्फायितञ्चिवञ्चि (उ० २, १२)'—इत्यादिना बाहुलकाद्रक्। ततः स्वार्थे कः (५, ३, ६७)। "वम्रकः पद्भिरुपसर्पदिन्द्रम् (ऋ० सं० ८, ५, १५, ६)"—इति निगमः। "स्तवानो वम्रो विजघान सन्दिहः (ऋ० सं०१, ४, १०, ४)"—इत्यत्र 'वम्रः

ह्रस्वनामैतत् द्रष्टव्यम्। स्वार्थिककप्रत्ययान्तो ह्रस्वनामसु पठित इति स्कन्दस्वामी ॥

(८) दभ्रम्। दभतिर्न्यूनार्थः। 'स्फायितञ्चिवञ्चि (उ० २, १२)'—इति रक्। 'नेड्वशि कृति (७, २, ८)'—इतीट्-प्रतिषेधः। दभ्रं पश्यद्भ्य उर्विया विचक्ष ( ऋ० सं० १, ८, ६, ५ )"—इति निगमः ॥

(९) अर्भकः।

(१०) क्षुल्लकः। क्षुधं लाति। 'आतोऽनुपसर्गे कः (३, २, ३ )'। स्वार्थे कः। 'क्षुधं लाति क्षुल्लकः'—इति क्षीरस्वामी। "नमो महद्भ्यः क्षुल्लकेभ्यश्च क्षुल्लका शिपिविष्टका"—इति निगमः ॥

(११) अल्पः। 'अलं भूषणपर्याप्तिवारणेषु'। 'अल्तिलि-शीङ्लूपाभ्यः पः'—इति पः। "अल्पा पलं पराग्रो मूत्र" उपतिष्ठेरन्—इति निगमः ॥

इत्येकादश ह्रस्वनामानि ॥ २ ॥

महत् (१)। ब्रध्नः (२)। ऋष्वः (३)।
बृहत् (४)। उक्षितः (५)। तवसः (६)।
तविषः (७)। महिषः (८)। अभ्वः (९)।
ऋभुक्षाः (१०)। उक्षाः (११। विहायाः (१२)।

यह्वः (१३)। ववक्षिथः (१४)। विवक्षसे (१५)। अम्भृणः (१६)। माहिनः (१७)। गभीरः (१८)। ककुहः (१६)। रभसः (२०)। व्राधन् (२१)। विरप्शी (२२)। अद्भुतम् (२३)। वंहिष्ठः (२४)। वर्हिषत् (२५) इति पञ्चविंशतिर्महन्नामानि ॥३॥

(१) महत्। 'मानेनान्यान् जहातीति शाकपूणिर्मंहनीयो भवतीति वा (निरु० ३, १३)'—इति भाष्यम्। 'मानेन स्वगुणेन परिमाणेन अन्यान्, यदपेक्ष्य तस्य महत्त्वं, तान् जहाति अतिक्रामति मानशब्दात् जहातेश्चेति शाकपूणिः। निर्वचनलाघवात् मंहतेः पूजाकर्मणो धदस्याप्यार्थ्यः'—इति स्कन्दस्वामी। उभयत्रापि 'वर्तमाने पृषद्बृहन्महत् (उ० २, ८४)'—इत्यतिप्रत्यये निपातनाद्रूपसिद्धिः। "महत्तदुल्बं स्थविरं तदासीत् (ऋ० सं० ८, ३, १०, १)"—इति निगमः॥

(२) व्रज्ञः। व्याख्यातमश्वनामसु (१६५ पृ०)। व्रजति स्वगुणैः सर्वान् वेतनदानेन भृत्यादीन्। "युञ्जन्ति व्रध्नमरुषञ्चरन्तम् (ऋ० सं० १, १, ११, १)"—इति निगमः॥

(३) ऋष्वः। 'ऋष गतौ (तु० ५०)'। सर्वनिघृष्व (उ० १५१)'—इति घन्प्रत्ययो गुणाभावश्च निपात्यते। गम्यते हि महान् सर्वैः गतो वा भूमिम्। इमावर्थौ गत्यर्थेषु बोद्धव्यौ। 'ऋषिर्दर्शनात् (निरु० २, ११)'—इति भाष्यादपि दर्शनार्थम्

दर्शनीयो हि महान्। "अप्पान इन्द्र स्थविरस्य बाहू (ऋ० सं० ४, ७, ३१, ३)"—इति निगमः॥

(४) वृहत्। 'वृहि वृद्धौ (भ्वा० प०)' 'वर्तमाने पृषद्बृहन् (उ० २, ७८)'—इति निपातनम्। परिवृद्धं भवति हि महत्त्वम्। वर्धतेऽस्मिन्नैश्वर्य्यादि वर्धतेऽनेन समाश्रितः। वृद्ध्यर्थयोरेव मर्थो योऽत्रयः। "वृहद्वदेम विदथे सुवीराः (ऋ० सं० २, ५, ११, ६)"—"उरोष्ट्व्यस्य वृहतः (ऋ० सं० १, २, १७, ४,)"—इति निगमौ। उरोष्ट्व्यस्येत्यत्र 'अप्यस्य महाम बलवतः, वृहतः एतदपि महतामेव। वेगसम्बन्धेन न च पुनरुक्तिः। महतावेगेन शीघ्रस्येत्यर्थः'—इतिस्कन्दस्वामिभाष्यम्॥

(५) उक्षितः। 'उक्षतिर्वृद्ध्यर्थः'—इतिस्कन्दस्वामी। निष्ठायामिड़ागमः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(६) तवसः। तवतिर्वृद्ध्यर्थः। 'अत्यविचमितमिनमिरभिलभिनभितपिपतिपनिपणिमहिभ्योऽसच् (उ० ३, ११३)'। "रजस्तुरं तवसं मारुतं गणम् (ऋ० सं० १, ५, ८, २)"—"सन्त्वा गृणामि तवस मतव्यान् (ऋ० सं० ५, ६, २५, ५)"—इति निगमौ॥

(७) तविषः। तवतेरेव। 'तवेर्णिद्वा (उ० १, ४८)'—इति टिषच्प्रत्ययः। "सानु गिरीणां तविषेभिरूर्मिभिः (ऋ० सं ४, ८, ३०, २)"—इति निगमः॥

(८) महिषः। महते 'अविमह्योष्टिषच् (उ० १, ४५)' महदर्थः। यद्वा, महतेः क्विप्, सप्तम्येकवचनम्, सदेः 'अन्येष्वपि

दृश्यते (३, २, १०१)'—इति डप्रत्ययः, 'तत्पुरुषे कृति बहुलम् (६, ३, १४)'—इति अलुक्, 'सुषामादिषु च (८, ३, ९८)'—इति षत्वम्। मह्वि महति स्थाने सीदत्यास्ते महिषः। "महिषासो मायिनश्चित्रभानवः (ऋ० सं० १, ५, ७, २)"—इति निगमः॥

(९) अभ्व। व्याख्यातमुदकनामसु (१४२ पृ०)। आ समन्तात् भवतीति कीर्त्तिमत्वात्। यद्वा, भवतेः सत्तार्थात् प्राप्त्यर्थाद्वा नञ्पूर्वात् 'नञि भुवो डित्'—इति क्वन्प्रत्ययः। न भवत्यमेनोपद्रवोऽस्मिन्निति वा न प्राप्यते लेशैः। "न ये वातस्य प्रमिनन्त्यभ्वम् (ऋ० सं० १, २, १४, १)"—आ यो नौ अभ्व ईयते (ऋ० सं० १, ३, १६, ३)"—इति निगमौ॥

(१०) ऋभुक्षाः। 'ऋ गतौ (भू० प०)। 'अर्त्तेर्भुक्षि नक्'—इति भुक्षिनक्प्रत्ययः। पथिमथ्यृभुक्षामात् (७, १, ८५)' 'इतोऽत् सर्वनामस्थाने (७, १, ८६)'। उरु विस्तीर्णं भाति, ऋतेन सत्येन यशसा वा भाति भवति वा, ऋभुः मेधावी महत् स्थानं वा। उरुशब्दादुपपदाद् भातेर्भवतेर्वा 'मृगय्वादयश्च (उ० १, ३६)'—इति कुप्रत्ययः पूर्वपदस्य उवर्णटिलोपः सम्प्रसारणञ्च निपात्यते। क्षयतेरैश्वर्यकर्मणः क्षियतेर्वा 'वृतेश्छन्दसि (उ० ४, १३६)'—इति बाहुलकादिनि टिलोपश्च। ऋभूणां क्षयति ईष्टे, ऋभौ महति स्थाने निवसति वा। "त्वमृभुक्षा नर्यस्त्वं पाट् (ऋ० सं० १, ५, ४, ३)—इति निगमः॥

(११) उक्षा। उक्षतेर्वृद्ध्यर्थात् 'श्वन्नुक्षन्पूषन् (उ० १, १५९)'—इति कनिन्प्रत्ययान्तो निपात्यते। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(१२) विहायाः। वहिहाधाञ्भ्यश्छन्दसि (उ॰ ४, २१९)—इति जहातेर्जिहीतेर्वा बाहुलकात् युगभावेऽपि युगागमो निपात्यते। "कृष्णादुदस्थादर्या३ विहायाः (ऋ॰ सं॰ २, १, ४, १)"—इति निगमः॥

(१३) यहः। यजतेः 'शेवयह्वजिह्वाग्रीवाप्वामीवा (उ॰ १, १५२)'—इति वन्प्रत्ययो जकारस्य हकारश्च निपात्यते। यजते देवपूजादिकं करोति। यद्वा, 'यसु प्रयत्ने (दि॰ प॰) 'यसोश्च'—इति क्नप्रत्ययः'—इति भोजदेवः। यस्यति प्रयत्नते शत्रुत्याजयादौ। 'यह इति महतो नामधेयम् यातश्च, हुतश्च भवति'—इति (निरु॰ ८, ८) भाष्ये 'यातश्चासावाहूतश्च पार्थिभिः, हुतश्चासौ शरणार्थिभिः, विषयातुत्वं दर्शितम्' इति स्कन्दस्वामी। ततोऽत्र यातेर्ह्वयतेश्च 'गेहे कः (१, १, १४४)' इति बाहुलकात् भूते कप्रत्ययो ह्वयतेः सम्प्रसारणाभावश्च। "प्रयो यह्नं पुरूणाम् (ऋ॰ सं॰ १, ३, ८, १)—इति निगमः।

(१४) ववक्षिथ। (१५) विवक्षसे। 'तत्र ववक्षिथ विवक्षस इत्यंते (निरु॰ ३, १३)'—इत्यादि भाष्ये अनयोराख्यातयोर्महत्त्वामसु पठनीयत्वं महद्वाचकत्वं चोपपादितम् स्कन्दस्वामिना। ववक्षिथेत्यत्र 'सन्यत (८, ४, ७१)"—इतीत्वाभावः, वक्षयवनस्थाने वतुययनम्, इकारात् परत्वाभावस्येत्यत्र व्यत्ययेन। "अभिविश्वं ववक्षिथ (ऋ॰ सं॰ १, ६, १, ५)"—"शीरं पावकशोचिषं विवक्षसे (ऋ॰ सं॰ ७, ७, ४, १)"—इति निगमौ॥

(१६) अम्भृणः। अमतेः क्विप्। बिभर्त्तेः 'इणसिञ्जिदि-
। ३, २)'—इत्यादिना बाहुलकात् नप्रत्ययः। "पिशङ्गभृष्टि-
भृणम् (ऋ० सं० २, १, २२, ५)"—इत्यत्र 'अम्भृणस्य महतः
त्रस्य हेतुभूता'—इति स्कन्दस्वामी॥

(१७) माहिनः। महतेः। 'महेरिनण् च (उ० २, ५३)'
इति इनण्प्रत्ययः। "प्रत्यो न हर्मिस्तोमं माहिनाय (ऋ० सं०
, ४, २७, १)"—इति निगमः॥

(१८) गभीरः। वाङ्नामसु व्याख्यातम् (६६ पृ०)। प्रवि-
गृतो महति स्थाने लिप्यन्ते। "उरुव्यचा धरिमता गभीरम् (ऋ०
सं० १, ७, २६, २)"—इति निगमः॥

(१९) ककुहः। 'ककु सहने'। 'ककेरहः'—इति उह
प्रत्ययः। सहते अभिभवति शत्रून् सहते क्षमतेऽपराधान् वा।
"यच्चन्ते वां ककुहासः (ऋ० सं० १, ३, ३३, ३)"—इति निगमः।
'ककुदः इति महन्नाम'—इति स्कन्दस्वामी॥

(२०) रभसः। 'रभ राभस्ये' (भ्वा० आ०)। 'अत्यविच-
मितमिनमिरमिलमिलमितपिवलितलिनकिममहिभ्योऽसच् (उ० ३,
११३)'। रभते महान्ति कर्मांणि, संरभ्यते वा शत्रुषु। "अथैनं
पृषा रभसासो अग्धः (ऋ० सं० ८, ५, ३, ४)"—इति
निगमः॥

(२१) बाधत्। बाधतेः 'संश्चत्तृपद्वेहदित्यादयः (उ० २, ७१)'
—इतीति प्रत्ययः वा आगमश्च निपात्यते। "स बाधतोऽनहुरो
दंसुजूनः (ऋ० सं० २, १, २, ४)"—इति निगमः॥

(२२) विरप्शी। 'रपलप व्यक्तायां वाचि (भू० प०)' विपूर्वः। 'रपभृकम्यभिकुभ्यः शक्'—इति बाहुलकात् शक्। विविधं रपन्तीति विरप्शाः तेऽतारः, तेऽस्य सन्ति इति विरप्शी। यद्वा, विविधं रपणं तदस्यास्ति वा। महि महः इत्यस्मुभन्तरालश्च। विरप्शी गोमती मही (ऋ० सं० १, १, १६ ३)"—इत्यादीशरान्तोपादानं सन्देहनिवृत्त्यर्थम्। "क्रत्वे अपियो विरप्शीन् (ऋ० सं० ४, ७, १२, २)"—"विरप्शिने वज्रिणे शन्तमानि (ऋ० सं० ४, ७, ४, १)"—इति निगमौ।

(२३) अद्भुतम्। भू सत्तायाम् (भू० प०)। 'अदि भुवो डुतच् (उ० ५, १)'। 'अद्भुत्याश्चर्यार्थोऽव्ययम्'—इति क्षीरस्वामी। तत्र सम्पूर्वाद् विभर्तेर्वा बाहुलकात् डुतन् प्रत्यये समोऽभावश्च। सम्यक् पोषितो धनादिभिः, सम्यक् बिभर्या धिनेनेति वा। "सदसस्पतिमद्भुतम् (ऋ० सं० १, १, ३५ १)"—यपद्दन्तस्याद्भुतस्य दक्षा (ऋ० सं० १, २, २२, ४)"—इत्यत्र 'महनामाद्युदात्तः स्यादाश्चर्यभूतेऽन्तोदात्तः स्वरः'—इति माधवः। "तत्र स्तुरीपमद्भुतम् (ऋ० सं० २, २, ११, ४)"—इति निगमः॥

(२४) बंहिष्ठः। 'बहि महि वृद्धौ' (भू० आ०)' लङ्घि बंहोर्नलोपश्च ।(उ० १, २८)' - इति बहुपदम्, तत इष्ठन्प्रत्ययः। 'बंहते-र्बहुलम् मत्वर्थीयः—इति क्षीरस्वामी। अतिशयेन बहुलो बंहिष्ठः। प्रियस्थिरस्फिरोरुबहुल (६, ४, १५७)'—इत्यादिना बंहादेशः। यद्वा, 'निबुलवमृलुलवमूलपृलपृषविषसपूत्यादयः'—इति वहेद-

स्वप्नत्ययो नलोपश्च निपात्यते। अन्यत् पूर्ववत्। "यदुवं-दिष्टम् नाति विधेसुदानू (ऋ० सं० ४, ४, ३१, ३)"—इति निगमः॥

(२५) बर्हिषम्। बृह बृहि वृद्धौ (भू० प०)'। 'बृंहेर्नलोपश्च (उ० २, १०२)'—इति इसिप्रत्ययः बर्हिःशब्द उपपदे सतः 'सत्सूद्विष (३, २, ६१)'—इत्यादिना क्विप्। पृषोदरादित्वाद् बर्हिषः सकारलोपः। सुषामादित्वात् (८, ३, ९८) षत्वम्। यद्वा 'सनिते (८, ३, ११)'—इति। 'सर्वधातुभ्यः (उ० ४, ११४)'—इति इन्। अन्यत् पूर्ववत्। परिवृद्धे स्थाने स्यादिति हि महान्। निगमोऽन्वेषणीयः॥

इति पञ्चविंशतिर्महन्नामानि॥३॥

गयः (१)। कृदरः (२)। गर्तः (३)। हर्म्यम् (४)। अस्तम् (५)। पस्त्यम् (६)। दुरोणे (७)। नीळम् (८)। दुर्याः (९)। स्वसराणि (१०)। अमा (११)। दमे (१२)। कृत्तिः (१३)। योनिः (१४)। सद्म (१५)। शरणम् (१६)। वरूथम् (१७)। छर्दिः (१८)। छदिः (१९)। छाया (२०)। शर्म (२१)। अजम् (२२)। इति द्वाविंशतिर्गृहनामानि॥४॥

गयः। व्याख्यातमपत्यनामसु (११० पृ०)। गम्यते प्रास
गच्छत्यनेन सुखम्। गत्यर्थेष्वेवमर्थो योद्धव्यः। गीयते सुख
स्वास्थ्यातिशयेन, श्रवन्त्यस्मिन् स्थिता देवा इति च। "मघ
दाशुषे गयम् (ऋ० सं० १, ५, २१ २)"—इति निगमः॥

(२) छर्दिः। 'छृदी छेदने' (सु० द० प०)'। 'छृदत्यदभ
(उ० ५, ४४)—इति अरन्प्रत्ययो गुणाभावश्च तकारस्य दकारश्च
निपात्यते। छृस्यते छिद्यतेऽनेन क्लेशः परिच्छिन्न वा सुशाल
मर्यादया। यद्वा, 'दृङ्‌ आदरे (सु० आ०)'। 'प्रहिद्रुनिधिग
मश्च(३, ३, ५८)'—इत्यप्। छृतो दर आदरोऽत्र छृतदरः। पृषो-
दरादित्वात् (६, ३, १०६) तशब्दलोपः। निगमोऽन्वेषणीय॥

(३) गर्तः। 'गॄ शब्दे (क्र्या० प०)' स्तुतिकर्मा वा। हसि-
मृग्रिण्वामिदमिलूपूधूर्विभ्यस्तन् (उ० ३, ८३)'—इति तन्प्रत्ययः।
शब्द्यते तस्मिन् स्तूयते वा। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(४) हर्म्यम्। 'हृञ् हरणे' (भू० उ०)'। 'माध्यविभ्यशिभ्य'
इति यन्प्रत्ययो मुडागमो गुणश्च निपात्यते। हरति मनुष्यमने
भार्क्षायतेऽत्र धान्यादि। यद्वा, 'भ्रम द्रम हम्म मीमृ गतौ
(भू० प०)'। भघ्न्यादित्वाद् (उ० ४, १०८) यक्प्रत्ययः।
"मन्योरियाय हर्म्येषु तस्थौ (ऋ० सं० ८, ३, ४, ४)"—इति
निगमः॥

(५) अस्तम्। 'अस् भुवि (अदा० प०)' 'अस गतिदी-
प्त्यादानेषु (भू० उ०)' 'असु क्षेपणे (दि० प०)'। 'हसिमृग्रिण्वामि
(उ० ३, ८३)'—इति बाहुलकात् तन्। छिनीयैकवचनं

भवत्यङ्गनमुखं दीप्यते हि तत्। आदीयते स्वीक्रियते वा सदर्थिभिः, क्षियन्तेऽस्मिन् पदार्थाः इति वा। "अस्तं न गावो नक्षन्त इद्धम् (ऋ० सं० १, ५, १०, ५)"—इति निगमः। "तमग्निमस्ते वसवो न्यृण्वन् (ऋ० सं० ५, १, २३, २)"—इति च।

(६) पस्त्यम्। 'मध्यचिध्य'—इत्यादिनौणादिकः क्यच्, नुगागमश्च निपात्यते। पसन्त्यस्मिन्। यद्वा, पस्लृ गतौ (भ्वा० प०)'। निपातनात् सकार उपजनः। पस्त्या 'पसेः सङ्घत्यर्थे वा'—इति माधवः। "धरुणः पस्त्याऽऽ सा (ऋ० सं० १, २, १७, ५)"—"प्र दाश्वान् पस्त्याभिरस्थित (ऋ० सं० १, ३, २१, २)"—इति निगमौ। 'पस्त्यमिति गृहनाम। अजादित्वात् (४, १, ४) टाप्'—इति स्कन्दस्वामी।

(७) दुरोणे। 'शल्यासाक्ना'—इत्यादिभोजसूत्रे मादिग्रहणात् दुरोणादयः'—इति वृत्तिः। दुःपूर्वात् अवतेर्नकि इति गुणः। 'दुरोण इति गृहनाम। दुःखामवन्ति दुस्तर्पाः (निरु० ४, ५)'—इति भाष्ये दुःखपूर्वस्यावतेः रक्षणार्थस्य तर्पणार्थस्य वा ल्युटि छान्दसत्वात् सम्प्रसारणम्, आद्गुणश्च। गृहाण्येव दुःखामवन्ति दुस्तर्पा इति पर्यायेणास्यार्थकथनम्'—इति स्कन्दस्वामी। "जुष्टो दमूना अतिथिर्दुरोणे (ऋ० सं० ३, ८, १८, ५)"—"मध्ये निषत्तो रण्वो दुरोणे (ऋ० सं० १, ५, १३, ४)" इति निगमौ॥

(८) नीडम्। 'स्फाडकोडतुडोडादयः'—इति डक्प्रत्ययः, प्रत्ययादेर्नौणो गुणाभावश्च निपात्यते। नीयन्तेऽत्र पदार्थाः,

भवति शुम्भिःस्परानमिति वा। "मा वो महः शुरः सनत्नीळ ( ऋ० सं० ८, १, १०, १ )"—इति निगमः।

(९) दुर्याः। 'दुर्वी हिंसायाम् (भ्वा० प०)'। 'बहुलमन्यत्रापि' यत्प्रत्यये वकारलोपे दीर्घाभावश्च निपात्यते। हिंसन्ति मन्त्रादि हि तं दुर्यम्। यद्वा, दुःशब्दपूर्वात् यातेः 'घञर्थे कविधानम् (३, ३, ५८, वा २)'—इति कः। 'दुःखेन प्राप्यन्ते, दुरः गृहद्वाराणि अर्हन्तीति वा दुर्याः गृहा उच्यन्ते'—इत्युवटः। "मधीयस्य प्रवद सोम दुर्यान् ( ऋ० सं० १, ६, २२, ४ )"—इति निगमः॥

(१०) स्वसराणि। 'व्याख्यानमह्नांमस्तु ( ७४ पृ० )। स्वैः सननेन त्रियते प्राप्यते स्वैरृहयतो ज्ञातिभिः श्रियते, सुखं भस्यन्ते वास्मिन् पदार्थाः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(११) अमा। 'अम गतिभक्षशब्देषु (भ्वा० प०)'। 'पुंसि सञ्ज्ञायां घः प्रायेण ( ३, ३, ११८ )'। गम्यन्तेऽस्मिन् भक्ष्यन्ते शब्दायन्ते वा। यद्वा, निपातोऽयम्। "अमात्यम् ( ऋ० सं० ५, २, २०, १ )"—इत्यत्र, उवटः—'अमा गृहवचनः सहवचनो वा। अव्ययात् त्यप् तत्र भव इत्यर्थे। गृहे सत्याह्वा भवति अमात्यः'—इति। "सा नो अमा सो अरणे निपातु ( ऋ० सं० ८, २, ५, ७ )"—"अमा सते वहमि भूरिवामम् ( ऋ० सं० २, ६, ६, २ )—"अमाजूरिव पित्रोः सचासती ( ऋ० सं० २, ६, २६, २ )"—इति निगमाः॥

(१२) दमे। 'दम उपशमने ( दि० प० )'। घञ्। 'नोदात्तोपदेशस्य ( ७, ३, ३४ )'—इति वृद्धिप्रतिषेधः शाम्यतेऽनेन

शीतादि, दान्तः क्लेशः। "वर्द्धमानं स्वेदमे (ऋ० सं० १, १, २, ३)" —"हस्कर्त्तारं दमेदमे (ऋ० सं० ३, ५, ६, ३)"—इति निगमौ॥

(१३) कृत्तिः। 'कृती छेदने (तु० ० प०)' क्तिन्, इन्दरय-
पर्णः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(१४) योनिः। व्याख्यातमुदकनामसु (१३७ पृ०)। मिश्र-
तैऽनेन सुखम्, पृथग्भूयन्तेऽनेनामित्रा इति पर्यायतो वा प्राकारा-
दिना जायेय। "जायेव योनावरं विश्वस्मै (ऋ० सं० १, ५, १०,
३)"— इति निगमः॥

(१५) सद्म। सदेर्मनिन् सीदन्त्यस्मिन्। "सद्मेव धीराः
सम्माय चक्रुः (ऋ० सं० १, ५, ११, ५)"—इति निगमः। 'सद्म
गृहनाम'—इति स्कन्दस्वामी॥

"शर्म" इति केचित् पठन्ति। शृणोतेर्मन्। व्रियते तेन
सम्मन्यते वा शृहिभिः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(१६) शरणम्। शृणातेः 'युच् बहुलम् (उ० २, ७४)'—इति
युच्। शृणाति शीतादिक्लेशम्, रक्षितव्यान् वा क्लेशेभ्यः 'शरिः
प्राप्त्यर्थः'—इति माधवः। प्राप्यते हि तत्। "सोदस्येव
शरण आ महस्व (ऋ० सं० २, २, १६, १)"—इति निगमः॥

(१७) वरूथम्। 'वृञ् वरणे (स्वा० उ०)'। जॄवृञ्भ्या-
मूथन् (उ० २, ६)'। वर्मवद्वर्णः। "मवा वरूथं गृणते विभावो
(ऋ० सं० १, ४, २४, ५)"—इति निगमः॥

(१८) छर्दिः। 'छर्द सन्दीपने (चु० प०)' 'अर्चिशुचिहुसृपि-
छादिछर्दिभ्य इसिः (उ० २, १०१)'। सन्दीप्यते शाल्यया। "प्रनो

पस्कानास्पूर्व पृथुज्यर्हिः (ऋ० सं० १, ४, ५, ५)"—"सव मजिरश्वर्हिः (ऋ० सं० ६, ४, ५२, १)"—इति निगमौ ॥

(१९) छदिः । 'छद मापवर्जे (चु० ३०)' । लिट् । पूर्व यदिम् । 'छादेर्घे द्व्युपसर्गस्य (६, ४, ९६)' । 'इस्मन्त्रन्क्विषु च (६, ४, ९७)"—इति ह्रस्वः । णिलोपः । छादनं छदिः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(२०) छाया । 'छो छेदने (दि० ५०)' । माध्यासर्मस्यो याः । पृषिवदर्थः । छायाकरत्वाद्वा छाया । "यस्य छाया सृ (ऋ० सं० ८, ७, ३, २)" — इति निगमः ॥

(२१) शर्म । शृणातेः शारेः श्रयतेर्वा मन् । श्रयतेर्बाहुलका सिद्धिः । श्रीयते हि तत् । अन्यत्र शरणवदर्थः । "स्योनें न्द्रस्य शर्मणि (ऋ० सं० १, १, ८, १)"—"त्रिधातुशर्म वह शुभस्पती (ऋ० सं० १, ३, ४, ६)"—इति निगमौ ॥

(२२) अज्म । अजेः 'अर्तिस्तुसुहुसृधृक्षिश्च (उ० १, १३९)—'इत्यादिना बाहुलकात् मन् । अस्तवदर्थः । "येषामज्मेषु पृथिवी (ऋ० सं० १, ३, १२, ३)"—इति निगमः ॥

इति द्वाविंशतिर्गृहनामानि ॥ ४ ॥

इरज्यति (१) । विधेम (२) । सपर्यति (३) । नमस्यति (४) । दुवस्यति (५) । ऋध्नोति (६) । ऋणद्धि (७) । ऋच्छति (८) ।

सपति (९)। विवासति (१०)। इति दश परिचरण कर्माणः ॥ ५ ॥

(१) इरज्यति। 'इरज् ईर्ष्यायाम्' कण्ड्वादिः, गतिक मत्तु। अनेकार्थत्वात् इत्यादि यदुक्तं तस्मिन्नध्याये सर्वत्र धातुषु तद् बोद्धव्यम् ॥

(२) विधेम। 'विध विधाने' तुदादिः। लिङुत्तमपुरुषबहुवचनम्। "यज्ञैर्विधेम नमसा हविर्भिः (ऋ० सं० २, ७, २४, २)"—"हविष्मन्तो विधेम ते (ऋ० सं० १, ३, ८, २)" "—होतेव सद्म विधतो वितारीत् (ऋ० सं० १, ५, १, १)"—इति निगमः।

(३) सपर्यति। 'सपर पूजायाम्' कण्ड्वादिः। "दूतं देव सपर्यति। (ऋ० सं० १, १, २३, २)"—इति निगमः ॥

(४) नमस्यति। 'नमोवरिवश्चित्रङः क्यच् (३, १, १९)'। नमसः सम्भ्रायाम्। नमः करोति। "इन्द्रं नमस्यन्नुपमेभिरर्कैः

(७) भ्रणदि । भरणयोगेन भ्रम् ॥

(८) भ्रञ्जति । 'भ्रस्ज गतौ ब्रियाणत्यमूर्तिमारोपु' (धु॰ ७० ) ॥

(९) सपति । 'षप समवाये (धु॰ ७०)' । "सविदुत्तो विदुष्ट सपेम ( ऋ॰ सं॰ ४, ५, १८, ५ )"—इति निगमः ।

(१०) विपासति । मैत्रकधातुः । 'विपूर्वात् षलेर्णिच्' । 'छन्दस्युभयथा ( ३, ४, ११७ )'—इति शपि आर्द्धधातुकत्व णिलोपः'—इति भट्टभास्करमिश्रः । हविष्मा' माविवासे ( ऋ॰ सं॰ १, १, २३, ३ )" ।

इति दश परिचरणकर्माणः ॥ ५ ॥

शिम्बाता (१) । शतरा (२) । शातपन्ता (३) । शर्म (४) । स्यूमकम् (५) । शेवृधम् (६) । मयः (७) । सुग्म्यम् (८) । सुदिनम् (९) । शूषम् (१०) । शुनम् (११) । शग्मम् (१२) । भेषजम् (१३) । जलाषम् (१४) । स्योनम् (१५) । सुम्नम् (१६) । शेवम् (१७) । शिवम् (१८) । शम् (१९) । कम् (२०) । इति विंशतिः सुखनामानि ॥ ६ ॥

(१) शिम्याता। 'शिङ् निशाने (स्वा० उ०)'। 'निम्बविम्ब-म्बदिम्बडिम्बस्तम्बसम्पादयः'—इति शिनोतेर्वप्रत्ययो मुम् निपात्यते। अततेर्येञ्। दुःखानि तनूकुर्वत् प्राप्यते॥

(२) शतरा। शतं बहु, अनेकमिन्द्रियप्रसादादि राति ददाति 'आतोऽनुपसर्गे कः (३, २, ३)'॥

(३) शातपन्ता। 'शो तनूकरणे (दि० प०)' निष्ठा। पततेः हसिमृग्रिण्वामि (उ० ३, ८३)'—बाहुलकात् तन्। शातेन दुःखानां तनूकरणेन पत्यते स्तूयते। त्रिष्वपि द्विवचनस्या-कारः। "मित्रेव अरता शतरा शातपन्ता (ऋ० सं० ८, ६, १, ५)"—इति निगमः।

(४) शर्म। व्याख्यातं गृहनामसु (३१८ पृ०)। "ता नो देवीः सुहवाः शर्म यच्छत (ऋ० सं० ४, २ २८, ७)"—इति निगमः॥—अत्र स्थाने "शिल्पः"—इति केचित् पठन्ति। 'शल गतौ (भ्० प०)'। 'पलिशल्योर्युक् च'—इति युक्प्रत्ययो बाहु-लकादकारस्यैकारः। गम्यते पुण्यवद्भिः, गच्छत्यनेन तृप्तिम्, गच्छति यान्त्यमनित्यत्वात्। पचमर्था गत्यर्थेषु योद्धव्याः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(५) स्यूमकम्। 'सिवु तन्तुसन्ताने (दि० प०)'। अवि-सिविसिशुषिभ्यः किन् (उ० १, १४१)'—इति मन्प्रत्ययः। 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च (६, ४, १९)' यणादेशः, स्वार्थे कः। स्यूतं पुण्यवति। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(६) शेवृधम्। शेवान्दे उपपदे वृधेः इगुपधलक्षणः कः।

शोवस्य वर्द्धयितृ शोवृधम्। पृषोदरादित्वादुभयत्र रूपसिद्धिः। "सशोवृधमधिधायुत्तमस्मे (ऋ० सं० १, ४, १८, ६)"—इति निगमः॥

(७) मयः। 'मिञ् हिंसायाम् (स्वा० उ०)'। असुन्। हिनस्ति दुःखम्। "मयः कृणोषि प्रय आ च सूरये (ऋ० सं० ८, २, ३३, २)"—इति निगमः॥

(८) सुम्नम्। सुपूर्वात् गमेः अघ्न्यादित्वात् यत्प्रत्यय उपधालोपश्च। "उषा ददातु सुम्नम् (ऋ० सं० १, ४, ५, १)" —"आ सुम्नाय सुम्नयम् प्राता (ऋ० सं० ६, २, ७, ५)"—इति निगमौ॥

(९) सुदिनम्। व्याख्यातमहर्नामसु (७५ पृ०), अत्र सुपूर्वं सुष्ठु द्यति दुःखम्, खण्ड्यते वा भाग्यविपर्ययेण। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(१०) शूषम्। व्याख्यातं बलनामसु (२३३ पृ०)। शुष्यत्यनेन दुःखम्, मिथाघटश्च सुखम्। "सास्माके भिरेतरी न शूषैः (ऋ० सं० ४, ५, १४, ४)"—इति निगमः॥

(११) शुनम्। 'शुन गतौ (तु० प०)'। गेहे कः (३, १, १४४)'—इति बाहुलकात् कः। "शुनं नः फाला विकृषन्तु भूमिम् (ऋ० सं० ३, ८, ६, ८)"—शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रम् (ऋ० सं० ३, २, ४, ७)—इति निगमौ॥

(१२) शग्मम्। शंशब्दे उपपदे गमेः 'गेहे कः (३, १, १४४)'—इति कः। गमहनेत्युपधालोपः (६, ४, ९८)। पृषोदरा-

त्यात् शमो मलोपः। सुखं गम्यतेऽनेन दुष्कृतादिशमनेन वा। यद्वा, शकेः 'युजितिजिरुचां कुक्च (उ० १, १४२)'—इति बाहुलकात् क्प्रत्ययः, ककारस्य गकारश्च। शक्नोति तृप्तिं जनयितुम्। "वास्तोष्पते शग्मया संसदाते (ऋ० सं० ५, ४, २१, २)"—इति निगमः॥

(१३) भेषजम् (१४) जलाषम्। व्याख्याते उदकनामसु (१४६, पृ०) निरुक्तपठितत्वे सुखनाम। "रुद्रं जलाषभेषजम् (ऋ० सं० १, ३, २६, ४)"—इति निगमः॥ 'जलाषजं सुखादौषधम्'—स्कन्दस्वामिभाष्यम्॥

(१५) स्योनम्। 'षिवु तन्तुसन्ताने (दि० प०)'। 'सिवेष्टेर्यूट् च (उ० ३, ८)'—इति नप्रत्यये गुणः। स्यूमवदर्थः। स्योनमिति सुखनाम, 'स्यतेरवस्यन्त्येतत्'—इति (निरु० ८, १) भाष्ये 'स्यतेः सेवतेश्च स्योनम्'—व्याख्यातं स्कन्दस्वामिना। तत्र बाहुलकान्नप्रत्यये टेर्यूट्। "देवेभ्यो अदितये स्योनम् (ऋ० सं० ८, ६, ८, ४)"—"स्योना पृथिवि भवानृ (ऋ० सं १, २, ६, ५)"—इति निगमौ॥

(१६) सुम्नम्। 'राक्नासास्नासम्नद्युम्ननिम्नेति भोजसूत्रम्। शोभनेन कर्मणा मीयते निर्मीयते, सुष्ठु मीयते परिच्छिद्यते मार्गेनेति वा। "क यः सुम्ना नव्यांसि (ऋ० सं १, ३, १५, ३)"—"सुम्नायं घर्त्तयामसि (ऋ० सं० ६, ४, ५५, १)"—इति निगमौ॥

(१७) शेवम्। (१८) शिवम्। 'शीङ् स्वप्ने (अदा० आ०)' 'इण्शीभ्यां वन् (उ० १, १५०)'। 'सर्वनिघृष्व (उ० १, १५१)'

—इति शाङ्गे ह्रस्वत्वं घञ्प्रत्ययो गुणाभावश्च निपात्यं 'शेवमिति सुखनाम (निरु० १०, १७)' इत्यादि भाष्ये। शिष्वे र्युत्पादितावेतौ। तत्रार्थस्तु—शेपति हिनस्ति क्लेशं, शेवर्यं वा स्वाश्रयम्। "जने न शेव आहूर्यः सन् (ऋ० सं० १,५ १३, २)"—"शिवाभिर्न स्वयमानाभिरागात् (ऋ० सं० १,५,१३, २)"—इति निगमौ॥

(१९) शम्। निपातोऽयम्। यद्वा, शाम्यतेर्विन्। शामयि क्लेशानाम्। "शं ते सन्तु प्रचेतसे (ऋ० सं० १, १, १८ २)"—इति निगमः॥

(२०) कम्। अयमपि निपातनम्। "श्रियमेकं भानुमिः सम्मिमिक्षिरे (ऋ० सं० १, ६, १३, ६)"—"आ यो मर्त्र्य तनाय कम् (ऋ० सं० १, ३, १६, २)"—इति निगमौ। "भद्रे कनिक्र चरतो वितर्त्तरम् (ऋ० सं० १, ७, १४, २)"—इत्यत्र 'कमिति सुखनामेदमव्ययम्'—इति हरदत्तः॥

इति विंशतिः सुखनामानि॥ ६॥

निर्णिक् (१)। वव्रिः (२)। वर्पः (३)। वपुः (४)। अमतिः (५)। अप्सः (६)। प्सुः (७)। अप्नः (८)। पिष्टम् (९)। पेशः (१०)। कृशा-नम् (११)। प्सरः (१२)। अर्जुनम् (१३)।

ताम्रम् (१४) । अरुपम् (१५) । शिल्पम् (१६) ।
इति षोड़श रूपनामानि ॥ ७ ॥

(१) निर्णिक् । 'णिजिर् शौचपोषणयोः (जु० उ०)' निराङ्पूर्वः क्विप् । निर्णिक्तं हि तत्, पोषयति वा प्रीतिम् । "वरुणो वस्त निर्णिजम् (ऋ० सं० १, २, १८, ३)"—इति निगमः ॥

(२) वव्रिः । 'वृञ् वरणे (स्वा० उ०)' । 'आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च (३, २, १७१)' द्विर्वचनम्, किस्वाद् गुणाभावः, यणादेशः । तद्धि स्वाश्रयमावृणोति, व्रियते वा । "विपुष् भवन्ती प्रति वव्रि औहत (ऋ० सं० २, ३, १६, ४)"इति निगमः ॥

(३) वर्पः । 'वृङ् सम्भक्तौ' (क्र्या० आ०) । 'वृञ्शीङ्भ्यांरूपस्वाङ्गयोर्युट् च (उ० ४, १९९)'—इत्यसुन् । भज्यते हि तत् । वृणोतेर्वा बाहुलकादसुन् युट् च । वव्रिवद्र्थः । "मा वर्पो अस्मदप गूह एतत् (ऋ० सं० ५, ६, २५, ६)"—इति निगमः ॥

(४) वपुः । व्याख्यातमुदकनामसु (१४३ पृ०) । उप्यते स्वाश्रयः "वपुर्भिराचरतो अन्यान्या (ऋ० सं० १, ७, २, ३)"—इति निगमः ॥

(५) अमतिः ॥

(६) अप्सः । 'अप्स इति रूपनामाप्सातेः (निरु० ५, १३)'—इत्यादिभाष्ये स्कन्दस्वामिना अप्सशब्दो व्युत्पादितः । तत्

**अस्रेमाः (१)। अनेमाः (२)। अनेद्यः (३)। अनवद्यः (४)। अनभिशस्ताः (५)। उक्थ्यः (६)। सुनीथः (७)। पाकः (८)। वामः (९)। वयुनम् (१०)। इति प्रशस्यस्य ॥८॥**

(१) अस्रेमाः। 'स्रिधु गतिशोषणयोः (प०)' दिवादिर्नञ्पूर्वं, 'मनिन् सार्वधातुभ्यः (उ० ४, १४०)'—इति मनिनि बाहुलकात् आडागमः, 'लोपो व्योर्वलि (६, १, ६६)'—इति यकारलोपः, गुणः। न गच्छत्यपकीर्तिम्, अगम्यो सत्पुरुषाणाम्, न गच्छन्त्यस्माद् गुणाः। "अस्रेमाणं तरणिं वीळु जम्भम् (ऋ० सं० ३, १, ३५, ३)"—इति निगमः॥

(२) अनेमाः। नञ्पूर्वान्नयतेर्मनिन्। नेतुमशक्यो दुर्मार्गम्। निगमोऽन्वेषणीयः।

(३) अनेद्यः। 'णिदि कुत्सायाम् (भ्रू० उ०)' नञ्पूर्वः, आगमानित्यत्वान्नुम् न क्रियते, 'ऋहलोर्ण्यत् (३, १, १२४)' "माध्यन्दिनस्य सवनस्य वृत्रहन्ननेद्य (ऋ० सं० ६, ३, १६, १)"—इति निगमः॥

(४) अनवद्यः।।

(५) अनभिशस्ताः। 'शसु हिंसायाम् (अदा० प०)'। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(६) उक्थ्यः। 'वच परिभाषणे (अदा० प०)'। 'पातृतुदिवचिरिचिसिचिभ्यस्थक् (उ० २, ६)' सम्प्रसारणञ्च। उक्थ-

ाद्स्तुतिपर्य्यायः। उक्थमर्हति। 'छन्दसि ■ (५, १, ६७)' —इति यः। स्तुत्यर्ह इत्यर्थः। "क्रतुर्भवत्युक्थ्यः (ऋ० सं० १, १, ३२, ५)"—गाय गायत्र मुक्थ्यम् (ऋ० सं० १, ३, १७, ४)"—इति निगमौ॥

(७) सुनीथः। नयतेः 'हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः क्थन् (उ० २, २)'। नीथा स्तुतिः। शोभना नीथा यस्य सः। हिरण्यहस्तो असुरः सुनीथः (ऋ० सं० १, ३, ७, ५)"—"गभीरवेपा असुरः सुनीथः (ऋ० सं० १, ३, ७, १)"—इति निगमौ॥

(८) पाकः। पातेः 'इण्भीकापाशल्यतिमर्चिभ्यः कन् (उ० ३, ४३)'—इति कन्। रक्ष्यते राजादिना गुणवत्त्वात्। "तं पाकेन मनसा पश्यमन्तितः (ऋ० सं० ८, ६, १६, ४)"—इति निगमः। "अपाको चिष्णुर्मशसे पुरूणि"—इति च॥

(९) वामः। वनपण सम्भक्तौ (भू० ५०)। 'इषियुधीन्धिदसिश्यासृस्भ्यो मक् (उ० १, १४२)'—इति बाहुलकान्मक्प्रत्ययः, नकारस्याकारश्च। सम्भजनीयो हि प्रशस्यः। "न दूळ्ये इ अनुददासि वामम् (ऋ० सं० २, ५, १२, ५)"—इति निगमः॥

(१०) वयुनम्। अजतेः 'अजियमिशीङ्भ्यश्च (उ० ३, ५८)'—इत्युनन्प्रत्ययः, वीभावः। अस्त्रीमवदर्थः। 'वयुनं वेतेः, कान्तिर्वा प्रज्ञा वा (निरु० ५, १४)'—इति भाष्यम्। तत्र बाहुलकादुनन्, मत्वर्थीयस्य लुक्, कान्तिमान् प्रज्ञावान् वा। "विमानमग्निर्वयुनञ्च वाघताम् (ऋ० सं० २, ८, २०४)"—इति निगमः॥

॥ इति दश प्रशस्यनामानि ॥ ८ ॥

**केतः (१)। केतुः (२)। चेतः (३)। चित्तम् (४)। क्रतुः (५)। असुः (६)। धीः (७)। शची: (८)। माया (९)। वयुनम् (१०)। अभिख्या (११)। इत्येकादश प्रज्ञानामानि ॥९॥**

(१) केतः। 'चायृ पूजानिशामनयोः (भू० उ०)'। 'चायः की: (उ० १, ७५)'—इति तप्रत्ययो धातोः कीरादेशो गुणश्च। पूज्यते। "पुरुत्योऽनुमेकेतमायम् (ऋ० सं ८, ५, १, ५)"—इति निगमः॥

(२) केतुः।

(३) चेतः। (४) चित्तम्। 'चिती सम्ज्ञाने (भू० प०)'। 'अञ्जिघृसिभ्यः (उ० ३, ८९)'—इति बाहुलकात् क्तः। केतवदर्थः "ऋताधानं चिचेतसम् (ऋ० सं० ३, ५, ६, ३)"—"सत्याचित्तं चित्तेन मन्महम्" इति निगमौ॥

(५) क्रतुः। व्याख्यातं कर्मनामसु (१८३ पृ०) क्रियतेऽनया धर्मादिविचारः। "अग्निर्होता कविक्रतुः (ऋ० (सं० १, १, १, ५)"—इति निगमः॥

(६) असुः। असतेः "शृस्वृस्निहित्रप्यसिवसि (उ० १, १०)"—इति उप्रत्ययः। 'असुरिति प्राणनाम (निरु० ३, ८)'—इतिभाष्ये, अस्यति क्षिपत्यनर्थान्, अस्ताः क्षिप्ताः अस्यामर्थाः इत्यर्थप्राप्त्यनर्थपरिहारात्मकमुभयमपि प्राप्नोति॥

(७) धीः। (८) शची। व्याख्याते कर्मनामसु (१८५, १८६,

)। निधीयते द्रव्येषु, धारयत्यर्थान् ध्यायन्तेऽनया देवताः, यन्ते श्रवणम्यन्तेऽनयार्थाः, गच्छत्यनया इष्टप्राप्तिमनिष्टपरिहा-म्। "चिदसि मनासि धीरसि (य० वा० सं० ४, १६)"—दोषावस्तुर्धियावयम् (ऋ० सं० १, १, २, १)"—"ऋणोरक्षं न चीभिः (ऋ० सं० १, २, ३१, ५)"—इति निगमाः॥

(९) माया। 'माङ् माने (अदा० आ०)'। 'माछाससिभ्यो ः (उ० ४, १०६)'—इति यप्रत्ययः। मीयन्ते परिच्छिद्यन्तेऽनया दार्थाः। "मायाभिरिन्द्र मायिनम् (ऋ० सं १, १, २१, ।)"—"इमामूत्वकवितमस्य मायाम् ( ऋ० सं० ४, ४, ३१, १ )' —इति निगमौ॥

(१०) वयुनम्। व्याख्यातं प्रशस्यनामसु (३२९ पृ०)। गतौ राचीवदर्थः, क्षेपणेऽसुवत्। "विद्वाँ अग्ने वयुनानि क्षितीनाम् (ऋ० सं० १, ५, १७, २)"—इति निगमः॥

(११) अभिख्या। 'ख्या प्रकथने (अदा० प०)'। आतश्चोपसर्गे ( ३, ३, १०६ )'—इत्यङ्। प्रकर्षेण कथ्यन्तेऽनयार्थाः। "अभिख्या भासा बृहता शुशुक्वनिः ( ऋ० सं० ६, २, १, ५ )" —इति निगमः। भाष्यं द्रष्टव्यम्॥

इत्येकादश प्रज्ञानामानि॥ ९॥

वट् (१)। श्रत् (२)। सत्रा (३)। अद्धा (४)। इत्था (५)। ऋतम् (६)। इति षट् सत्यनामानि॥ १०॥

(१) बट्। (२) श्रत्। (३) सत्रा। (४) अद्धा (५) इत्था। षडाद्यो निपाताः। "बण्महाँ असि सूर्य (ऋ० सं० ६, ७, ८, १)"—"श्रदग्निः समिध्यते (ऋ० सं० ८, ८, ६, १)"—"सत्रासाहस्तपा वृधि (ऋ० सं० १, १, १४, १)"—"सत्यमद्धा नकिरन्यस्त्वावान् (ऋ० सं० १, ४, १४, ३)"—"महित्व ! त्या धिया नरा (ऋ० सं० १, १, ४, १)"—इति निगमाः॥

(६) ऋतम्। व्याख्यातमुदकनामसु (१३१ पृ०)। गच्छत्यनेन सुगतिम्। 'ऋतम् ऋतं, प्राप्यते तदिन्द्रियैः'—इति माधवः। "ऋतेन मित्रावरुणौ (ऋ० सं० १, १, ४, २)"—इति निगमः॥

इति षट् सत्यनामानि॥ १०॥

चिक्यत् (१)। चाकनत् (२)। आचक्ष्म (३)। चष्टे (४)। विचष्टे (५)। विचर्षणिः (६)। विश्वचर्षणिः (७)। अवचाकशत् (८)। इत्यष्टौ पश्यतिकर्माणः॥ ११॥

(१) चिक्यत्। (२)। चाकनत्। (३) आचक्ष्म। (४) चष्टे। (५)। विचष्टे। इति चक्षिङो दर्शनार्थानि व्याख्यातानि। 'चिक्यदित्यादीनि चायत्यर्थनिगमानि'—इति स्कन्दस्वामिना भाष्यमुक्तम्। 'कित ज्ञाने (भू० प०)' यङ्लुकि, शतरि 'नुगतोऽनुनासिकान्तस्य (७, ४, ८५)'—इति न भवति।
[illegible] ॥

(३) मायक्षम्। आङ्पूर्वस्य चक्षिङो लङि मध्यमे ख्याञादेशो व्यत्ययेन। "सतश्चदायं अदितिं दितिश्च (ऋ० सं० ४, २, ३१, ३)"—इति निगमः॥

(४) चष्टे। (५) विचष्टे। केवलात् विपूर्वाच्च आत्मनेपद-प्रथमपुरुषैकवचने संयोगादि लोपे ष्टुत्वे च रूपम्। "तेभिश्चष्टे वरुणो मित्रो अर्यमा (ऋ० सं० ८, ४, २४, १)"—"इतो जातो विश्वमिदं विचष्टे (ऋ० सं० १, ७, ६, १)"—इति निगमौ॥

(६) विचर्षणिः। (७) विश्वचर्षणिः। विपूर्वात् विश्व-पूर्वाच्च 'कृष विलेखने (भ्वा० प०)'—इत्यस्मात् 'कृषेरादेश्च चः (उ० २, १०)'—इति अनिप्रत्ययः, आदेः ककारस्य चकारश्च। यद्वा, चायतेरेव बाहुलकात् अनिप्रत्ययो धातोर्हसः षमागमश्च। विविधं द्रष्टा विचर्षणिः। विश्वस्य द्रष्टा विश्वचर्षणिः। "सक्मन् पिपर्षि विप्रो विचर्षणे (ऋ० सं० १, २, ३३, १)"—स्तोमेभिर्विश्वचर्षणे (ऋ० सं० १, १, १०, ३)"—इति निगमौ॥

(८) अवचाकशत्। 'काशृ दीप्तौ (भ्वा० आ०)' अवपूर्वः। यङ्लुकि शतरि व्यत्ययेन ह्रस्वत्वम्। जनानां धेना अवचाकशद् वृषा (ऋ० सं० ७, ८, २५, १)"—"उभे सोमावचाकशत् (ऋ० सं० ६, ८, २२, ४)"—इति निगमौ॥

इत्यष्टौ पश्यतिकर्माणः॥ ११॥

हिकम् (१)। नुकम् (२)। सुकम् (३)। आहिकम् (४)। आकीम् (५)। नकिः (६)।

माकिः (७)। नकीम् (८)। आकृतम् (९)।
इति नवोत्तराणि पदानि सर्वपदसमाम्नाय ॥१२॥

(१) हिकम्। (२) नुकम्। (३) सुकम्। (४) आहिकम्। (५) माकीम्। (६) नकिः। (७) माकिः। (८) नकीम्। एते निपाताः। "यत्तुर्वसु पतिर्हिकम् (ऋ० सं० ६, ३, ४०, ४)"—"इमा नु कम्भुवना (ऋ० सं० ८, ८, १५, १)"—"सीषधामा-तिप्यतेलपसासुकम्"—"पृङ्क्तं दर्वी विमधुना हि कं गतम् (ऋ० सं० २, ८, १, ५)"—"माकीं सूर्यस्य रोचनात् (ऋ० सं० १, १, २७, ३)"—"न किरिन्द्र त्वदुत्तरो (ऋ० सं० ३, ६, ११, १)"—"माकिर्नेशन्माकीं रिषत् (ऋ० सं० ४, ८, २०, २)"—नकीं वृधीक इन्द्र ते (ऋ० सं० ६, ५, ३१, ४)"—इति निगमाः॥

(९) आकृतम्। निप्रान्तस्य कृतशब्दस्यात्र पाठात् सङ्कीर्णमपि निपातसमाहाररूपो निपातितः। कृतशब्दस्य विभक्तिप्रतिरूपकत्वात् निपातत्वमित्याहुः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

इति नव सर्वपदसमाम्नाय ॥ १२ ॥

इदमिव (१)। इदं यथा (२)। अग्निर्नये (३)। चतुरश्चिद्ददमानात् (४)। ब्रा मणा व्रतचारिणः (५)। वृक्षस्य नु ते पुरुहूतवया (६)। जार आ भगम् (७)। मेषो भूतोऽभियन्नयः (८)।

तद्रूपः (६)। तद्वर्णः (१०)। तद्वत् (११)। तथा (१२)। इत्युपमाः ॥ १३ ॥

इदमित्यादीनि भाष्यकारेणैव व्याख्यातानि ( निरु० ३, १३—१८) ॥ १३ ॥

अर्चति (१)। गायति (२)। रेभति (३)। स्तोभति (४)। गूर्द्धयति (५)। गृणाति (६)। जरते (७)। ह्वयते (८)। नदति (९)। पृच्छति (१०)। रिहति (११)। धमति (१२) कृपायति (१३) कृपण्यति (१४)। पनस्यति (१५) पनायते (१६)। वल्गूयति (१७) मन्दते (१८)। भन्दते (१९)। छन्दति (२०) छदयते (२१)। शशमानः (२२)। रञ्जयति(२३)। रजयति (२४)। शंसति (२५)। स्तौति (२६)। यौति (२७)। रौति (२८)। नौति (२९)। भनति (३०)। पणायति (३१)। पणते (३२)। सपति (३३)। पपृक्षाः (३४)। महयति (३५) वाजयति (३६)।

पूजयति (३७)। मन्यते (३८)। मदति (३९)। रसति (४०)। स्वरति (४१)। वेनति (४२)। मन्त्रयते (४३)। जल्पति (४४)। इति चतुश्चत्वारिंशदर्चतिकर्माणः ॥ १४ ॥

(१) अर्चति। 'अर्च पूजायाम् (भू० प०)'। "अर्चन्त्यर्कमर्किणः (ऋ० सं० १, १, १४, १)"—इति निगमः ॥

(२) गायति। 'कै गै शब्दे (भू० प०)'। "गायन्ति त्वा गायत्रिणः। (ऋ० सं० १, १, १९ १)"—इति निगमः ॥

(३) रेभति। (४) स्तोभति। 'रेभृ शब्दे (भू० आ०)' 'ष्टुभ स्तम्भे (भू० आ०)'। आत्मनेपदिनौ व्यत्ययेन परस्मैपदम् "रेभन्तो वै देवाश्च ऋषयश्च स्वर्गं लोकमायन् (ऐ० ब्रा० ६, ५, ६)"—"सोमः पवित्रमभ्येति रेभन् (ऋ० सं० ७, ४, ७, १)" —"परिष्टोभत विंशतिः (ऋ० सं० १, ५, ३०, ४)"—इति निगमाः ॥

(५) गूर्धयति। नैरुक्तधातुः। "तंगूर्धया स्वर्णरम् (ऋ० सं० ६, १, २९, १)"—इति निगमः ॥

(६) गृणाति। 'गृ शब्दे' क्र्यादिः स्वादिश्च। "कण्वतमो नाम गृणाति नृणाम् (ऋ० सं० १, ४, ३, ४)"—इति निगमः ॥

(७) जरते। नैरुक्तधातुः "पुरुणीथे जरते सूनृतावान् (ऋ० सं० १, ४, २५, ७)"—इति निगमः ॥

(८) ह्वयते। 'ह्वेञ् स्पर्द्धायाम् (भू० उ०)'। "यातिष्ठो यां-ह्वानाम् (ऋ० सं० ६, २, २१, १)"—इति निगमः। 'हवाः स्तोमाः ह्वयतेरर्चतिकर्मत्वात्'—इति स्कन्दस्वामी॥

(९) नदति। 'णद अव्यक्ते शब्दे (भू० प०)'। "नदस्य मा रुधतः काम आगन् (ऋ० सं० २, ४, २२, ४)"—इति निगमः॥

(१०) पृच्छति। 'प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्' तुदादिः। 'ग्रहिज्या (६, १, १६)'—इत्यादिना सम्प्रसारणम्॥

(११) रिहति। 'रिह कत्थनार्थे'—इति क्षीरस्वामी। तुदादिः। "शिशुं न विप्रा मतिभी रिहन्ति (ऋ० सं० ८, ७, ७, १)"—इति निगमः। अत्र भाष्ये तु "समानवृत्तित्वप्रदर्शनपरं लिहन्ति पर्य्यायवचनम्"—इति। "विप्रा रिहन्ति धीतिभिः (ऋ० सं० १, २, ६, ४)"—इत्यत्र 'रिहतिधमतीत्यर्चतिकर्मसु पाठात्'—इति स्कन्दस्वामी॥

(१२) धमति। गतिकर्मसु व्याख्यातः (२५८ पृ०)॥

(१३) कृपायति। (१४) कृपण्यति। (१५) पनस्यति। नैरुक्तधातवः। "सर्वताता ये कृपणन्त रत्नम् (ऋ० सं० ८, ३, ५, ३)"—'इत्यत्र कृपणन्त स्तुवन्ति'—इति भट्टभास्करमिश्रः। "त्वेषं पनस्युमर्किणम् (ऋ० सं० १, ३, १७, ५)"—इति निगमः। 'पनस्यतिरर्चतिकर्मा, स्तुत्यमित्यर्थः'—इति स्कन्दस्वामी॥

(१६) पनायते। 'पण व्यवहारे स्तुतौ च'—'पन च (भू० आ०)'। गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्य आयः (३, १, २८)'। "अभीशूनां महिमानं पनायत (ऋ० सं० ५, १, २०, १)"—इति निगमः॥

(१७) घन्यूयति। 'घल्गु पूजामाधुर्ययोः' कण्ड्वादिः। "व यति घन्दते पूर्वमाजम् (ऋ० सं० ३,७,२७,२)"—इति निगम

(१८) मन्दते। 'मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु (भ्वा आत्मनेपदी। "प्र वो महे मन्दमानायान्धसः (ऋ० सं० ८, १, १)"—इति निगमः॥

(१९) भन्दते। 'भदि कल्याणे सुखे च' आत्मनेपदी "पुरुप्रियो भन्दते धामभिः कविः (ऋ० सं० २, ८, २०, ४)"—इति निगमः॥

(२०) छन्दति। 'छदि संवरणे' चुरादिः। बहुलमन्यत्रापि संज्ञाच्छन्दसोः (उ० २, २१)'—इति लुक्। "छृपाच्छन्दुर्भवति हर्यतो वृषा (ऋ० सं० १, ४, २६, ४)"—इति निगमः॥

(२१) छदयते। 'छद अपवारणे' चुरादिः। 'सम्प्रसारणो विधिरनित्यः (प० शे० ९३)'—इति वृद्ध्यभावः। 'भद्रन्तोऽप्रयत्या' इति भट्टभास्करमिश्रः॥

(२२) शशमानः। 'शशमानः शंसमानः (निरु० ६, ८)' —इति भाष्ये 'शंसु स्तुतावित्यस्य शशमित्ययमाग्मते'—इति स्कन्दस्वामी। शंसेर्लिटि पृषोदरादित्वाद्रूपसिद्धिः। यद्वा, 'शश प्लुतगतौ (भू० प०)'। 'ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश् (३, २, १२९)'। "यो वां यज्ञैः शशमानोह दाशति (ऋ० सं० २, २, २१, २)"—इति निगमः॥

(२३) रञ्जयति। (२४) अर्चयति। 'रञ्ज रागे (भू० उ०)' 'अर्च् पर्यादर्थो (दि० प०)' हेतुमती णिच्॥

(२५) शंसति। 'शंसु स्तुतौ (भ्वा० प०)'। "मा विदन्यद्वि शंसत (ऋ० सं० ५, ७, १०, १)"—इति निगमः॥

(२६) स्तौति। 'ष्टुञ् स्तुतौ' अदादिः। 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि (७, ३, ८९)'। "इदमिन् स्तोतारं वृषण सचासुतः"—इति निगमः॥

(२७) यौति। (२८) रौति। (२९) नौति। 'यु मिश्रणे' 'रु शब्दे' 'णु स्तुतौ' अदादयः। "स्वध्वोऽशापप्रयानेभिरैवैः (ऋ० सं० ३, ८, ८, १)"—इति निगमः। "शुभ्रैरभि प्रणोनुमः (ऋ० सं० १, ५, २६, १)"—इति निगमः॥

(३०) भनति। नैरुक्तधातुः।

(३१) पणायति। (३२) पणते। 'पण व्यवहारे स्तुतौ च (भ्वा० आ०)'। 'गुपूधूप (३, १, २८)'—इत्यादिना आयः, छान्दसत्वात् आयप्रत्यये विकल्पिते पणते इति रूपम्। "देवो नयन् सविता सुपाणिः (ऋ० सं० ३, २, १३, १)"—इति निगमः। 'पाणि पणायतेः पूजाकर्मणः (२, २६)'—इति निरुक्तम्॥

(३३) सपति। 'षप समवाये (भ्वा० प०)'। "मत्सरासः प्रसुपः साकमीरते (ऋ० सं० ७, २, =२, २)"। प्रसुपः सपतेरर्चतिकर्मणः'। "धि ये ऋतन्त्यृता सपन्तः (ऋ० सं० १, ५, ११, ४)"—इति निगमः॥

(३४) पपृक्षाः। पृक्षतिर्नैरुक्तधातुः। पृचेः सनि 'हलन्ताच्च (१, २, १०)'—इत्यत्र हल्ग्रहणस्य जातिवाचकत्वात् 'अनिदिताम्

( ६, ४, २५ )'—इति मलोपः गुणाभावश्च। सनन्तालेटि ( ३, ४, ७ ), सिपि ( ३, १, ३४ ), आडागमे ( ३, ४, ९४ ), 'इतश्चलोपः ( ३, ४, ९७ )'। "धायो तव मपृक्षनी ( ऋ० सं० १, १, ३, ३ )"—इत्यत्र 'पपृक्षाः, महयति,—इत्यर्चतिकर्मसु पाठात् पृक्षतिः स्तुत्यर्थोऽपि'—इति स्कन्दस्वामी॥

(३५) महयति। 'मह पूजायाम् 'चुरादिरदन्तः। "त्वं नु मेपं महया स्वर्विदम् ( ऋ० सं० १, ४, १२, १ )"—इति निगमः॥

(३६) वाजयति। वजेर्णिच्। "वाजयामः शतक्रतो ( ऋ० सं० १, १, ८, ४ )"—इति निगमः॥

(३७) पूजयति। 'पूज पूजायाम्' चुरादिः॥

(३८) मन्यते। 'मन ज्ञाने' दिवादिः। "इमा उ त्वां भूमयो मन्यमानाः ( ऋ० सं० ३, ४, ६, १ )"—इति निगमः॥

(३९) मदति। 'मदी हर्षग्लेपनयोः ( दि० प० )'। "द्युमन्तो याभिर्मदेम (ऋ० सं० १, २, ३०, ३)"—"इन्द्रं गोभिर्मदता वस्वो ऽअर्णवम् ( ऋ० सं० १, ४, ६, १ )"—इति निगमौ। 'मदति रसतीत्यर्चतिकर्मसु पाठात्'—इति स्कन्दस्वामिभाष्यम्॥

(४०) रसति। 'रस शब्दे ( भू० प० )'।

(४१) स्वरति। 'स्वृ शब्दोपतापयोः ( भू० प० )'। "स्वरेणाद्रि स्वर्यो३ नवग्वैः (ऋ० सं० १, ५, १, ४)"—"ऋपिस्वरं चरति यासु नाम ते (ऋ० सं० ४, २, २४, ३)"—इति निगमौ। "स्वरेणाद्रिम्"—इत्यत्र 'स्वरति येनतीत्यर्चतिकर्मसु पाठात्'—इति, "ऋषिस्वरम्"—इत्यत्र 'स्वरतिरर्चतिकर्मा'—इति च स्कन्दस्वामी॥

(४२) वेनति। (४३) मन्द्रयते। नैरुक्तधातुः। "अनर्वाणं वृषभं मन्द्रजिह्वम् ( ऋ० सं० २, ५, १२, १ )"—इति निगमः। 'मन्द्रयतिरर्चतिकर्मा स्तुत्यवाचकम्'—इति स्कन्दस्वामी॥

(४४) जल्पति। 'जल्प व्यक्तायां वाचि ( भू० प० )'॥

इति चतुश्चत्वारिंशदर्चतिकर्माणः॥ १४॥

विप्रः (१)। विग्रः (२)। गृत्सः (३)। धीरः (४)। वेनः (५)। वेधाः (६)। कण्वः (७)। ऋभुः (८)। नवेदाः (९)। कविः (१०)। मनीषिः (११)। मन्धाता (१२)। विधाता (१३)। विपः (१४)। मनश्चित् (१५)। विपश्चित् (१६)। विपन्यवः (१७)। आकेनिपः (१८)। उशिजः (१९)। कीस्तासः (२०)। अद्धातयः (२१) मतयः (२२)। मतुथाः (२३)। वाघतः (२४)। इति चतुर्विंशतिर्मेधाविनामानि॥ १५॥

(१) विप्रः। 'टुवप बीजसन्ताने (भू० प०)'। 'विप क्षेपे'—इति क्षीरस्वामी। 'ऋज्रेन्द्राग्रवज्रविप्र (उ० २, २९)'—इत्यादिना रन्प्रत्यये इत्वं गुणाभावश्च निपात्यते। उप्यतेऽस्मिन्नतिशयेन मेधा। क्षिपत्यनया पापं वा। यद्वा, 'विप्'—इति सङ्ग्राम-

मामसु व्याख्यातम् (२१० पृ०), साम्यास्तीति रो मत्वर्थीयः, पृषो-दरादित्वात् जश्त्वाभावः। वाङ्मयी हि मेधा। यद्वा, प्रा पूरणे (अदा० प०)' विपूर्वः। 'आतोऽनुपसर्गे (३, २, ३)'—इति कः। 'आतो लोप इटि च (६, ४, ६४)'। विशेषेण पूरयति विद्यार्थिनामपेक्षाः। "गृणन्ति विप्र तं धियः (ऋ० सं० १, १, २६, २)"—इति निगमः॥

(२) धियः। विपूर्वात् गृणातेः 'अन्येष्वपि दृश्यते (३, २, १०१)'—इति डः। विविधं गृणात्यर्थान्। "परे हि विप्रमस्तृतम् (ऋ० सं० १, १, ७, ४)"—इति निगमः॥

(३) गृत्सः। 'गृधु अभिकाङ्क्षायाम् (दि० प०)' भृवितृपि-रुदिवृधिगृभ्यः किप्'—इति सप्रत्ययः। अभिकाङ्क्ष्यते सर्वैः। यद्वा, गृणातेः स्तुतिकर्मणो बाहुलकात् सक्प्रत्ययो ह्रस्वत्वं तुगागमश्च। स्तुत्यो लोकस्य, स्तोता वा देवानाम्। गृत्सस्य धीरा स्तवसो वियो मदे (ऋ० सं० ७, ७, ११, ५)"—नमो गृत्सेभ्यो गृत्सपतिभ्यश्च (य० वा० सं० १६, २५)"—इति निगमौ॥

(४) धीरः। दधातेः सुसुधीगृधिभ्यः क्रन् (उ० २, २३)'—इति क्रन् प्रत्ययः, 'घुमास्थागापा (६, ४, ६६)'—इतीत्वम्। धत्ते श्रुतमर्थम्, ददाति वा विद्याः शिष्येभ्यः। यद्वा, धीः प्रज्ञा कर्म वा, रो मत्वर्थीयः। 'धियमीरयति'—इति क्षीरस्वामी। तत्र धीशब्द उपपदे 'कर्मण्यण् (३, २, १)'। "समार्धीरः पाकमत्रा-विवेश (ऋ० सं० २, ३, १८, १)"—इति निगमः॥

(५) वेनः। अजतेः 'धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः (उ० ३, ६)'—नप्रत्ययः, वीभावः। गच्छति सत्कारं लोके, अपगच्छ-ति, अपगच्छत्यस्मादर्थसंशयान्, गच्छन्त्येनं विद्यार्थिनः, त्यनर्थान् पारं वा। यद्वा, वेनतेः कान्तिकर्मणो गतिकर्मणो तकर्मणो वा 'पुंसि सञ्ज्ञायां घः (३, ३, ११८),। "गिरिं न भविरोह तेजसा (ऋ० सं० १, ४, २१, २)'—इति निगमः॥

(६) वेधाः। दधातेर्विपूर्वात् 'विधाञो वेध च (उ० ४, ।)'—इत्यसुन् वेधादेशश्च। विदधाति काव्यादिः। "मोऽथा फवनेव वेधसः (ऋ० सं० ४, ३, १५, १)"—"सोमो न ऋत मजातः (ऋ० सं० १, ५, ६, ५)"—"आ पृच्छो विश्व-ऋभुर्वेधाः (ऋ० सं० १, ४, २६, २)'—इति निगमाः॥

(७) कण्वः। 'कण शब्दे (भू० प०)' 'कण निमीलने (चु० प०)' वा। 'अशुप्रुषिलटिकणिखटिविशिभ्यः क्वन् (उ० १, १४१)'। कणति स्तोत्रलक्षणं शब्दं करोति, कण्यते स्तूयते वा, निमीलयति परान् वा स्वतेजसा। "कण्वा अभि प्रगायत (ऋ० सं० १, ३, १२, १)"—"कण्वतमो नाम गृणाति नृणाम् (ऋ० सं० १, ४, ३, ४)"—इति निगमौ॥

(८) ऋभुः। 'ऋभुक्षा इत्यत्र व्याख्यातम् (३०६ पृ०)'। "ऋभुर्ऋभुभिरभि वः स्याम (ऋ० सं० ५, ४, १५, २)"इति निगमः॥

(९) नवेदाः। "प यां मूत नवेदा भतानाम् (ऋ० सं० २, ३, २६, ३)"—इत्यत्र नवेदेति न वेत्तीत्यस्मिन्नर्थे वर्त्तते। कुत

पतत्? निपातनात्, वैयाकरणा 'नभ्राण्नपान्नवेदा (६, ३, ७५)'—इति 'निपातयन्ति'—इति स्कन्दस्वामी। तत्र द्वित्व पूर्वात् विदेः कर्त्तर्यसुनि एकस्य नञो लोपोऽन्यस्य प्रकृतिभावश्च निपात्यत इति भावः। "त्रिश्चिन्नो अद्या भवतं नवेदसा (ऋ० सं० १, ३, ४, १)"—इति निगमः॥

(१०) कविः। 'कविः क्रान्तदर्शनो भवति कवतेर्वा (निरु० १२, १३)'—इति भाष्ये 'कामतेः कवतेर्वा कर्मण इति रूपम्'—इति स्कन्दस्वामी। कामतेः कवतेश्च सर्वधातुभ्यः (उ० ४, ११४)'—इतीन्प्रत्ययः। कामतेर्मकारस्य रैफलोपश्च बाहुलकात्। क्रान्तमस्यास्तीति मत्वर्थीय लुक्। कविः क्रान्तदर्शनः। 'अतीतानागतविप्रकृष्टविषयं ज्ञानं यस्य स क्रान्तदर्शनः—इत्युवटः। "कवी नो मित्रावरुणा (ऋ० सं० १, १, ४, ३)"—इति निगमः॥

(११) मनीषिणः। 'मनु अवबोधने (दि० आ०)' 'कृतॄभ्यामीषन् (उ० ४, २६)'—इति बाहुलकादीषन्। मनीषा प्रज्ञाऽस्यास्ति व्रीह्यादित्वादिनिः। यद्वा, मनस ईषा स्तुतिः प्रज्ञा वा मनीषा। पृषोदरादित्वाद्रूपसिद्धिः। पूर्ववदीन्। "घृतपृष्ठं मनीषिणः (ऋ० सं० १, १, २७, ५)"—इति निगमः॥

(१२) मन्धाता। मन्यतेर्ल्युट्, दधातेस्तृच्। मानस्य ज्ञानस्य विधातयिता, पृषोदरादिः (६, ३, १०९)। "मन्धातासि द्रविणोदा ऋता वा (ऋ० सं० ७, ५, ३०, २)"—इति निगमः॥

(१३) विधाता। विपूर्वात् दधातेस्तृच्। वेधःशब्दवदर्थः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(१४) विपः। 'विप क्षेपे (चु० प०)'। इगुपधलक्षणः कः (३, १, ३५)। विप्रवदर्थः। "अस्तृणाद् बर्हणा विपो (ऋ० मं० ६, ५, ४३, १)"—इति निगमः॥

(१५) मनश्चित्। मनःशब्दोपपदात् 'चिती संज्ञाने (भू० प०)'। स्वसादीणादिकः क्विप्। मनसा चेतयते। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(१६) विपश्चित्। विपो वाचश्चेतयते 'तत्पुरुषे कृति बहुलम् (६, ३, १४)'—इत्यलुक्। 'विपश्यंश्चेतयते'—इति क्षीरस्वामी। पृषोदरादित्वात् पश्यतेरूपम्। "धर्मकृते विपश्चिते पनस्यवे (ऋ० मं० ६, ७. १, १)"—इन्द्रं पृच्छा विपश्चितम् (ऋ० सं० १, १, ७, ४)"—इति निगमौ॥

(१७) विपन्यवः। विपनेः 'कत्युच् क्षिपेश्च (उ० ३, ४८)'—इत्यत्र प्राक्प्रत्ययनिर्देशस्याधिकविध्यर्थत्वात् कत्युच्प्रत्ययः। यद्वा, विविधं पननं स्तुतिः 'मृगय्वादयश्च (उ० १, ३६)'—इति कुप्रत्ययः। "विपन्यवो विप्रासो वाजसातये (ऋ० सं० ६, ६, १०, ६)"—इति निगमः॥

(१८) आकेनिपः। आङ्शब्दे, केशब्दे, निशब्दे चोपपदे त्रिपूर्वात् पततेः 'अन्येष्वपि दृश्यते (३, २, १०१)'—इति डः। 'तत्पुरुषे कृति बहुलम् (६, ३, १४)'। के आत्मनि पतन्ति अध्यात्मज्ञाने पतन्त इत्यर्थः। "अप्यसौ यथा केनिपानामिनो वृधे (ऋ० सं० ७, ८, २६, ४)"—इति निगमः॥

(१९) उशिजः। 'वश कान्तौ ( अदा० प० )' 'वशेः किच ( उ० २, ६८ )'—इति इजिप्रत्ययः। ग्रहिज्या ( ६, १, १६ )'—इत्यादिना सम्प्रसारणम्। कामयते शास्त्राण्यभ्यसितुं व्याख्यातुं वा। "वक्षीयन्त व औशिजः ( ऋ० सं० १, १, ३४, १ )"—इति निगमः॥

(२०) कीस्तासः। कीर्त्तयतेः पचाद्यचि ( ३, १, १३४ ) घञि वा। कीर्तयन्ति प्रशस्तानर्थान्। "कीस्तासो अभिद्यवः ( ऋ० सं० २, १, १३, २ )"—इति निगमः॥

(२१) अद्धातयः। अद्धेति सत्यनाम। अततेरत्तयः। सत्यं प्राप्नोति, गत्यर्था बुद्ध्यर्थाः, सत्यं जानाति वा। "तदद्धातयऽविदुः ( ऋ० सं० ८, ३, २३, १ )"—इति निगमः॥

(२२) मतयः। मन्यतेः क्तिन्। ज्ञायन्तेऽस्मादर्थाः। यद्वा, मतिरस्यास्ति मत्वर्थीयस्य लुक्। "अद्रोघयावं मतिभिः शविष्ठम् ( ऋ० सं० ४, ६, १३, २ )"—"त्वामिन्द्र मतिभिः सुतम्"—इति निगमौ।

(२३) मतुथाः। 'पृषोदरादयः'—इति मनेस्थकि न-कारस्य तुभावो निपात्यते। "तुथोऽसि विश्ववेदाः ( य० वा० सं० ५, ३१ )"। 'विभजत्यः ब्रह्म वै तुथः ( श० ब्रा० ४, ३, ४, १५ )'—इति श्रुतिः—इत्युवटः। मतं ज्ञानं तुथो मनुष्यैः। तेन ... सन्तः पृषोदरादित्वेन मतुथाः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(२४) वाघतः। वहेः 'संश्चत्तृपद्वेहत् ( उ० २, ८६ )'—प्रत्ययः, उपधावृद्धिः, हकारस्य घकारश्च निपात्यते।

हति अन्यार्थान्। "विष्ट्वी शमी' तरणित्वेन घाघतः ( ऋ०
१, ७, ३०, ४ )"—इति निगमः ॥
इति चतुर्विंशतिर्मेधाविन इति मेधाविनामानि ॥ १५ ॥

रेभः (१)। जरिता (२)। कारुः (३)।
ः (४)। स्तामुः (५)। कीरिः (६)। गौः (७)।
रिः (८)। नादः (९)। छन्दः (१०)। स्तुप् (११)।
ः (१२)। कृपण्युः (१३)। इति त्रयोदश-
तृनामानि ॥ १६ ॥

(१) रेभः। रेभतिरर्चतिकर्मा ( ३३६ पृ० )। अय्
ति। निगमोऽन्येष्वर्णीयः ॥
(२) जरिता। अग्नेरर्चतिकर्मणः ( ३३६ पृ० )। 'त्याम
जरितारः ( ऋ० सं० १, १, ३, २ )"—इति निगमः ॥
(३) कारुः। करोतेः 'कृवापाजि ( उ० १, १ )'—इत्युण्
र्ं "विदुष्टे सख्य कारवः ( ऋ० सं० १, १, २१, ६ )"—
निगमः ॥
(४) नदः। नदति स्तुतिकर्मा ( ३३७ पृ० )। अय्
स्य मा रुधत काम आगन् (ऋ० सं० २, ४, २२, ४)"—इति
मः ॥
(५) स्तामुः। 'षम ष्टम अवैकल्ये (धा० पा०)'। 'छन्द
णः (उ० १, २)'—इति बाहुलकादुण्। स्तोत्रकर्मणि "तामु"

—इति केचित् पठन्ति। 'तमु काङ्क्षायाम् (दि० प०)' पूर्ववाद्गुल्फांतुण्। कांक्षन्ति। स्तोतुम्। उभयोरेव निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(६) कीरिः। 'कॄ गॄ शब्दे (भू० प०)'। 'कायः कीः-इत्यन्यतः'। आकारलोपः। स्तोत्रलक्षणं शब्दमारयति। 'इन् सर्वधातुभ्यः (उ० ४, ११४)' "कीरैश्चिन्मन्त्रं मनसा वनोति तम् (ऋ० सं० १, २, ३४, ३)"—इति निगमः ॥

(७) गौः। व्याख्यातं पृथिवीनामसु (२७ पृ०)। गीयन्ते सूयन्तेनेन देवताः। "यो अश्वानां गवां गोपतिर्वशी (ऋ० सं० १, ७, १२, ४)"—इति निगमः। 'गोपतिः स्तोत्रपतिः'—इति स्कन्दस्वामी ॥

(८) सूरिः। 'सू प्रेरणे (तु० प०)'। 'सुङः क्रिः (उ० ४ ६४)'—इति सुवतेः क्रिर्भवति। प्रकर्षेण ईरयति स्तोत्रम्। "सदा पश्यन्ति सूरयः (ऋ० सं० १, २, ७, ५)"—इति निगमः ॥

(९) नादः नदतेर्घञ्। भवत्यस्मात् स्तुतिः। निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१०) छन्दः। छन्दतिरर्चतिकर्मा (३३८ पृ०)। असुन्। 'छद आच्छादने (चु० प०)'। 'छदेश्च'—इत्यसुन्। आच्छादयति स्तोत्रैः। निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(११) स्तुप्। स्तोमतिरर्चतिकर्मा (३३६ पृ०)। क्विप्। निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(७) सवनम्। 'षुञ् अभिषवे (स्वा० उ०)'। सुयुरुभ्यो युच् (उ० २, ७०)'। अभिषूयतेऽस्मिन् स्तोमः। "उप नः सवना गहि (ऋ० सं १, १, ७, २)"—इति निगमः॥

(८) होत्रा। व्याख्यानं वाङ्नामसु (१०५ पृ०)। हूयतेऽस्मिन् हविः। "होत्राविदः स्तोमतष्टासो अर्कैः (ऋ० सं० ७, ६, १८, ४)"—इति निगमः॥

(९) इष्टिः। यजेर्भावे क्तिन्। यजनं यज्ञ इत्यर्थः, इष्यते हि सः। 'इष्टिरस्त्री हविर्यज्ञे माधुरास्तः यागमात्रे नोदात्तः—इति माधवः। "यथातऽउश्मसीष्टये (ऋ० सं० १, २, ३०, २)"—इति निगमः॥

(१०) देवताता। 'दिवु क्रीडादौ (दि० प०)'। दीव्यन्ति स्तुवन्त्यत्र देवताः। देव एव देवता। 'सर्वदेवात्तातिल् (४, ४, १४२)' सप्तम्या आकारः (७, १, ३९)। "त्रिर्देवतातात्रिरु तावूतं धियाः (ऋ० सं० १, ३, ४, ५)"—"आ देवताता हविषा विवासति (ऋ० सं० १, ४, २३, १)"—इति निगमौ॥

(११) मखः। 'मह पूजायाम् (भ्वा० प०)'। 'महेः ख च' अत्र स्वयो हलोपश्च। महन्त्यत्र देवताः। यद्वा, 'मख गतौ' घः। येनयद्यर्थः। "मखःसहस्वदर्चेति (ऋ० सं० १, १, १२, ३)" "विचक्षि पक्षिः स्वपस्य ते मखः (ऋ० सं० ७, ६, १०, १)"—इति निगमौ॥

(१२) विष्णुः। 'विष्लृ व्याप्तौ (जु० उ०)'। 'विषेः कि च (उ० ३, ३७)'—इति नुप्रत्ययः। विशेषेणाप्नोति स्वर्गम्। "जूरसि धृतमानसाजुष्टो विष्णवे तस्यास्ते"—इति निगमः॥

(३) अध्वरः। ध्वरतेर्वधकर्मणः 'पुंसि सञ्ज्ञायां घः(
४, ११८)'। नञ्पूर्वः ध्वरा हिंसा, तदभावो यत्र। अतए
शिष्टाः स्मरन्ति—'ओषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यञ्चः पक्षिण स्तथा
यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युच्छ्रितां गतिम्'—इति। तस्मादुक
पश्व' यज्ञे हिंसा स्वर्जित्यामेतद्यज्ञीयवचनादहिंसा प्रतीयते।
अन्यत्र विस्तरेणोपपादितः। अथवा षष्ठ्यर्थे बहुव्रीहिः। अवि
द्यमानोऽध्वरो यस्य सोऽध्वरः, रक्षोभिरहिंसितः। "राजन्तम
ध्वराणाम् (ऋ० सं० १, १, २, ३)"—इति निगमः॥

(४) मेधः। व्याख्यातं धननामसु (२४२ पृ०)। गच्छन्त्यत्र
देवता हविर्ग्रहीतुं, दक्षिणार्थं वा सदस्यात्, हिनस्त्यनेन पशू
वा। 'कर्ता यज्ञो द्रव्याणामृतसामर्थ्याद्धविषश्च सारभूतात्'—
इति माधवः। "मेधंजुषन्त वह्नयः (ऋ० सं० १, १, ६, ३)"—
मेधेषु प्रथमं देवयन्तीः (ऋ० सं० १, ५, २५, ३)"—इति निगमौ

(५) विदथः। 'विद ज्ञाने (अदा० प०)' विद विचारणे (रु
आ०)' 'विद्लृ लाभे (तु० उ०)' 'विद सत्तायाम् (दि० आ०)'।
'रुविदिविभ्यो ङित् (उ० ३, ११५)'—इति अथप्रत्ययः। ज्ञायते
हि यज्ञः, लभ्यते हि दक्षिणादिश्च विचार्यते हि विद्वद्भिः, भाव
यत्यनेन फलम्। "अधा जिह्वी विदथमावदाथः (ऋ० सं० ८,
३, २०, २)"—इति निगमः॥

(६) मार्गः। 'नॄ नये' क्र्यादिः। 'ऋहलोर्ण्यत् (३, १,
१२४)'। नयन्ति स्वर्गं कर्तारम्, नीयतेऽन्नमनुष्ठानेन वा।
निगमोऽन्वेषणीयः॥

(७) सवनम्। षुञ् अभिषवे (स्वा० उ०)। सुयुरुवृभ्यो युच् (उ० २, ७०)। अभिषूयतेऽस्मिन् स्तोमः। "उप नः सवना गहि (ऋ० सं १, १, ७, २)"—इति निगमः॥

(८) होत्रा। व्याख्यातं धात्वान्तरमस्तु (१०५ पृ०)। हीयतेऽस्मिन् हविः। "होत्राभिरदः स्तोमतष्टासो अर्कैः (ऋ० सं० ७, ६, १८, ४)"—इति निगमः॥

(९) इष्टिः। यजेरिच्वा किन्। यजनेर्यज्ञवदर्थः, इष्यते हि तः। 'इष्टिशब्दो हविर्यज्ञे आद्युदात्तः यज्ञमात्रे मोदात्तः—इति माधवः। "यथातऽउश्मसीष्टये (ऋ० सं० १, २, ३०, २)"—इति निगमः॥

(१०) देवताता। 'दिवुक्रीडादौ (दि० प०)'। दीव्यन्ति सुपन्यत्र देवताः। देव एव देवता। 'सर्वदेवात्तातिल् (४, ४, १४२)' सप्तम्या आकारः (७, १, ३९)। "त्रिर्देवतातात्रिरा भुत पिपा: (ऋ० सं० १, ३, ४, ५)"—"आ देवताता हविषा विधासति (ऋ० सं० १, ४, २३, १)"—इति निगमौ॥

(११) मखः। 'मह पूजायाम् (भू० प०)'। 'महेः ख च' खत्र स्ययो हलोपश्च। महन्त्यत्र देवताः। यद्वा, 'मख गतौ' घः। वैनवदर्थः। "मखःसहस्वदर्चेति (ऋ० सं० १, १, १२, ३)" "विघक्ति पक्षिः स्वपस्य ■ मखः (ऋ० सं० ७, ६, १०, १)"—इति निगमौ॥

(१२) विष्णुः। 'विष्लृ व्याप्तौ (जु० उ०)'। 'विषेः कि ■ (उ० ३, ३९)'—इति नुप्रत्ययः। विशेषेणाप्नोति स्वर्गम्। "जूरसि धृतमानसाजुष्टो विष्णवे तस्यास्ते"—इति निगमः॥

(२३) इन्दुः। 'उन्दी क्लेदने (रु० प०)'। 'उन्दे रिच्चादेः (उ० १, १२)'—इत्युप्रत्ययः। क्लिद्यते सूयतेऽस्मिन् सोमः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(२४) प्रजापतिः। प्रजाशब्दः पतिशब्दश्च अपत्यनामसु (१६१ पृ०) ऐश्वर्य्यकर्मनामसु (२११ पृ०) च व्याख्यातौ। प्रजापतिर्वृष्ट्यादिहेतुत्वात्। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(२५) घर्मः। 'घृ क्षरणदीप्त्योः (भ्वा० प०)'। मक्प्रत्ययः। क्षरत्यस्मिन् सोमः, दीप्यन्तेऽत्राग्नय इति वा। "घर्मस्वेदेभिः परि यं व्यानट् (ऋ० सं० ८, २, १६, १)"—सत्यैः कर्मभिः पितृभिर्घर्मणा (ऋ० सं० ७, ६, १८, ४)"—इति निगमौ॥

इति पञ्चदश यज्ञनामानि॥ १७॥

भारताः (१)। कुरवः (२)। वाघतः (३)। वृक्तबर्हिषः (४)। यतस्रुचः (५)। मरुतः (६)। सबाधः (७)। देवयवः (८)। इत्यष्टावृत्विङ्नामानि॥ १८॥

(१) भारताः। 'भृञ् भरणे (भ्वा० उ०)'। 'भृमृदृशियजि पर्विपच्यमितमिनमिहर्यिभ्योऽतच् (उ० ३, १०३)'। 'यमग्नेरि भरत, भरतमग्नि' इत्यनुव्याख्या। धियमर्षीयातन्। 'पुनर्नो' इतिवत्याभिः। "अममिवत्रो भारता (ऋ० सं० ३, १, २३, २)" इति निगमः॥

(२) कुरवः। 'कृ विक्षेपणे (तु० प०)'। 'कृग्रोरुच (उ० १, ४)'—इति कुप्रत्ययः। विक्षिपन्त्यहानि कर्माणि। यद्वा, करोतेर्बाहुलकादुरच्। कुर्वन्ति कर्माणि। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(३) वाघतः। व्याख्यातं मेधाविनामसु (२४६ पृ०)। वहन्ति हवींषि। "उप ब्रह्माणि वाघतः (ऋ० सं० १, ४, ५, २)"—इति निगमः॥

(४) वृक्तबर्हिषः। 'वृजी वर्जने (रु० प०)'। अत्र छेदनार्थः। निष्ठा, 'श्वीदितो निष्ठायाम् (७, २, १४)'—इतीट्प्रतिषेधः। बर्हिःशब्दो व्याख्यातो उदकनामसु (१४० पृ०)। वृक्तं बर्हिर्यैः। "नासत्यो वृक्तबर्हिषः (ऋ० सं० १, १, ५, ३)"—इति निगमः॥

(५) यतस्रुचः। 'यमु उपरमे (भ्वा० प०)' निष्ठा, स्रु गतौ (भ्वा० प०)। 'स्रुवः कः—चिक् च (उ० २, ५७-५८)'—इति चिक्प्रत्ययः, इकारककारावित्सञ्ज्ञकौ। उद्यताः स्रुचो जुह्वाद्या यैः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(६) मरुतः। व्याख्यातं हिरण्यनामसु (४२ पृ०)। "बृहदिन्द्राय गायत मरुतः (ऋ० सं० ६, ६, १२, १)"—"आर्चन्नत्र मरुतः सस्मिन्नाजौ (ऋ० सं० १, ४, १४, ५)"—इति निगमौ॥

(७) सबाधः। 'बाधृ लोडने (भ्वा० आ०)' क्विप्। बाधा सह वर्त्तते इति सबाधः। राक्षोघ्नमन्त्रोच्चारणं रक्षोबाधनात्। "तं सबाधो यतस्रुचः (ऋ० सं० ३, १, २६, १)—इति निगमः॥

(२३) इन्दुः । 'उन्दी क्लेदने (रु० प०)' । 'उन्दे रि (उ० १, १२)'—इत्युप्रत्ययः । क्लिद्यन्ते पूर्यन्तेऽस्मिन् से निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(२४) प्रजापतिः । प्रजाशब्दः पतिशब्दश्च अपत्यना (१६१ पृ०) ऐश्वर्य्ये कर्मनामसु (२११ पृ०) च व्याख्याते प्रजापतिर्वृष्ट्यादिहेतुत्वात् । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(२५) घर्मः । 'घृ क्षरणदीप्त्योः (भू० प०)' । मप्रत्ययः क्षरत्यस्मिन् सोमः, दीप्यन्तेऽत्राग्नय इति वा । "घर्मस्वेदेभि द्रविणं व्यानट् (ऋ० सं० ८, २, १६, १)"—सत्यैः कर्मैः पितृभिर्घर्मणा (ऋ० सं० ७, ६, १८, ४)"—इति निगमौ ॥

इति पञ्चदश यज्ञनामानि ॥ १७ ॥

भारताः (१) । कुरवः (२) । वाघतः (३) । वृक्तबर्हिषः (४) । यतस्रुचः (५) । मरुतः (६) । सबाधः (७) । देवयवः (८) । इत्यष्टावृत्वि नामानि ॥ १८ ॥

(१) भारताः । 'भृञ् भरणे (भू० उ०)' । 'भृमृदृशियजि पर्वच्यमितमिनमिहर्मिम्योऽतच् (उ० ३, १०७)' । 'यज्ञभारेण नून, सम्भरतीति' स्कन्दस्वामी । विभर्त्तेर्वातच् । 'पुष्यन्ते दक्षिणाभिः । "अमन्थिष्टां भारता (ऋ० सं० ३, १, २३, २)" इति निगमः ॥

(२) कुरयः। 'कृ विक्षेपणे (तु० प०)'। 'कृओरच (उ० १, ')'—इति कुरप्रत्ययः। विक्षिपत्यदानि कर्माणि। यद्वा, रोतेर्बाहुलकादुरप्। कुर्वन्ति कर्माणि। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(३) वाघतः। व्याख्यातं मेधाविनामसु (३४६ पृ०)। इति हर्वींषि। "उप ब्रह्माणि वाघतः (ऋ० सं० १, ४, ५, २)" —इति निगमः॥

(४) वृक्तबर्हिषः। 'वृजी वर्जने (रु० प०)'। अत्र छेदार्थः। निष्ठा, 'श्वीदितो निष्ठायाम् (७, २, १४)'—इतीट्प्रतिषेधः। बर्हिःशब्दो व्याख्यातो उदकनामसु (१४० पृ०)। वृक्तं बर्हिर्यैः। "नासत्या वृक्तबर्हिषः (ऋ० सं० १, १, ५, ३)" —इति निगमः॥

(५) यतस्रुचः। 'यमु उपरमे (भू० प०)' निष्ठा, स्रु गतौ (भू० प०)'। 'स्रुवः कः—चिक् च (उ० २, ५७-५८)'—इति चिक्प्रत्ययः, इकारककारावित्संज्ञकौ। उद्यताः स्रुचो जुह्वाद्या यैः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(६) मरुतः। व्याख्यातं हिरण्यनामसु (४२ पृ०)। "बृहदिन्द्राय गायत मरुतः (ऋ० सं० ६, ६, १२, १)"— "आर्चन्नत्र मरुतः सस्मिन्नाजौ (ऋ० सं० १, ४, १४, ५)"— इति निगमौ॥

(७) सबाधः। 'बाधृ लोडने (भू० आ०)' क्विप्। बाधया सह वर्त्तते इति सबाधः। रक्षोघ्नमन्त्रोच्चारणं रक्षोबाधनात्। "तं सबाधो यतस्रुचः (ऋ० सं० ३, १, २६, १)—इति निगमः॥

(८) दैषयवः। दैषयान्योपलवान् 'यानैः 'मृगय्वादय (उ० १, ३६)'—इति कुप्रत्ययान्तो निपात्यते। देवान् यान्ति मनसा हविःप्रदानसमये। निगमोऽन्वेषणीयः॥

इत्यष्टाद्विधिपदनामानि ॥ १८ ॥

ईमहे (१)। यामि (२)। मन्महे (३)। दद्धि (४)। शग्धि (५)। पूर्द्धि (६)। मिमिड्ढि (७)। मिमीहि (८)। रिरिड्ढि (९)। रिरीहि (१०)। पीपरत् (११)। यन्तारः (१२)। यन्धि (१३)। इषुध्यति (१४)। मदेमहि (१५)। मनामहे (१६)। मायते (१७)। इति सप्तदश याच्ञाकर्माणः ॥ १९ ॥

(१) ईमहे। 'ई गतौ' दिवादिः। 'बहुलं छन्दसि (२, ४, ७३)'—इति शपो लुक्। "इतो वा सातिमीमहे (ऋ० सं० १, १, १२, ५)"—इति निगमः॥

(२) यामि। 'या प्रापणे' अदादिः। "तत्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानः (ऋ० सं० १, २, १५, १)"—इति निगमः॥

(३) मन्महे। 'मनु अवबोधने' तनादिरात्मनेपदी। 'लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोः (६, ४, १०७)'—इति उप्रत्ययस्य लोपः। "घर्मं

हि ते अमन्महि (ऋ० सं० १, २, ३१, ६)"—इति निगमः। 'ईमहे, यामि, मन्महे, इति यास्काकर्मसु पाठात्'—इति स्कन्दस्वामी॥

(४) दद्धि। 'दद दाने' भ्वादिः। व्यत्ययेन शपः श्लुः। 'हुझल्भ्यो हेर्धिः (६, ४, १०१)'। भाष्यं द्रष्टव्यम्॥

(५) शग्धि। 'शक्लृ शक्तौ' स्वादिः। पूर्ववत् श्लुः। 'झलां जश्झशि (८, ४, ५३)'॥

(६) पूर्धि। 'पृ पालनपूरणयोः' क्र्यादिः प्वादिश्च। व्यत्ययेन शप्, 'बहुलं छन्दसि (२, ४, ७३)'—इति लुक्। 'श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि (६, ४, १०२)'—इति धिभावः। "शग्धि पूर्धि प्रयंसि च (ऋ० सं० १, ३, २५, ४)"—रायस्पूर्धि स्वधावोस्ति (ऋ० सं० १, ३, १०, २)"—इति निगमौ॥ "शाकी भव यजमानस्य चोदिता (ऋ० सं० १, ४, १०, ३)"—इत्यत्र, "शग्धि पूर्धि (ऋ० सं० १, ३, २५, ४)"—इत्यत्र च 'शग्धिपूर्धीति याच्याकर्मसु पाठात् शकिपृणती याच्याकर्माणौ—इति स्कन्दस्वामिभाष्ये उक्तम्॥

(७) मिमिद्धि। 'मिह सेचने (भ्वा० ५०)'। 'बहुलं छन्दसि (२, ४, ७६)'—शपः श्लुः, छान्दसत्वात् ढलोपाभावश्च॥

(८) मिमीहि। 'माङ् माने' जुहोत्यादिः। व्यत्ययेन हिः। 'भृञामित् (७, ४, ७६)'। 'ई हल्यघोः (६, ४, ११३)'। "यत् सीं परिप्रे धृहती विमिन्वन् (ऋ० सं० ३, ८, ८, १)"—इत्यत्र 'मिमीहि इति याच्याकर्मसु पठ्यते, तस्येदं रूपम्, विविधं याचन्'—इति हरदत्तभाष्ये दृष्टम्॥

(९) रिरिड्ढि। 'रिह कत्थने' तौदादिकः। पूर्ववत् श्लु
हलोपाभावश्च ॥

(१०) रिरीहि। 'रीङ् गतौ'। व्यत्ययेन परस्मैपदं, हौ श
श्लुः। "प्रजावतीं रिन्द्रागोष्ठे रिरीहि (ऋ० सं० ८, ८, २३, १)"
—इति निगमः ॥ 'सङ्घायेत्यर्थमवोचत्' भट्टभास्करमिश्रः ॥

(११) पीपरत्। पृणोतेर्णिचि, लुङि, उपधाह्रस्वे, द्वित्वे,
सन्वद्भावादित्वे, 'दीर्घो लघोः (७, ४, ९४)' 'ऋतश्च (७, ४, ९२)'
'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि (६, ४, ७५)'—इत्यड्भावः ॥

(१२) यन्तारः। 'यमु उपरमे (भ्वा० प०)'। तृच्। जस्। "त्व
इन्द्रायः क्षयति शयन्ता (ऋ० सं० १, ४, ११, ४)"—इति निगमः ॥

(१३) यन्धि। 'यमु उपरमे (भ्वा० प०)'। पूर्ववच्छपोलुक्,
हेः 'वा छन्दसि (३, ४, ८८)'—इति हेरपित्वे, 'अङित्श्च (६, ४,
१०३)'—इति धीभावो मकारलोपाभावश्च। "उरु णो यन्धि
जीवसे ( ऋ० सं० ६, ५, ३, २ )"—इति निगमः ॥

(१४) हृणुष्यति। 'हृणु धरणे' कण्ड्वादिः। "पिबो रुप
हृणुष्यति ( ऋ० सं० ४, ३, ४, १ )"—इत्यत्र 'हृणुष्यतिर्यच्छ्मा-
कर्मणः'—इत्युपटः ॥

(१५) मंहेमहि। 'मही हर्षग्लपनयोः' स्वरितेत्, लिङ् ॥

(१६) मनामहे। 'म्ना अभ्यासे' व्यत्ययेनात्मनेपदम्, 'पाघ्रा-
ध्मास्थाम्ना (७, ३, ७८)'—इत्यादिसूत्रेण मनादेशः। "सानसीं
मनामहे ( ऋ० सं० १, २, २१, ३)"—इति निगमः ॥

(१७) मायते। सैत्राधातुः ॥

इति दशदश याच्ञाकर्माणः ॥ १६ ॥

दाति (१)। दाशति (२)। दासति (३)। ।ति (४)। रासति (५)। पृणक्षि (६)। पृणाति (७)। शिक्षति (८)। तुञ्जति (९)। मंहते (१०) इति दश दानकर्माणः ॥ २० ॥

(१) दाति। 'दाप् लवने' अदादिः, ददातेर्वा 'बहुलं छन्दसि (२, ४, ७३)'—इति शपो लुक्। "दाति प्रियाणि चेद्वसु (ऋ० सं० ३, ५, ८, ३)"—इति निगमः ॥

(२) दाशति। 'दाशृ दाने' स्वरितेत्। "धनं यस्ते ददाशमर्त्यः (ऋ० सं० १, ३, ८, ४)"—इति निगमः ॥

(३) दासति। 'दासृ दाने' स्वरितेत् ॥

(४) राति। 'रा दाने' अदादिः। "तस्य मे राख तस्य ते भक्षणाय"—इति निगमः ॥

(५) रासति। 'रासृ शब्दे' व्यत्ययेन परस्मैपदम्। सनो रासत्सुरुधश्चन्द्राग्राः (ऋ० सं० ४, ८, ६, ३)"—इति निगमः ॥

(६) पृणक्षि। 'पृची सम्पर्के' रुधादिः। "पृणक्षि सानसि क्रतुम् (ऋ० सं० ८, ७, २८, ४)"—इति निगमः ॥

(७) पृणाति। 'पॄ पालनपूरणयोः' क्र्यादिः स्वादिश्च। "यः पृणाति स ह देवेषु गच्छति (ऋ० सं० २, १, १०, ५)"—इति निगमः ॥

(८) शिक्षति। शकेः 'सनि मीमा (७, ४, ५४)'—इति इस्। 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य (७, ४, ५८)' संयोगादिलोपः (८, २, २१) "यस्तु भ्यंदाशाद् यो वा ते शिक्षात् (ऋ० सं० १, ५, १२, ३)"—इति निगमः। 'शिक्षतिर्दानकर्मा पठितः'—इति स्कन्दस्वामिभाष्यम्॥

(९) तुञ्जति। 'तुजि हिंसायाम् पालने च'। "तुञ्जे तुञ्जे य उत्तरे (ऋ० सं० १, १, १४, २)"—इति निगमः॥

(१०) मंहते। 'मुहि महि वृद्धौ' आत्मनेपदी। स्तोतृभ्यो मंहते मघम् (ऋ० सं० १, १, २१, ३)"—इति निगमः॥

इति दश दानकर्माणः॥ २०॥

## परिस्रव (१)। पवस्व (२)। अभ्यर्ष (३) आशिषः (४)। इति चत्वारोऽध्येषणाकर्माणः॥ २१॥

(१) परिस्रव। 'स्रु गतौ (भू० प०)' परिपूर्वः। लोण्मध्यमैकवचनम्। "इन्द्रायेन्दो परिस्रव (ऋ० सं० ६, ६, १४, २)"—इति निगमः॥

(२) पवस्व। 'पूङ् पवने (भू० उ०)'। "पवस्व सोम मन्दयन् (ऋ० सं० ७, २, १६, १)"—इति निगमः॥

(३) अभ्यर्ष। 'ऋष गतौ' तुदादिः। 'छन्दस्युभयथा (३, ४, ११७)'—इति सार्वधातुकत्वे ङित्त्वाभावात् गुणः। "अभ्यर्ष स्वायुधा"—इति निगमः॥

(४) आशिषः। अशोतेर्लेट्। 'सिब्बहुलं लेटि (३, १, ३४)' इट्, 'लेटोऽडाटौ (३, ४, ९४)' ॥

इति चत्वारोऽध्येषणाकर्माणः ॥ २ ॥

स्वपिति (१)। सस्ति (२)। इति द्वौ स्वपितिकर्माणौ ॥ २२ ॥

(१) स्वपिति। 'ञि ष्वप शयने' अदादिः। तिपि 'रुदादिभ्यः सार्वधातुके (७, २, ७६)'—इडागमः। "यो दीक्षितः स्वपिति"—इति निगमः ॥

(२) सस्ति। 'षस स्वप्ने' अदादिः। "सस्तु माता सस्तु पिता (ऋ० सं० ५, ४, २२, ५)"—इति निगमः ॥

इति द्वे स्वपितिकर्माणौ ॥ २२ ॥

कूपः (१)। कातुः (२)। कर्तः (३)। वव्रः (४)। काटः (५)। खातः (६)। अवतः (७)। क्रिविः (८)। सूदः (६)। उत्सः (१०)। ऋश्यदात् (११)। कारोतरात् (१२)। कुशयः (१३)। केवटः (१४)। इति चतुर्दश कूपनामानि ॥२३॥

(१) कूपः। कुशब्दोपपदात् पिबतेः 'अन्येष्वपि दृश्यते ३, २, १०१)'—इति डः, 'अन्येषामपि दृश्यते (६, ३, १३७)'—

इति दीर्घः। कुत्सितं पानमत्र, कृच्छ्रसाध्यत्वाज्जीवसम्भवाद्वा। यद्वा, 'कुप क्रोधे' दिवादिः। इगुपधलक्षणः कः, पृषोदरादित्वात् दीर्घः। कुप्यन्त्यस्मै मनुष्याः दुरादानजलत्वात्। यद्वा, कवतेर्गतिकर्मणः, 'कुयुभ्याञ्च (उ० ३, २५)'—इति पक्प्रत्ययः, किर्त्वाद्दीर्घश्च। गम्यते जलार्थिभिः। "त्रितः कूपेऽवहितः (ऋ० सं० १, ७, २३, २)"—इति निगमः॥

(२) कातुः। 'कै गै शब्दे (भू० प०)'। 'सितनिगमिमसिसच्यविधाञ्कुशिभ्यस्तुन् (उ० १, ६७)'—इति बाहुलकात् तुन्। शब्द्यते बहुलत्वादिना। यद्वा, कशब्दे उपपदे अतेः 'छन्दसीणः (उ० १, २)'—इति बाहुलकादुण्। कमुदकमस्मिन् अत्यते अधिगम्यते। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(३) कर्त्तः। करोतेर्वा हिंसार्थात्। 'हसिमृग्रिण्वामिदमिलूपूधुर्विभ्यस्तन् (उ० ३, ८३)'—इति बाहुलकात्तन्। क्रियते उत्पाद्यते पुरुषैः, हिंसन्त्यत्र चौराः पथिकादीनिर्धनान्, कस्य प्राप्तिरत्रेति वा। "कर्तमन्यस्य विसमाद्वाय रपन्ति" —इति निगमः॥

(४) वव्रः। 'वृञ् सम्भक्तौ (स्वा० उ०)'। 'घञर्थे कविधानम् (३, ३, ५८ वा० २)'—इति कः। 'छन्दसीनां के द्वे भवतः (३, ३, ५८ वा० ३)'। सम्भज्यते जलार्थिभिः। "वव्रौ भवन्ती मयसा पर्दीय (ऋ० सं० ५, ७, ८, २)"—इति निगमः॥

(५) काटः। 'कटे वर्षावरणयोः (भू० प०)' घञ्। आवियते जलार्थिभिः। यद्वा, 'कट पट गतौ (भू० प०)' घञ्।

"काटे निबाल्हइ ऋषिवह्व दूतये ( ऋ० सं० १, ७, २४, ६ )'
—इति निगमः ॥

(६) खातः। 'खनु अवदारणे ( मू० उ० )'। निष्ठा। निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(७) अयतः। अयपूर्वाद्तनोः पचाद्यचि (३, १, १३४) शकन्ध्वादित्वात् पररूपम् (६, १, ९४ वा०)। अयातति कन्यमानोऽयोगच्छति "द्रोणाहावमवतमश्मचक्रम् ( ऋ० सं० ८, ५, १६, १ )"—"आवृतासोऽवतासो न कर्तृभिः ( ऋ० सं० १, ४, २०, २)"—इति निगमौ ॥

(८) क्रिविः। करोतेः कृणोतेर्वा 'कुषियुधिपचिछविस्यविकि-कीदिवि ( उ० ४, ५६ )'—इतीन्प्रत्ययो रिदादेशश्च निपात्यते। कर्त्तपदर्थः। "आय इन्द्रे क्रिविं यथा ( ऋ० सं० १, २, २८, १)"
—इति निगमः ॥

(९) सूदः। 'सूद क्षरणे हिंसायाश्च ( मू० आ० )'। क्षर-त्यस्मात् जलं, हिंसायां कर्त्तपदर्थः। 'शोभनोदकः सुस्थिरोद-को वा सूदः'—इति हरदत्तमिश्रः। 'उदकस्योदः सञ्ज्ञायाम् (६, ३, ५७ )'। निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१०) उत्सः। उत्पूर्वात् सर्तेः स्यन्देर्वा इप्रत्ययः स्यन्देर्यलोपो बाहुलकात्। [उन्देर्वा 'उन्देर्नलोपश्च'—इ सप्रत्ययः। उद्गच्छत्यस्मात् जलम्, स्यन्दते आर्द्रीक्रियते जलेन। "उत्सं न कश्चिज्जनपानमक्षितम् ( ऋ० सं० ७, २२, ५ )—इति निगमः ॥

(११) ऋश्यदात्। 'ऋषी गतौ (तु० प०)'। 'ऋष्‌पद्यश्च (उ० ४, १०८)'—इति यत्प्रत्ययो मूर्द्धन्यस्य शादेशो गुणाभावश्च निपात्यते। ऋश्या मृगाः। ऋश्यान् द्यति। 'आतोऽनुपसर्गे कः (३, २, ३)'। पञ्चम्येकवचनम्। कूपो हि दुर्ग्रहजलत्वात् ऋश्यान् खण्डयति, खण्डितत्वञ्च जलादानेच्छा न करोति। "युवं चन्दनमृश्यदादुदूपथुर्धं (ऋ० सं० ७, ८, १६, ३)"—इति निगमः॥

(१२) कारोतरात्। करणं कारः। करोतेर्घञ्। कारेण खननक्रियया उत्तरः अधिकः प्रदेशान्तरादुत्कृष्टो वा। यद्वा, उत्खातमुदकं यस्य सः कारोतरः इतोदको वा। पृषोदरादित्वात् कारोतरः। पञ्चम्येकवचनम्। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(१३) कुशयः। कौ शेते। 'अधिकरणे शेतेः (३, ५, १५)'—इत्यच्प्रत्ययः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(१४) केपटः। 'केपृ सेवने (भू० आ०)'। 'शकादिभ्योऽटन् (उ० ४, ८१)'—इत्यटन्प्रत्ययः। सेव्यते जलार्थिभिः। "मात्री स ...ारि केपटे (ऋ० सं० ४, ८, २०, २)"—इति निगमः॥

इति चतुर्दश कूपनामानि॥ २३॥

तृपुः (१)। तका (२)। रिम्वा (३)। रिपुः (४) ...का (५)। रिहायाः (६)। तायुः (७)। ...करः (८)। चनर्गुः (९)। हुरश्चित् (१०)।

सुपीवान् (११)। मलिम्लुचः (१२)। अघशंसः (१३)। वृकः (१४)। इति चतुर्दशैव स्तेननामानि ॥ २४ ॥

(१) तृपुः। 'तृप प्रीणने (दि० प०)'। 'ईषेः किच्च (उ० १, १३)'—इति बाहुलकादुप्रत्ययः किच्च। परद्रव्यापहारात् तृप्यति। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(२) तक्वा। तकतिर्गतिकर्मा, 'तक सहने (भ्वा० प०)'। 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (३, २, ७५)'—इति वनिप्। गच्छति मोषणार्थम्, मोषणेन वा सहते अभिभवति। "तक्वा न भूर्णिर्वना सिषक्ति (ऋ० सं० १, ५, १०, १)"—इति निगमः॥

(३) रिभ्वा। 'रभ राभस्ये (भ्वा० आ०)'। पूर्ववद्वनिप्। पृषोदरादित्वात् इकारो गुणाभावश्च। रभते मोषणविधौ वेगेन करोति। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(४) रिपुः। 'रिफ कत्थनयुद्धनिन्दाहिंसादानेषु (तु० प०)' 'ईषेः किच्च (उ० १, १३)'—इति बाहुलकादुप्रत्ययः। "रिपति" केचित् पठन्ति। तत्र बाहुलकादेव फकारस्य पकारः। रिफति, मोषणार्थं युद्धते हिनस्ति वा निन्द्यते च सत्पुरुषैः। "मा नः स रिपुरीशत (ऋ० सं० १, ३, ११, १)"—इति निगमः॥

(५) रिक्वा। 'रिचिर् वियोजने (रु० उ०)'। 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (३, २, ७५)'—इति क्वनिप्। चकारस्य ककारे

व्यत्ययेन। वियोजयत्यर्थैरर्थतः, वियुज्यते वा प्राणैः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(६) रिहायाः। 'रिह कत्थनादौ'—इति क्षीरस्वामी। 'परस्त्रेक्कुसुधाविहायस'—इत्यादिनासुनि आयुडागमो गुणाभावश्च निपात्यते। रिपुवदर्थः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(७) तायुः। 'तायृ सन्तानपालनयोः (भू० आ०)'। 'छन्दसीणः (उ० १, २)'—इति बाहुलकाद् गुणः। पाल्यते यस्मात् सर्वम्। यद्वा, तसेरुपक्षयार्थात् पूर्ववदुणि बाहुलकात् सकारस्य यकारः। 'उपक्षीणोऽसाविह लोके आयुषा, यद्वा तदा राजभिरिष्यमाणत्वात्, परलोकेऽपि भ्रमणधर्मकत्वात्'—इति स्कन्दस्वामी। "अपत्ये तायवो यथा (ऋ० सं० १, ४, ७, २)"—उत स्मैनं वस्त्रमथिं तायुम् (ऋ० सं० ३, ७, ११, ५)"—इति निगमौ॥

(८) तस्करः। तत्करोतीति विगृह्य दिवाविभानिशाप्रभा (३, २, २१)'—इत्यादिना टप्रत्ययः। 'करोति यत् पापकम्'—इति नैरुक्ताः। तच्छब्देन प्रकरणसामान्यादर्थप्राधान्याच्च पापकर्मनिर्देशमभिप्रेतमित्याह—'यत् पापकमितिनैरुक्ताः'—इति। वैयाकरणास्तु शब्दपरत्वात् सामान्येऽप्याहुः 'तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च (६, १, १५७ ग० सू०)'—इति। तनोतेर्वा स्यात् सन्तानकर्मेति सम्मतम्। तच्च तन्नतकर्मत्वं दर्शयति—'दिवा पथि मोषणेन, रात्रौ सन्धिच्छेदेन'—इति स्कन्दस्वामी। तनोतेः क्विपि नलोपे

तुकि चर्त्यम्। यद्वा, 'स्यजियजितनिभ्यो डित् (उ० १, १२१)' —इति अदिप्रत्यये तत्। कर्मशब्दस्य मकारलोपः। पृषोदरादित्वात् रूपम्। "तनूत्यजेव तस्करा वनर्गू (ऋ० सं० ७, ५, ३२, ६)"—"तस्कराणां पतये नमः (य० वा० सं० १६, २१)"—इति निगमौ॥

(९) वनर्गुः। वनशब्दोपपदात् गमेः 'मृगय्वादयश्च (उ० १, ३६)'—इति कुप्रत्ययो रुडागमश्च निपात्यते। तस्करो हि मोषणार्थं सदा वनं गच्छति। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(१०) हुरश्चित्। 'हुर्च्छा कौटिल्ये (भू० प०)'। क्विप्। 'राल्लोपः (६, ४, २१)'—इति चकारलोपः। 'चिती सञ्ज्ञाने (भू० प०)'। क्विप्। हुरः कौटिल्यानि चेतयते। यद्वा, हरतेः 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते (३, २, ७५)—इति विचि गुणः, पृषोदरादित्वात् अकारस्योकारः। हुरः अर्थानामाहर्तॄन्, चेतयतेः चिनोतेर्वा क्विप्। हुरः हृतानर्थान् सञ्चिनोति। अपिशब्दाद् अ कर्मणि विप्। 'तत्पुरुषे कृति बहुलम् (६, ३, १४)' —इत्यलुक्। "अपप्रोथन्तः सनुतर्हुरश्चितः (ऋ० सं ७, ४, २४, ५)"—इति निगमः॥

२

(११) मुषीवान्। 'मुष स्तेये (क्र्या० प०)'। अच्। 'कृदिकारादक्तिनः (४, १, ४५ वा०)'—इति ङीप्। मुषी मोषणमस्यास्ति। 'छन्दसीवनिपौ (५, २, १२२ वा० २)'—इति वनिप्। "मुषीवाणं हुरश्चितम् (ऋ० स० १, ३, २४, ३)"—इति निगमः। अत्र 'परोक्षहर्ता चौरो मुषीवान्, प्रत्यक्षहर्ता हुरश्चित्'—इति माधवः॥

(१२) मलिम्लुचः। मलमस्यास्ति। 'ज्योत्स्नातमिस्राशृङ्गिणोर्जस्विन्नूर्जस्वलगोमिन्मलिनमलीमसाः (५, २, ११४)' —इति मलिनो निपात्यते। म्लुच म्लेच्छकरणे (भू० प०)'। 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः (३, १, १३५)'। मलिमश्चासौ म्लुचश्च मलिम्लुचः। पृषोदरादित्वेन मलोपः। निगमोऽन्वेषणीयः।

(१३) अघशंसः। आङ्पूर्वात् हन्तेः 'अन्येष्वपि दृश्यते (३, २, १०१)'—इति डः। पृषोदरादित्वात् आङो ह्रस्वत्वं हकारस्य घत्वञ्च। शंसेः पचाद्यच्। आहन्ता, अघस्यमानः, आशंसमानश्च। "अघशंसस्य कस्यचित् (ऋ० सं० १, ३, २४ ४)"—इति निगमः॥

(१४) वृकः। व्याख्यातमृत्विङ्नामसु (३५३ पृ०)। वारको मार्गस्य। "यो नः पूषन्नघो वृकः (ऋ० सं० १, ३, २४, २)" —इति निगमः॥

इति चतुर्दश स्तेननामानि ॥ २४ ॥

## निण्यम् (१)। सस्वः (२)। सनुतः (३)। हिरुक् (४)। प्रतीच्यम् (५)। अपीच्यम् (६)। इति षट् निर्णीतान्तर्हितनामधेयानि ॥ २५ ॥

(१) निण्यम्। निरशब्दपूर्वात् नयतेः 'अघ्न्यादयश्च (उ० ४, १०८)'—इति यत्प्रत्ययटिलोपो रेफलोपश्च निपात्यते। निर्णीतं बहिर्नीतम्, निर्गतमन्तर्हितं वा। "वृत्रस्य निण्यं वि-

चरन्त्यापः ( ऋ० सं १, २, ३७, ५)"—"निण्यः सन्न इन्द्रो मनसा चरामि ( ऋ० सं० २, ३, २१, २ )"—इति निगमौ ॥

(२) सस्वः। सम्पूर्वात् स्वरतेर्गतिकर्मणो विचि रपरगुणः। समोऽन्त्यलोपः। सम्यगन्तर्गतं घिनिर्गतं वा। "सस्वर्हं यन्म-रुतो गोतमो वः ( ऋ० सं० १, ६, १४, ५ )"—"यत् सस्वर्त्ता जिहीळिरे यदाविः ( ऋ० सं० ५,४, २८, ५ )"—इति निगमौ ॥

(३) सनुतः। (४) हिरुक्। स्वरादिः। "सनुतर्युहि तं ततः ( ऋ० सं० ६, ६, ३६, ३ )"—"य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात् ( ऋ० सं० २, ३, २०, २ )"—इति निगमौ ॥

(५) प्रतीच्यम्। (६) अपीच्यम्। अपीच्यमपगतमपचितम् ( निरु० ४, २५ )'—इत्यादिभाष्ये 'प्रत्यपचितं चितम्' इति स्कन्दस्वामी। प्रतिपूर्वात् अपमात्रपूर्वाच्च चिनोतेः अघ्न्यादि-त्वात् यप्रत्ययटिलोपादि च निपात्यते। प्रतीच्यस्य निगमोऽन्वेषणीयः॥ "नाम त्वष्टुरपीच्यम् ( ऋ० सं० १, ६, ७, ५ )"—"( य उस्राणामपीच्या२ ( ऋ० सं० ६, ३, २६, ५ )"—इति निगमौ ॥ 'य उस्राणामपीच्या'—इत्यत्र 'अपिपूर्वादञ्चतेः 'ऋत्विगित्यादिना (३, २, ५९)' क्विन्प्रत्ययः, ततो 'मये छन्दसि च (४, ४, ११०)'—इति यत्, 'अचः (६, ४, १३८)'—इत्यकार-लोपः' 'चौ (६, ३, १३८)'—इति पूर्वपदस्य दीर्घः। 'अपीच्योऽ-प्रकाशः'—इति भट्टभास्करमिश्रः ॥

इति षट् निर्णीतान्तर्हितनामानि ॥ २५ ॥

आके (१)। पराके (२)। पराचैः (३)। आरे (४)। परावतः (५)। इति पञ्च दूरनामानि ॥ २६ ॥

(१) आके। (२) पराके। आङ्पूर्वात् पराङ्पूर्वाच्च पचेः 'पिनाकादयश्च ( उ० ४, १५ )'—इति आकप्रत्ययो धातुलोपश्च निपात्यते। यद्वा, आङ्पूर्वात् पराङ्पूर्वाच्च किरतेः 'अन्येष्वपि (३, २, १०१)'—इति डः। आकीर्णं पराकीर्णं च तद् विभिन्नमिव भवति आके निगमोऽन्वेषणीयः ॥ "श्वयन्तमस्य रजसः पराके ( ऋ० सं० ५, ६, २५, ५ )"—इति निगमः ॥

(३) पराचैः। 'नीचैरिति यदक्षयं पराचैः'—इति भट्टभास्करमिश्रः। निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(४) आरे। अव्ययम्। "न हि त्वदारे निमिषश्च नेशे ( ऋ० सं० २, ७, १०, १ )"—इति निगमः ॥

(५) परावतः। ईरयतेर्वहतेर्गतिकर्मणो वा संसाधनेऽर्थे वर्तमानात् प्रोपसर्गात् परोपसर्गाद्वा 'उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे (५, १, ११८)'—इति वतिः। पृषोदरादित्वात् प्रशब्दस्य पराभावः। प्रकर्षेण ईरति विक्षिप्तं परागतमिव वा तद् भवति। "परावतं परमां गन्तवा उ ( ऋ० सं० ८, ५, ३, ४ )"—परावतः ( ऋ० सं० ३, ६, २१, १ )"—इति निगमौ ॥

इति पञ्च दूरनामानि ॥ २६ ॥

प्रत्नम् (१)। प्रदिवः (२)। प्रवयाः (३)। सनेमि (४)। पूर्व्यम् (५)। अह्नाय (६)। इति षट् पुराणनामानि ॥ २७ ॥

(१) प्रत्नम्। 'नञ पुराणे प्रात् (५, ४, २५ वा० २)'—इति त्नप्रत्ययः। "तम् प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा (ऋ० सं० ४, २, २३, १)"—इति निगमः॥

(२) प्रदिवः। "यदीमनु प्रदिवः (ऋ० सं० २, २, ८, ३)"—इत्यत्र पुंलिङ्गद्विवचनान्तेन, "क्षत्रं राजाना प्रदिवः (ऋ० सं० ३, २, २३, ५)"—इत्यत्र, षष्ठ्येकवचनान्तेन, "इन्द्राय सोमाः प्रदिवः (ऋ० सं० ३, २, ११, २)"—इत्यत्र प्रथमाबहुवचनान्तेन च प्रदिव इत्येव सामानाधिकरण्यदर्शनात् सकारान्तमेतदव्यय-मित्याहुः। इन्द्रार्थस्थेनानादिकालप्रवृत्ता इत्यमापयत्। [illegible] प्रगतानि दिनान्यस्य पृषोदरादित्वाद्वकारस्य वकारः इत्यादि व्युत्पत्तिः। निगमेषु वचनव्यत्ययश्चाश्रयणीयः॥

(३) प्रवयाः। प्रगतं वयो यस्य। वयः कालमात्रमत्र। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(४) सनेमि। अव्ययम्। "सनेम्यस्मद्युयवन्नमीवाः (ऋ० सं० ५, ४, ५, ७)"—"सनेमि सख्यं स्वपस्यमानः (ऋ० सं० १, ५, २, ४)"—"सनेम्यस्य मरुतो जुनन्ति (ऋ० सं० २, ४, ८, ३)"—इति निगमः॥

(५) पूर्व्यम्। 'पूर्व पूरणे (भ्वा० प०)'। पचाद्यच् (३, १, १३४)। वयःप्रवृत्तिं पूरयतीति, 'पूर्वस्मिन् काले भवं पूर्व्यम्

'भवे छन्दसि (४, ४, ११०)'—इति यत्। यद्वा, 'पूर्वैः कृत-मिनयौ च (४, ४, १३३)'—इति यः। "पूर्व्यहोतरस्य (ऋ० सं० १, २, २०, ५)"—"यः स्तोमेभिर्वावृधे पूर्व्येभिः (ऋ० सं० ३, २, ११, ३)"—इति निगमौ ॥

(६) अन्हाय। अव्ययम्। निगमोऽन्वेषणीयः ॥

इति षट् पुराणनामानि ॥ २७ ॥

## नवम् (१)। नूलम् (२)। नूतनम् (३)। नव्यम्(४)। इदा(५)। इदानीम्(६)। इति षडेव नवनामानि ॥ २८ ॥

(१) नवम्। यद्वा, 'णु स्तुतौ (अदा० प०)'। 'ऋदोरप् (३, ३, ५७)'। नूयते स्तूयते, अचिरकृतत्वेन रमणीयत्वादिति। "नवेन पूर्वं दयमानास्य"—इति निगमः ॥

(२) नूलम्। नौतेरेव। 'राल्लासाला (उ० ३, १३)'—इत्यादिना नमत्ययो दीर्घश्च निपात्यते। "नूलाऽदिन ते घयमृती (ऋ० सं० ६, २, २, २)"—इति निगमः ॥

(३) नूतनम्। नवस्य नू—आदेशः 'नवस्य नू आदेशस्त्नप्तनखाश्च प्रत्ययाः (५, ४, ३५ वा० १)'—इति तनप्प्रत्ययः। "ईड्यो नूतनैरुत (ऋ० सं० १, १, १, २)"—इति निगमः ॥

(४) नव्यम्। नवमेव नव्यम्। 'शाखादिभ्यो यत् (५, ३, १०३)'—इति स्वार्थे यत्। यद्वा, नौतेः 'अचो यत् (३, १, ९७)'—'धात्वोर्यि प्रत्यये (६, १, ७९)'।

"इन्द्राग्नी स्तोमं जनयामि नव्यम् (ऋ० सं० १, ७, २८, २)" —इति निगमः ॥

(५) इदा । 'तयोर्दाहिलौ च छन्दसि (५, ३, २०)'—इति इदंशब्दात् सप्तम्यन्तात् दाप्रत्ययः । "इदा हि व उपस्तुतिम् (ऋ० सं० ६, २, ३३, १)"—इति निगमः ॥

(६) इदानीम् । 'दानीञ्च (५, ३, १८)'—इति तस्मादेव दानींप्रत्ययः । "इदानीमह्नऽउपवाच्यो नृभिः (ऋ० सं० ३, ८, ५, १)"—इति निगमः ॥

इति षडेव नवनामानि ॥ २८ ॥

प्रपित्वे (१) । अभीके (२) । दभ्रम् (३) । अर्भकम्(४) । तिरः(५) । सतः (६) । त्वः(७) । नेमः(८) । ऋक्षाः(९) । स्तृभिः(१०) । वम्रीभिः (११) । उपजिह्विका (१२) । उर्दरम् (१३) । कृदरम् (१४)। रम्भः (१५)। पिनाकम् (१६) । मेना (१७) । ग्नाः (१८)। शेपः (१९) । वैतसः (२०)। अया(२१)। एना(२२)। सिषक्तु(२३)। सचते (२४)। भ्यसते (२५)। रेजते(२६) । इति षड्विंशतिर्द्विश उत्तराणि नामानि ॥२९॥

प्रपित्वे इत्यादीनि भाष्यकारेणैव निरुक्तानि (निरु० ३. २०, २१) ॥ २९ ॥

स्वधे (१)। पुरन्धी (२)। धिषणे (३)। रोदसी(४)। क्षोणी(५)। अम्भसी(६)। नभसी (७)। रजसी(८)। सदसी(९)। सद्मनी (१०)। घृतवती (११)। बहुले (१२)। गभीरे (१३)। गम्भीरे (१४)। ओण्यौ (१५)। चम्वौ (१६)। पार्श्वौ (१७)। मही (१८)। उर्वी (१९)। पृथ्वी (२०)। अदिती (२१)। अह्री (२२)। दूरेअ (२३)। अपारे (२४)। अपारे इति चतुर्विंशतिर्द्यावापृथिवीनामधेयानि नामधेयानि ॥३०॥

उर्व्यूहन्महद्गयइरज्यतिशिम्यातानिर्णिगस्तेमाकेतुर्वेट्चिक्यद्धिकमिदमित्रार्चतिविप्रोरेभोयज्ञोभरताईमहेदातिपरिस्रवस्वपितिकूपस्तृपुर्निण्यमाकेप्रलन्नवम्प्रपित्वेस्वधे त्रिंशत् ॥

इति निघण्टौ तृतीयोऽध्यायः समाप्तः ॥३॥

(१) स्वधे । व्याख्यातमन्ननामसु (१४५ पृ० । २२५ पृ०) । स्वेनात्मना भूतग्रामं धारयतः, स्वं धनं धीयते अनयोरिति वा । द्यावापृथिवीनामसु सर्वत्र द्विवचनान्तत्वम् । तथाच "माहु द्युयाते मिथुनानि नाम (ऋ० सं० ३, ३, २४, २)"—इत्यत्र, स्कन्दस्वामी—'मिथुनानि द्विवचनसंयुक्तानि नामानि 'स्वधे पुरन्धी'—इत्यादीनि स्तोतृभ्यः'—इति ॥

(२) पुरन्धी । पुराणि धीयन्तेऽनयोः । 'कर्मण्यधिकरणे च (३, ४, ९३)'—इति किप्रत्ययः । पृषोदरादित्वान्मकार उपजनः । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(३) धिषणे । व्याख्यातं वाङ्नामसु (१०८ पृ०) । स्वं रक्षितुं प्रगल्भे समर्थे, धारयित्र्यौ वा देवमनुष्यादीन्, शब्द्यते स्तूयते वा । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(४) रोदसी । 'इतीदमस्ति स्त्रीलिङ्गद्विवचनान्तम्, द्यावापृथिव्योर्वर्त्तमानं चास्ति नपुंसकद्विवचनान्तम्, अस्ति चाव्ययम् । तत्र निगमानां साधारण्यात् तेषां त्रयाणामपि साधारणोऽयं पाठः'—इत्याहुः । 'प्रस्तरस्यापि विमुग्धात्, "रोदस्यौ रोदसी च ते"—इत्यत्र आद्य ईकन्तो दिवि भुवि च वर्त्तते, अन्त्यः सान्तः'—इति क्षीरस्वामी । तत्र रुधेरसुन्, पृषोदरादित्वात् धकारस्य दकारः, स्त्रीलिङ्गे तु 'उगितश्च (४, १, ६)'—इति ङीप्, 'वा छन्दसि (६, १, १०६)'—इतिपूर्वसवर्णः । आभ्यां हि विविधं रुद्धानि सर्वभूतानि । "नमो दिवे बृहते रोदसीभ्याम् (ऋ० सं २, १, २६, ६)"—"होतारं

सत्ययजं रोदस्योः (ऋ० सं० ३, ४, २०, १)"—"इमे विदिद रोदसी अपारे (ऋ० सं० ३, २, १, ५)"—इति निगमः। "विपितस्तुका रोदसी नृमणाः (ऋ० सं० २, ४, ४, ५)"—इत्यादौ अन्तोदात्तो रोदसीशब्दो रुद्रपत्नीवचनः'—इति माधवः।

(५) क्षोणी। व्याख्यातं पृथिवीनामसु (३१पृ०)। "मयः क्षोणी सचते माहिना घाम् (ऋ० सं० २, ४, २३, ५)"—इति निगमः।

(६) अम्भसी। व्याख्यातमुदकनामसु (११७ पृ०)। बाहुलकादत्रापि नुम्। यद्वा, अम्भ उदकमनयोरस्ति, मत्वर्थीयस्य लुक्। एकमन्यथशिष्यमपरत्रायशिष्यमाणमादित्यमण्डलस्थम्। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(७) नभसी। 'णह बन्धने (दि० उ०)'। 'णहेर्दिवि भ (उ० ४, २०१)'—इति असुन्। साहचर्य्यात् उभे अपि नभःशब्देनोच्यते। सम्बध्यते पुण्यवद्भिः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(८) रजसी। 'रञ्ज रागे (भ्वा० उ०)'। 'भूरञ्जिभ्यां कित् (उ० ४, २११)'—इत्यसुन्। 'रजकरजनरजःसूपसंख्यानम्' इति नलोपः। रजके स्वगुणे भूतानां 'रजोरजतेर्गतिकर्मणः'—इति माधवः। गम्यते पुण्यवद्भिः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(९) सदसी। सदेरसुन्। सीदन्त्यनयोर्देवमनुष्यादयः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(१०) सद्मनी। सदेरेव मनिन्। "पुराण्योः सद्मनोः केतुरन्तः (ऋ० सं० ३, ३, २८, २)"—इति निगमः। मार्ग्यरथ्यम्॥

(११) घृतवती । 'उदकवत्यौ । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१२) बहुले । 'बंहिष्ठः'—इति महन्नामसु व्याख्यातम् (११२ पृ०) बहुभिः पदार्थैस्तद्वत्यौ । "उर्वी पृथ्वी बहुले दूरेअन्ते (ऋ० सं० २, ५, ३, २)"—इति निगमः ॥

(१३) गम्भीरे । (१४) गम्भीरे । व्याख्याते वाङ्नामसु (६६ पृ०) । गम्यते सत्पुरुषैः, प्रतितिष्ठत्यनयोर्वेधमनुष्यादयः । निगमावन्वेषणीयौ ॥

(१५) ओण्यौ । 'ओणृ अपनयने (भू० प०)' । 'इन् सर्वधातुभ्यः (उ० ४, ११४)' । 'कृदिकारादक्तिनः (४, १, ४५ वा०)'—इति ङीप् । अपनयतः स्वाश्रितानां क्लेशान् । यद्वा, अवतेर्लुटि, छान्दसत्वात् सम्प्रसारणे गुणश्च, टिलोपात् ङीप् । "अभि त्यं देवं सवितारमोण्योः (य० वा० सं० ४, २५)"—इति निगमः ॥

(१६) चम्वौ । 'चमु अदने (भू० प०)' । 'कृषिचमितनिधनिसर्जिखर्जिभ्य ऊः (उ० १, ८०)'—इति ऊप्रत्ययः । चमन्त्यनयोः । "उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरन्तः (ऋ० सं० २, १३, २०, ३)"—इति निगमः ।

(१७) पार्श्वे । 'स्पृश संस्पर्शने (तु० प०)' । 'स्पृशे श्वण्शुनौ पृ च (उ० ५, २७)'—इति श्वण्प्रत्ययो धातोः पृभावश्च । णित्त्वाद्वृद्धिः व्यत्ययेन पुल्लिङ्गता । "पार्श्वे"—इति पाठान्तरम् । संस्पृशतो व्याप्नुतः सर्वान् पदार्थान् । निगमोऽन्वेषणीयः ॥

(१८) मही । एतदादीनि चत्वारि पृथिवीनामसु व्याख्यातानि

(३२ पृ०)। महत्यौ पूजनीये वा। "वेपेते भियसा मा (ऋ० सं० १, ५, ३१, ३)"—इति निगमः॥

(१९) उर्वी। विस्तीर्णे, आच्छादयित्र्यौ वा स्वर्गाधःस्थि तलोकस्य। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(२०) पृथ्वी। प्रथिता विस्तारिता ब्रह्मणा सृष्टिकाले। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(२१) अदिती। देवमनुष्यादिसकलप्रपञ्चधारणेऽपर्यन्ते इत्यर्थः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(२२) मही। मेघनामसु गोनामसु च व्याख्यातम् (८७ पृ। २४५ पृ०)। गम्यते प्राणिभिः। निगमोऽन्वेषणीयः॥

(२३) दूरेअन्ते। दुःशब्दोपपदात् पतेः 'दुरीणो लोप (उ० २, १८)'—इति रक्प्रत्ययो धातोर्लोपश्च। 'रोरि (६, ३, १४)'—इति रेफलोपः, लोपे पूर्वस्य दीर्घः (६, ३, १११) 'अन्तो अततेः (निरु० ४, २५)'—इति भाष्यम्। तत्र धातुम् कारस्य मकारश्चान्तादेशः। 'दुःखेन गम्यते दूरमतोऽस्यादेर्मध्याव सततगतौ भवति, न कदाचिदादौ मध्ये वास्ति'—इति स्कन्दस्वामी। दूरे अन्तमवसानगतिर्ययोः। 'तत्पुरुषे कृति बहुलम् (६, ३, १४)'—इत्यलुक्। "समान्या वियुते दूरेअन्ते (ऋ० सं० ३, ३, २५, २)"—इति निगमः॥

(२४) अपारे। 'पार तीर कर्मसमाप्तौ' चुरादेरदन्तः। यम्। समाप्तिरिति वा समाप्यतेऽनेनेति वा पारः। 'अपारे दूरपारे (निरु० ६, १)'—इति भाष्ये। 'अविद्यमानं पारमन्

यथोः ते अपारे। दूरत्वेन परासवं दर्शयति पुराणदृष्ट्या वा लोकपर्यन्तताम्'—इति स्कन्दस्वामी। निगमोऽन्वेषणीयः॥

अध्यायपरिसमाप्तिसूचकद्विर्वचनमिति सिद्धम्॥

इति देवराजयज्वविरचिते नैघण्टुककाण्डनिर्वचने

तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

## इति नैघंटुकं नामाद्यं काण्डं समाप्तम्॥

—००—

## ( नैघण्टुक-टीका-परिशिष्टम् )

स्वरादीनीति पूर्वमुक्तस्य प्रकरणत्रयस्य ( ५१ पृ०, ३३५ पृ०, ३७१ पृ० ), निगमदैवतकाण्डयोश्च निर्वचनं भाष्यस्कन्दस्वामिभ्यां प्रदर्शितं तदत्र क्रमेण लिख्यते। तत्र, निगमव्याख्यानादि यदत्रानुसंहितं, तत् तत्रैव द्रष्टव्यम्॥

(१) स्वः। सुपूर्वादर्तेरिणतेर्वा 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (३, २, ७५)'—इति विचि दृशिग्रहणस्य प्रयोगानुसरणार्थत्वात् कर्तर्यपि भवति। ईरयतेर्विकारस्याकारो व्यत्ययेन, गुण 'स्वरादिनिपातमव्ययम् (१, १, ३७)' सुपो लुक् (२, ४, ८ रेफस्य विसर्जनीयः (८, ३, १५)। शोभनमरणं गमनं सुख हिताय वा यस्य, शोभनं वा प्रेरणं तमसां यस्य, सुष्ठु,

हृतो रश्मिभिः रसानाहरन्, भासं वा ज्योतिषां नक्षत्राणां, भासा सुष्ठु हृतः प्राप्त इति वा, स्वरादित्यः सौर्यः। सु सुष्ठु शोभनमरणमभ्यासकीर्णो पुण्यकृद्भिरर्णोति, सुष्ठु वा पुण्यात् ईरयति स्पृष्टो रसैः स्पृष्टो भाभिर्ज्योतिषां, स्वरमेव वा दीप्तम्। "भूर्भुवः स्वः ( य० वा० सं ३, ३७ )"—इति दिव उदाहरणम्। "प मित्रो मर्त्येष्वानो अर्वाङ् स्वर् यं ज्योतिः ( ऋ० सं० ३, ५, १०, ३ )" —इत्यादित्यस्य ॥

(२) पृश्निः। प्रपूर्वादश्नोतेः स्पृशतेर्वा 'घृणिपृश्निपार्ष्णिचूर्णिभूर्णि ( उ० ४, ५२ )'—इति निप्रत्ययः, प्राशेः स्पृशेश्च प्रशलोपो निपात्यते। प्राश्नुत एनं शुक्लो वर्णः संस्पृष्टा रसान्। एतद्व्याख्यानमन्यत् पूर्वेण। संस्पृष्टा भासं ज्योतिषामस्पृष्टो भासेति वा पृश्निरादित्यः। द्यौस्तु संस्पृष्टा ज्योतिर्भिः पुण्यकृद्भिश्च 'सुकृतां वा एतानि ज्योतींषि यन्नक्षत्राणि ( ऋ० सं० १, ४, ७, २, मा० भा० )'—इति श्रुतेः। "पृश्नेः पुत्रा उपमासो रभिष्ठाः ( ऋ० सं० ४, ३, २३, ५ )"—इति निगमो दिवः। "अयं वेनश्चोदयत्पृश्निगर्भाः ( ऋ० सं० ८, ७, ७, १ )" —इत्यादित्यस्य ॥

(३) नाकः। नयतेः 'पिनाकादयश्च ( उ० ४, १५ )'—इत्याकप्रत्ययष्टिलोपश्च निपात्यते। नेता रसानाम्, नेता भासाम् आत्मीयानाम्, ज्योतिषां प्रणायकश्चादित्यः। द्यौस्तु, कमिति सुखनाम, न कम् अकम् असुखम्, न अकं यत्र स नाकः। "नभ्राण्नपान्नवेदा (६, ३, ७५)'—इत्यादिना नञः प्रकृतिभावः।

"न वा अमुं लोकं जग्मुषे किञ्च नाकम् ( निरु० २, १४ )"—इति ब्राह्मणम्। अत्यन्तसुखमित्यर्थः। "नाकस्य पृष्ठे अधितिष्ठति श्रितः ( ऋ० सं० २, १, १०, ५ )"—इति दिवः। तत्र अधि नाके अस्मिन् ( ऋ० सं० ८, ७, १८, २ )"—इति निगम आदित्यस्य॥

(४) गौः। व्याख्यातं पृथिवीनामसु ( २७ पृ० )। गमिरन्तर्णीतण्यर्थः। गमयति रसान् मण्डलं प्रति रश्मिभिः, गच्छति वान्तरिक्षे इति गौरादित्यः। यत् पृथिव्या उपरि दूरं गता, यद्वास्यां ज्योतींषि गच्छन्तीति गौः द्यौः। "गवामसि गोपतिरेक इन्द्र ( ऋ० सं० ५, ६, २३, ६ )"—इति दिवः। "उ ताः परस्ते गवि ( ऋ० सं० ४, ८, २२, ३ )"—इत्यादित्यस्य॥

(५) विष्टप्। 'ष्टभि प्रतिबन्धे ( भ्वा० सौ० प० )'। विपूर्वात् क्विपि भकारस्य पकारो व्यत्ययेन। विष्टभ्नात्यविशतेऽर्थे वर्तते। यद्वा, विशेर्वा बाहुलकाद्रूपसिद्धिः। पृथिवीतो रसानादातुमाविष्टोऽभिनिविष्ट इत्यर्थः। एवमेव भासो ज्योतिषो भासा वाविष्टो व्याप्तः आदित्यः। द्यौराविष्टा ज्योतिर्भिः पुण्यकृद्भिश्च। "उग्रस्तुभस्य विष्टपम् ( ऋ० सं० ६, ५, ६, १ )"—इत्याद्युदाहरणम्॥

(६) नभः। नयतेरसुनि गुणे 'नयः' इति स्थिते बाहुलकात् यकारस्य भकारः। नाकशब्देन समानोऽर्थः। अथवा भासनशब्दस्य ह्रस्वत्वं, सकारलोपः, नकारभकारयोश्च, स्थान

विपर्य्ययः, सान्तत्वञ्च। सर्वत्र सूत्रप्राप्त्यनुक्तौ पृषोदरादित्वाद् द्रष्टव्यम्। यद्वा, न भाति 'नभः'। असुनि भातेष्टिलोपश्च। एतेन द्यौर्व्याख्याता। "ज्योतिष्मति प्रतिमुञ्च ते नभः"—"स्वर्ज्ञानोनभसा (ऋ० सं० ७, ३, १४, ५,)"—इत्युदाहरणम्॥

इति षट् साधारणानि दिवश्चादित्यस्य॥ १; ४॥

---

इदमाद्युपमानामानि। भाष्यकारेण स्कन्दस्वामिना विस्तरेण व्याख्यातानि (निरु० ३, १३—१८)। निपाताः स्यात् शब्दनिर्वचनस्यावक्तव्यत्वात् उदाहरणमात्रमत्र दर्श्यते।—

(१) इदमिव। (२) इदं यथा। अत्र इदंशब्द उपमाशब्दसन्निधानाय प्रयुक्तः। इवादयश्च निपाताः पराश्रयस्योपमानत्वस्य धर्मस्य प्रतिपादनार्थाः। "इन्द्र इवेह ध्रुवस्तिष्ठ (ऋ० सं० ८, ८, ३१, २)"—"यथा वातो यथा वनम् (ऋ०सं० ४, ४, २०४)"॥

(३) अग्निर्न ये। अत्र नशब्द उपमानार्थः। "अग्निर्न ये भ्राजसा रुक्मवक्षसः (ऋ० सं० ८, ३, १२, २)"॥

(४) "चतुरश्चिद्ददमानात्" (ऋ० सं० १, ३, २३, ४)। अत्र चिच्छब्दः॥

(५) "ब्राह्मणा व्रतचारिणः (ऋ० सं० ५, ७, ३, १)"। उपमार्थनिपातेनादिर्लोपाल्लुप्तोपमः॥

(६) "वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वयाः (ऋ० सं० ४, ६, १
३)"। अत्र नू शब्दः॥

(७) जार आ भगम्। - उदीरय पितरा जार आ भग
(ऋ० सं० ७, ६, १०, १)"। अत्र आकारः॥

(८) "मेषो भूतो ३ मि यन्नयः (ऋ० सं० ५, ७, २४, ५)"
अत्र भूतशब्देनोपमोच्यते॥

(९) तद्रूपः। (१०) तद्वर्णः। रूपशब्देन वर्णशब्देन चो
रपदेन समासादुपमा प्रतीयते॥

(११) तद्वत्। पूर्वेचत्तच्छब्दस्यार्थः। "प्रियमेधवदत्रि
(ऋ० सं० १, ३, २१, ३)"। 'तेन तुल्यं क्रियाचेद्वतिः (
१, ११५)॥

(१२) तथा। तमप्रथा पूर्वथा विश्वथेमथा (ऋ० सं
२, २३, १)"। प्रत्नपूर्वविश्वेमात् थाल् छन्दसि (५, ३, ११
—इति इवार्थेऽयं थाल् विहितः॥

इति द्वादशोपमानामानि॥ ३, १३॥

"तथा"—इत्यस्यानन्तरं "सिंहः"—इति केषुचित् को
दृश्यते, तत्र पठनीयम्, अथ लुप्तोपमानि (निरु० ३, १८
इत्यादिभाष्यस्य तु "ब्राह्मणा व्रतचारिणः (५)"—इति
मुक्तस्य लुप्तोपमस्य प्रपञ्चनात्॥

(१) प्रपित्वे। (२) अभीके। इत्यासन्नस्य। प्रपूर्वाद
निष्ठायां प्राप्तशब्दस्य प्रपित्वभावः। यद्वा, 'इत्यनादयोऽन्येभ्
दृश्यन्ते'—इतीत्वनप्रत्यये बाहुलकादाप्नोतेराकारलोपः। पित

आगमनार्थः। अग्न्यैराकारान्तो प्राप्तिः प्रपित्वे इति॥ अभिपूर्वात् पतनेः 'अन्नीकाद्यश्च (उ० ४, २०)—इतीकन्प्रत्ययो धातुलोपश्च निपात्यते। अभ्यासे आगमे इत्यर्थः। नोपसर्गी समस्यते यथादृष्टापिति पठितौ॥ "आपित्वे नः प्रपित्वे तूय मागहि (ऋ० सं० ५, ७, ३०, ३)"—"अभीके चिदु लोककृत् (ऋ० सं० ८, ७ ३१, १)"—इत्यपि निगमौ॥

(३) दभ्रम्। (४) अर्भकम्। इत्यल्पस्य। दभ्रमिति दम्नोतेर्बन्धकर्मणः 'स्फायितञ्चि (उ० २, १२)'—इत्यादि रक्, 'अनिदिताम् (६, ४, २४)'—इति नलोपः। सुदभ्रं सुच्छेद्यम् अल्पत्वात्॥ ऋतेः 'अर्भकञ्च पृथुकपाका वयसि'—इति कप्रत्यये, ऋकारस्य अकारे गुणे रपरत्वे भकारे चोपजने च अर्भकमिति निपात्यते। भयहतमूनपरिमाण इत्यर्थः॥ "मा मे दभ्राणि मन्यथाः (ऋ० सं० २, १, ११, ७)"—"नमो महद्भ्यो नमो अर्भकेभ्यः (ऋ० सं० १, २, २४, ३)"॥

(५) तिरः। (६) सतः। इति प्राप्तस्य। अप्राप्तस्येत्यपरः पाठः। तरतेरसुनि बाहुलकादकारस्येकारः। तीर्णं प्राप्तमागतम्॥ सर्तेरसुनि रेफस्य तकारः। सतः संसृतम्॥ अप्राप्तस्येति पाठे पराजितं तरणं सरणं च द्रष्टव्यम्॥ "तिरश्चिदर्यया परि (ऋ० सं० ४, ४, १६, २)"—"पात्रेव भिन्दन्त्सत एति रक्षसः (ऋ० सं० ५, ७, ६, १)"॥

(७) त्वः। (८) नेमः। इत्यर्द्धस्य। अर्द्धशब्दोऽत्र सम्प्रविभागवचनः, अर्द्धं हरते इति नपुंसकनिर्देशात्। त्वः अप-

गतः अपेत्य समुदायात् गतः पृथग्भूतः। तनोतेरुपधायाः पूर्वं उकारः, यणादेशः, नकारस्य विसर्जनीयः इति स्कन्दस्वामी। तनोतेः 'सर्वनिघृष्वरिष्वलष्व (उ० १, १५१)' इति वन्प्रत्ययपिलोपो निपात्यते॥

नेमशब्दोऽल्पनामसु व्याख्यातः (२२५ पृ०)। सर्वादिरयम्। समुदायादपनीतः पृथग्भूत इत्यर्थः॥ "पीयति त्वो अनुत्वो गृणाति (ऋ० सं० २, २, १६, २)"—"प्र नेमस्मिन् ददृशे सोमो अन्तः (ऋ० सं० ८, १, ६, ५)"॥

(९) ऋक्षाः। (१०) स्तृभिः। इति नक्षत्राणाम्। ऋष गतौ (तु० प०)। ऋषेः 'इगुपधात् कित् (उ० ४, ११६)'—इति किन्प्रत्ययः। ऋषिरत्र उद्र्यपिपर्शिषः। उद्गतानि ऊर्ध्वमीरितानीव प्रकाशन्ते॥ 'स्तृञ् आच्छादने (क्र्या० उ०)'। कर्मण्यौणादिकः क्विप्, बाहुलकात्तुग् न भवति। स्तीर्णानि प्रसारितानि विस्तीर्णानि च प्रकाशन्ते हि। तस्य पाठो यथाइएम्॥ "अमी य ऋक्षा निहिता स उच्चा (ऋ० सं० १, २, १४, ५)"—"पश्यन्तो द्यामिव स्तृभिः (ऋ० सं० १, ५, ६, ३)"॥

(११) वम्रीभिः। (१२) उपजिह्विका। इति सीमिकानाम्। वम्रशब्दो ह्रस्वनामसु व्याख्यातः (३०४ पृ०)। 'जातेरस्त्रीविषयात् (४, १, ६३)' इति ङीष्। जातिशब्दश्चायं स्त्रीपुंसयोर्द्वयो लोके स्त्रीलिङ्गो प्रसिद्ध इति स पठितः॥ वसन्ति हि ते मृदमुपजिह्विकाः। 'उपयहजिह्वा (उ० १, १५२)'—इ

आसन्नार्थः। प्रकृष्टदेशकालयोः प्राप्तिः प्रपित्वे इति॥ अभिपूर्वादञ्चतेः 'अलीकादयश्च (उ० ४, २५)'—इतीकन्प्रत्ययो धातुलोपश्च निपात्यते। अभ्यक्ते आसन्ने इत्यर्थः। सोपसर्गौ सप्तम्यन्तौ यथाद्रूपाविति पठितौ॥ "आपित्वे नः प्रपित्वे तूय मागहि (ऋ० सं० ५, ७, ३०, ३)"—"अभीके चिदु लोककृत् (ऋ० सं० ८, ७ २१, १)"—इत्यपि निगमौ॥

(३) दभ्रम्। (४) अर्भकम्। इत्यल्पस्य। दभ्रमिति दभ्नोतेर्वधकर्मणः 'स्फायितञ्चि (उ० २, १२)'—इत्यादिना रक्, 'अनिदिताम् (६, ४, २४)'—इति नलोपः। दुरुच्छेदम् अल्पत्वात्॥ हरतेः 'अर्भकश्च पृथुकपाका वयसि'—इति कप्रत्यये, हकारस्य भकारे गुणे रपरत्वे भकारे भोजने च अर्भकमिति निपात्यते। अपहृतमूलपरिमाण इत्यर्थः। "मा मे दभ्राणि मन्यथाः (ऋ० सं० २, १, ११, ७)"—"नमो महद्भ्यो नमो अर्भकेभ्यः (ऋ० सं० १, २, २४, ३)"॥

(५) तिरः। (६) सतः। इति प्राप्तस्य। अप्राप्तस्येत्यपपाठः। तरतेरसुनि बाहुलकादकारस्येकारः। तीर्णं प्राप्तम्॥ सर्त्तेरसुनि रेफस्य तकारः। सतः संसृतम्। अप्राप्तस्येति पाठे पराजितं तरणं सरणं च द्रष्टव्यम्॥ "तिरश्चिद्र्यया परि (ऋ० सं० ४, ४, १६, २)"—"पात्रेयमिन्दन्त्सत एति रक्षसः (ऋ० सं० ५, ७, ६, १)"॥

(७) त्वः। (८) नेमः। इत्यर्द्धस्य। अर्द्धशब्दोऽत्र सख्यपिभागवचनः, अर्द्धं हरते इति नपुंसकनिर्देशात्। त्वः अन-

गतः अपेत्य समुदायान् गतः पृथग्भूतः। तनोतेरुपधायाः पूर्वं उकारः, यणादेशः, नकारस्य विसर्जनीयः इति स्कन्दस्वामी। तनोतेः 'सर्वनिघृष्वरिष्वलष्व (उ० १, १५१)' इति वन्प्रत्ययष्टिलोपो निपात्यते॥

नेमशब्दोऽन्नामसु व्याख्यातः (२२५ पृ०)। सर्वादिरयम्। समुदायादपनीतः पृथग्भूत इत्यर्थः॥ "पीयति त्वो अनुत्वो गृणाति (ऋ० सं० २, २, १६, २)"—"प्र नेमस्मिन् ददृशे सोमो अन्तः (ऋ० सं० ८, १, ६, ५)"॥

(९) ऋक्षाः। (१०) स्तृभिः। इति नक्षत्राणाम्। ऋष गतौ (तु० प०)। ऋषेः 'हसुपधात् कित् (उ० ४, ११६)'—इति किन्प्रत्ययः। ऋगिरत्र उदर्थविशिष्टः। उद्गतानि ऊर्ध्वमीरितानीव प्रकाशन्ते॥ 'स्तृञ् आच्छादने (क्र्या० उ०)'। कर्मण्यौणादिकः क्विप्, बाहुलकात्तुग् न भवति। स्तीर्णानि प्रसारितानि विस्तीर्णानि च प्रकाशन्ते हि। तस्य पाठो यथादृष्टम्॥ "अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा (ऋ० सं० १, २, १४, ५)"—"पश्यन्तो द्यामिव स्तृभिः (ऋ० सं० ३, ५, ६, ३)"॥

(११) वम्रीभिः। (१२) उपजिह्विका। इति सीमिकानाम्। वम्रशब्दो हस्वनामसु व्याख्यातः (३०४ पृ०)। 'जातेरस्त्रीविषयात् (४, १, ६३)' इति ङीष्। जातिशब्दश्चायं स्त्रीपुंसयोर्दृष्टो लोके स्त्रीलिङ्गो प्रसिद्ध इति स पठितः॥ घसन्ति हि ते मृदमुपजिह्विकाः। 'रोपयहजिह्वा (उ० १, १५२)'—इति

जिघ्रतेर्जिघ्रत्तेर्वा घप्रत्ययान्तं निपात्यते जिह्वा, 'सत्र्ज्ञायां कन् (५, ३, ८७)' 'प्रत्ययस्थात् (७, ३, ४४)'—इतीत्वम्। उपजिघ्रन्ति काष्ठम्, उपरक्षणाद्वोदकस्य उपजिह्विका॥ "यद्रयुपजिह्विका यद्वम्रो अतिसर्पति (ऋ० सं० ६, ७, १२, ६)" घम्रशब्दस्यायमेव निगमः॥ "वम्रीभिः पुत्रमग्रुवो अदानम् (ऋ० सं० ३, ६, २, ४)"—इति स्त्रीलिङ्गस्य॥

(१३) ऊर्दरम्। (१४) कृदरम्। इत्यायपनस्य। ऊर्दरं—उत्पूर्वात् 'दृ विदारणे (क्र्या० प०)'—इत्यस्मात् 'ईर गतौ (अदा० आ०)'—इत्यस्माद्वा 'ऋदोरप् (३, ३, ५७)' अपि च उर्दरमुदीर्णं वा सद्दूरम्। "ऊर्ध्वञ्च सदीर्णञ्च मध्यत्, ऊर्ध्वमीर्णं गतं वा दीर्णमिति व्यादित्वाभिष्ठानत्वम् (८, २, ४४)॥ कृदरम्, गृहनामसु व्याख्यातम् (३१४ पृ०)। कृतदरम्। "समूर्दरं न पृणता यवेन (ऋ० सं० २, ६, १४, ५)"—"समिद्धो अञ्जन् कृदरं मतीनाम् (य० वा० सं० २१, १)"॥

(१५) रम्भः। (१६) पिनाकम्। इति दण्डस्य। 'रभ राभस्ये (भू० आ०)' अत्रालम्बने वर्तते। कर्मणि घञ्। 'रभेरशब्लिटोः (७, १, ६३)'—इति नुम्। आरभन्ते आश्रयते ह्ययारम्भाय दण्डः। "आ त्वा रम्भन्त जिव्रयः (ऋ० सं० ६, ३, ४५, ५)"॥ पिनाकं—'पिष सञ्चूर्णने (रु० प०)'। 'पिनाकादयश्च (उ० ४, १५)'—इति आकप्रत्ययः, षकारस्य नकारो गुणाभावश्च निपात्यते। प्रतिपिनष्टि हिनस्त्यनेन ~ दण्डाकारं धनुरुच्यते, तच्च रुद्रितो महादेवस्यैव

सामान्येन। "अवततधन्वा पिनाकावसः कृत्तिवासाः (य० वा० सं० ३, ६१)" ॥

(१७) मेना। (१८) ग्नाः। इति स्त्रीणाम्। उभावपि शब्दौ व्याख्यातौ पाङ्नामसु (६६ पृ० । १०७ पृ०)। नामयन्ति हि एताः पतिश्वशुरमातुलादयः पूज्या भूषयितव्याश्चेति स्मरणात्। गच्छन्त्येना अपत्यार्थिनः। "अमेनांश्चिज्जनिवतश्चकर्थ (ऋ० सं० ४, १, २६, २)"—"ग्नास्त्वाकृन्तन्नपसोऽतन्वत (ता० ब्रा०)" ॥

(१९) शेपः। (२०) वैतसः। इति पुंप्रजननस्य। शेपः—शपतेःस्तुनि बाहुलकात् सशब्दस्य शेभावः। स्पृशत्यनेन स्त्रीन्द्रियम्। तदेतुतश्च विविधानन्दलक्षणं स्त्रीसुखं स्पर्शशब्देनोच्यते। त्वगिन्द्रियस्पर्शमात्रक शेपमित्युदाहरणेऽस्कारान्त्येन दर्शनात् करणे घसन्त इति केचित्, सकारलोपो वा तत्र द्रष्टव्यः। यद्यपि 'वृषदंशाभ्यां रूपस्याद्यस्योः पुट् च (उ० ४, ११६)'—इति शीङः असुनागमेन कथञ्चिच्छेपः सिध्यति तथापि तत्रार्थानभिज्ञत्वात् "मुष्कयोरुद्धात् शेपः" —"मुष्कयोर्निहितो शेपः"—"मा नो मर्धेय नि वरि"—इत्यादौ शेपशब्देन मेहनस्याभिधानादर्शीमित्याद्य स्वरःप्रधान शेभावेन कथञ्चिन्नेतुं युक्तमिति शपतेरित्युक्तम्। तथा-चोक्तम्—'अर्थो नित्यः परीक्षेत न संस्कारमाद्रियेत'—इति ॥ निपूर्वात् 'तसु उपक्षये (दि० प०)'—इत्यस्मात् पचाद्यच् (३, १, १३४) वितसः। वितस एव वैतसः। प्रज्ञादिभ्यः-

२५—

दण्। विशेषेण तस्यति क्षीणीभवति प्राक् सम्भोगकालात् यद्वा, विमश्किमितिवत् विशब्दः प्रतिषेधार्थीयः। न तस्यति अक्षीणम् सेकसामर्थ्यस्यानुपक्षीणत्वात्। "यस्यामुशन्तः प्र राम शेपम् (ऋ० सं० ८, ३, २७, २)"—"त्रिः स्म माह्नः श्नथयो वैतसेन (ऋ० सं० ८, ५, १, ५)" ॥

(२१) अया। (२२) एना। इत्युपदेशास्य। प्रत्यक्षाभिधानमिहोपदेशोऽभिमतः। सामान्येन चैते त्रिष्वपि लिङ्गेषु। अनयेति पदस्य नशब्दलोपेन अया। "अया ते अग्ने समिधा विधेम (ऋ० सं० ३, ४, २५, ५)"—इति स्त्रिया समिधा सामानाधिकरण्यात् ॥ एना 'द्वितीयाटौस्स्वेनः (२, ४, ३४)' —इति इदमेतदोरन्वादेशविषये एनादेशः तृतीयैकवचनस्याकारः। "एना वो अग्निन्नमसा (ऋ० सं० ५, ६, २१, १)"—इति नपुंसकस्य मनसो सामानाधिकरण्यात्। "एना पत्या तन्व १ संसृजस्व (ऋ० सं० ८, ३, २५, २)"—इति पुंसः पत्युः सामानाधिकरण्यात् ॥

(२३) सिषक्तु। (२४) सचते। इति। सिषक्तिरपति कर्तृरभिधानम्। तस्य प्रत्ययार्थत्वेन प्राधान्यादत आह सेवमानस्येति। वैयाकरणसिद्धान्तप्रसिद्ध्यर्थमेवमवोचम्, परमार्थतस्तु धात्वर्थप्रतिपादनपरतैवाख्यातपदोपादानमर्थाभिगमत्वश्च। अत एतदुक्तं भवति। सिषक्तु सचत इति सेवार्थौ धातू इति। तथाहि :—"भावप्रधानमाख्यातम्"—इति हि स्वसिद्धान्तः। सिषक्तुः सचते। 'षच समवाये' भूवादिः स्वरितेत्, अव

सेवार्थः। सिषक्त्विति लोटि तिपि शप्। तस्य 'बहुलं छन्दसि (२, ४, ७६)'—इति श्लुः। 'अर्त्तिपिपर्त्योश्च'। 'बहुलं छन्दसि (७, ४, ७८)'—इत्यभ्यासस्येत्वम्। "स नः सिषक्तु यस्तुर (ऋ० सं० १, १, ३४, २)"—"सचस्वा नः स्वस्तये (ऋ० सं० १, १, २, ४)"—इति [illegible] यथानिगममुदाहरणम्॥

(२५) भ्यसते। (२६) रेजते। इति। भयवेपनयोः धातुः भ्यसते इति। रेजते इति नैरुक्तो धातुः। उभावप्युभयोरर्थयोः। "यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेताम् (ऋ० सं० २, ६, ७, १)"—"रेजते अग्ने पृथिवी मखेभ्यः (ऋ० सं० ५, १, ८, ४)"—इति॥

इति षड्विंशतिर्द्विशनामानि॥ ३, २६॥

(इति नैघण्टुकटीकापरिशिष्टं समाप्तम्)



अथ नैगमं नाम द्वितीयं काण्डं व्याख्यायते—

जहा (१)। निधा (२)। शिताम (३)।
मेहना (४)। दमूनाः (५)। मूषः (६)।
इषिरेण (७)। कुरुतन (८)। जठरे (९)।
तितउ (१०)। शिप्रे (११)। मध्या (१२)।
मन्दू (१३)। ईर्मान्तासः (१४)। कायमानः (१५)।
लोधम् (१६)। शीरम् (१७)। विद्रधे (१८)।
द्रुपदे (१९)। तुग्वनि (२०)। नंसन्ते (२१)।
नसन्त (२२)। आहनसः (२३)। अश्मसत्(२४)।
इष्मिणः (२५)। वाहः (२६)। परितक्म्या (२७)।
सुविते (२८)। दयते (२९)। नूचित् (३०)।
नूच (३१)। दावने (३२)। अकूपारस्य (३३)।

शीते (३४)। सुतुकः (३५)। सुप्रायणाः (३६)। अप्रायुवः (३७)। च्यवनः (३८)। रजः (३९)। हरः (४०)। जुहुरे (४१)। व्यन्तः (४२)। मणाः (४३)। वाशी (४४)। विषुणः (४५)। जामिः (४६)। पिता (४७)। शंयोः (४८)। अदितिः (४९)। एरिरे (५०)। जसुरिः (५१)। जरते (५२)। मन्दिने (५३)। गौः (५४)। गातुः (५५)। दंसय (५६)। तूताव (५७)। चयसे (५८)। वियुते (५९)। ऋधक् (६०)। अस्याः (६१)। अस्य (६२)। इति द्विषष्टिः पदानि ॥ १ ॥

(१) जहा। हन्तेर्लिटि[illegible] [illegible] [illegible], [illegible], अभ्या-सलघर्यं, कुत्वाभावो [illegible]। [illegible]। "जहा को अस्मदीशते (ऋ० सं० ८, ३, ४१, २)" ॥

(२) निधा। निपूर्वाद्धधातेः 'आतश्चोपसर्गे (३, १, १३६)' —इति कः। निधीयते [illegible] मृगपक्षिग्रहणाय। निधा पाशसमूहः। "समुच्छनमनिधयेव यदान् (ऋ० सं० ८, ३, ४, ६)" ॥

(३) शिताम। श्रितशब्दस्य रेफलोपोऽतो दीर्घत्वं मकार
श्चोपजनः। अङ्गे श्रितत्वाद् दोः शिताम। सितशब्दस्य वा
सकारस्य शकारः, अन्यत् पूर्ववत्। योनिः शिताम। योनि-
र्गुदम्। विषितः। विविधं सितो बद्धो भवति पुरीषोत्सर्गवे-
लायां विकसति सङ्कोचः। "पार्श्वतः श्रोणितः शितामतः
( य० वा० सं० २१, ४३ )"॥

(४) मेहना। मंहतेर्दानकर्मणो ल्युट्, बाहुलकादकारस्यै-
कारो नकारलोपश्च। सुपां सुलुगित्यादिना सोराकारादेशः।
मंहनीयं धनादि। छन्दोगानां 'मंहना'—इत्येवं रूपं पाठः।
प्रसङ्गेन च वेदान्तराधीतस्य व्याख्यानं भाष्यकारेण कृतम्
( निरु० ४, ४ )। "यदिन्द्र चित्र मेहना ( ऋ० सं० ५, २,
१०, १ )"॥

(५) दमूनाः। 'दम उपशमे दाने वा'। दान्ते पुरुषे वा,
दमे यज्ञगृहे वा मनो यस्य स दमूनाः। दन्तमशब्दस्य मलोपः।
दमदान्तशब्दयोर्द्विभावः, मनःशब्दे मकारात्परस्याकारस्य ऊकारा-
देशः। दमशब्दो व्याख्यातो गृहनामसु (३११ पृ०)। दधातेर्युडि
दानं, दमेर्निष्ठायां मतुपि दन्तमः। 'दमेरूनसिः ( उ० ४, २३८ )'
—इति वैयाकरणाः। "जुष्टो दमूना अतिथिर्दुरोणे ( ऋ० सं०
३, ८, १८, ५ )"॥

(६) मूरः। 'मुष स्तेये ( क्र्या० प० )'। क्विप्वचिप्रच्छि
( ३, २, १७८ वा० )'—इत्यत्र 'प्राक् प्रत्ययनिर्देशादिष्टसिद्धिः
( वा० )'—इति क्विप् दीर्घश्च। जस्। मूषिकाः। सुगुप्सनीं

मुष्णन्ति हरन्ति। "मृगो न भीमा व्यदन्ति माध्यः ( ऋ० सं० १, ७, २१, ३ )" ॥

(७) इषिरेण। 'इषु इच्छायाम् ( तु० प० )'। इषिमदिमुदि ( उ० १, ५१ )'—इत्यादिना किरच्प्रत्ययः। यद्वा, ईषपतेर्गतिकर्मणः ईषेर्दर्शनार्थस्य वा बाहुलकात् किरच् ह्रस्वभावश्च। मनो विशेषणमेतत्। "इषिरेण ते मनसा सुतस्य ( ऋ० सं० ६, ४, १२, २ )" ॥

(८) कृणुतन। करोतेर्लोण्मध्यमपुरुषबहुवचनस्य तशब्दस्य 'तप्तनप्तनथनाश्च ( ७, १, ४५ )'—इति छान्दसस्तनादेशः। तत्र तशब्द एवार्थवान् नशब्दस्तूपजनोऽनर्थकः। कृणुतनेत्यस्य प्रतिपादनार्थमाह भाष्यकारः—'कर्तनहन्तनयातनेत्यनर्थका उपजना भवन्ति ( निरु० ४, ७ )'—इति। अत्र बहुवचनमन्येऽप्येवंरूपा उपजनाः सन्तीति प्रतिपादनार्थम्। 'को यक्' 'आज्जसेरसुक्'—इत्येवमादयः। "त्रिप्रेण तपसा कृणुतन" —"अध्वर्यवः कर्तना श्रुष्टिमस्मै ( ऋ० सं० २, ६, १४, ३ )" —"सपितुँ न हन्मना हन्तना तम् ( ऋ० सं० ५, ४, ३०, २ )"— २"प्रयातन सखीँ रच्छा सखायः ( ऋ० सं० २, ३, २६, ३ )"— "इरधाय शत्रून् विभजस्व वेदः ( ऋ० सं० ८, ३, १९, २ )"— "ब्राह्मणासः पितरः सोम्यासः ( ऋ० सं० ५, १, २०, ५ )" ॥

(९) जठरम्। जघशब्दोपपदात् धृञो दधातेर्वा 'हृदराप्दथश्च ( उ० ५, ४२ )'—इति अरन्प्रत्ययो जघशब्दस्य जभावो धकारस्य ठकारश्च निपात्यते। जग्धं भक्षितमन्नमस्मिन्

ध्रियते तिष्ठति, धीयते प्रक्षिप्यते इत्यर्थः। "मासिञ्चस्व अ
मध्यऊर्मिम् ( ऋ० सं ३, ३, ११, १ )" ॥

(१०) तितउ। तनोतेस्तुदेश्च निष्ठायां मतुपि उपधा
इत्थं ककारलोपो यकारस्य सम्प्रसारणं सलोपश्च। तिल्मा
तुन्न वा। तिल्मशब्दात् तिः, तुन्नशब्दात् उकारतकारौ
मत्वर्थे बहुव्रीहिः। ततेन मध्येन, तुन्नैश्छिद्रैः, तिल्मांश्च
तैस्तद्वत्। तनोतेः कान्ताद्वतिर्वैयाकरणाः। ततं तितउ।
"सक्तुमिव तितउना पुनन्तः (ऋ० सं० ८, २, २३, २)" ॥

(११) शिप्रे। 'सृप्लृ गतौ (भू० प०)'। 'स्फायितञ्चि-
वञ्चिशकिक्षिपिक्षुदिसृपितृपि (उ० २, १३)'—इति रक्, बाहुलकात्
सृशब्दस्य शिभावः। अन्नं गन्धनं प्रति सृप्ते भवतः। "विष्यस्व
शिप्रे विसृजस्व धेने (ऋ० सं० १, ७, १३, ४)" ॥

(१२) मध्या। मध्यशब्दात् सप्तम्येकवचनस्य 'सुपां सुलुक्
(७, १, ३९)'—इत्यादिना आकारः। मध्ये इत्यर्थः। "मध्या
कर्त्तोर्विततं संजभार (ऋ० सं० १, ८, ७, ४)" ॥

(१३) मन्दू। मन्देस्तृप्त्यर्थात् 'भृमृशीतृचरि (उ० १, ७)'—
इत्यादिना बाहुलकादुप्रत्ययः। मन्देर्वा उप्रत्ययो नुम् च।
मध्यमादिपर्यसनम्। तृतीयैकवचनस्य वा 'सुपां सुलुक् (७, १,
३९)'— इत्यादिना पूर्वसवर्णः। मन्दिष्णू मन्दिष्णुना वा।
"मन्दू समानवर्चसा (ऋ० सं० १, १, १२, २)" ॥

(१४) ईर्मान्तासः। 'ईर प्रेरणे (चु० प०)'। 'अर्तिस्तुसु-
हुसृधृक्षि (उ० १, १३७)'—इति मन्प्रत्ययः। अन्तशब्दो व्याख्यातः

(२ अ० १६ ख० ६)। आदित्याश्वा उच्यन्ते। ते च सप्त। तेषां ये अन्तान् इर्मं, ईरिताः प्रेरिता विरला इत्यर्थः। अथवा अश्वस्य अन्तो जघनं सर्वपार्श्वमः पृथुरित्यर्थः। "ई र्मान्तासः सिलिकमध्यमासः (ऋ० सं० २, ३, १२, ५)" ॥

(१५) कायमानः। 'चायृ पूजानिशामनयोः' भ्वादिः, स्वरितेत्। चायमानः। चकारस्य ककारः। यद्वा, कमेर्णिङ्, ततो लटः शानच्। कामयमान इत्यस्य मकारलोपः। "कायमानो वना त्वम् (ऋ० सं० ३, १, ७, २)" ॥

(१६) लोधम्। 'लुभ् धाष्टर्ये' कः। लुब्धशब्दस्य बलोप उकारस्यौत्वञ्च। लुब्धमित्यर्थः। "लोधं नयन्ति पशुमन्यमानाः (ऋ० सं० ३, ३, २३, ३)" ॥

(१७) शीरम्। शिङः 'स्फायितञ्चिवञ्चिशकि (उ० २, १२)'—इत्यादिना बाहुलकाद्रक्। अश्नोतेर्वा पूर्ववद्रक् धातोः शीभावश्च। अयमग्निरुच्यते। अनुशायिनमाशिनं वा। अनुशय्यन्ते भूतानि अङ्गानि आङ्गारात्मना, स्थावराणि च सूक्ष्मेण अनभिव्यक्तरूपात्मना यः शेते व्यवतिष्ठते, अश्नोति वा। यवंशीलः। "शीरं पावकशोचिषम् (ऋ० सं० ३, १, ६, ३)" ॥

(१८) विद्रधे। विपूर्वात् 'द्रुमी भये' इत्यस्मात्, अन्तर्भावितेन हिंसार्थात् कः। विद्रुध्या इति स्थिते ऋकारस्य रादेशो यकारलोपश्च। बहुवचनस्य स्थाने एकवचनम्। विविधं हिंसितेषु कुपितेषु इत्यर्थः। "कनीनकेव विद्रधे (ऋ० सं० ३, ६, २०, ७)" ॥

(१९) द्रुपदे। द्रुशब्दो द्रुमपर्यायः। द्रुममयेषु पदेषु पा… काष्ठेषु इत्यर्थः। वचनव्यत्ययः पूर्ववत्। "नरो द्रुपदे अर्म… (ऋ० सं० ३, ६, १०, ७)"॥

(२०) तुग्वनि। तूर्णशब्दोपपदात् गमेः 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (३, २, ७५)'—इति वनिपि तूर्णशब्दस्य तुभावो गमेष्टि-लोपश्च। तुरुदेत्यर्थः। तद्धि पानायावगाहनाय वा क्षिप्रमा-गच्छन्ते। सामर्थ्यैकवचनम्। "तुग्यास्त्वा अधि तुग्वनि (ऋ० सं० ६, १, ३५, ७)"॥

(२१) नंसन्ते। नमेर्मकारात् परः सुगागमः, व्यत्ययेना-त्मनेपदम्। नमन्ति इत्यर्थः। "सुषिर्नंसन्ते मरतः पुनर्नः (ऋ० सं० ५, २, ८, ५)"॥

(२२) नसन्त। 'नस कौटिल्ये' भ्वादिरात्मनेपदी, अत्रा-प्रीतिर्नमतेरर्थे वर्त्तते। 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः (३, ४, ६)'—इति वर्त्तमाने लङ्। 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि (६, ४, ७५)—' इत्यड्भावः। प्राप्नुवन्ति नमन्ति वा। "घृतस्य धाराः समिधो नसन्त (ऋ० सं० ३, ८, ११, ३)"॥

(२३) आहनसः। आहन्तेरसुन्, मत्वर्थीयस्य लुक्। 'सूत्रे इदमाहतम्' 'ब्राह्मणे इदमाहतम्'—इत्यादिप्रयोगदर्शनात् आहन्ति-वचनार्थः। आहनवन्तो वचनवन्त इत्यर्थः। "ये ते मदा आहनसो विहायसः (ऋ० सं० ७, २, २३, ५)"॥

(२४) अद्मसत्। 'अदेर्मन्'—इति मनिन्। अद्यते इत्यन्न…। तस्मिन् सीदन्ति सनोति वा तत्।' अद्मन्युपपदे सदेः

सनोतेर्वा 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (३, २, ७५)'—'क्विप् च (३, २ ७६)'—इति क्विपि रूपम्। सनोतेर्नकारलोपे ह्रस्वस्य पिति तुक्।
"अग्रमस्त ससतो बोधयन्ती (ऋ० सं० २, १, ७, ४)" ॥

(२५) इग्मिणः। 'इषेरिच्छार्थात् (तु० प०)' 'इषियुधीन्धि (उ० १, १४२)'—इति मक्प्रत्ययः। ईषतेरिषतेर्वा बाहुलकात् मकि धातोरिग्भावः। इच्छा, गमनं, दर्शनं वा इग्मं। 'अत इनिठनौ (५, २, ११५)'। यद्वा, उणादिको मिनप्रत्ययः। एषितारो हविषां स्तुतीनाञ्च गन्तारः, द्रष्टारो वा सर्वार्थानाम्।
"ते वा शीमन्त इग्मिणो अभीरवः (ऋ० सं० १, ६, १३, ६)" ॥

(२६) वाहः। वहतेः 'वहश्च'—इति णिदसुन्। देवताः प्रत्यूह्यमानत्वात् वाहः स्तुतिः। अथवा, यदेतत् कूपसमीपे तदुदकस्योद्धृतस्य स्थानमावाह इति लोके प्रसिद्धं, तत्सदृशत्वात् सोमरसस्यपूर्णमभिषवणं चर्म वाह इत्युच्यते। "इन्द्राय वाहः कृणवाव जुष्टम् (ऋ० सं० ३, ३, १६, ३)" ॥

(२७) परितक्म्या। परिपूर्वात् तकतेर्गतिकर्मणो मनिन्। परितः सर्वतो गच्छति, सर्वस्मिन् देशे रात्रिरस्ति। अथवा तक्मोष्ण तत् परित उभयत एनां परिगृह्णाते वर्तते इति तदुक्तम्। 'तक्मेत्युष्णनाम, तक इति सत इति तेन परितक्म सति यकारोपजनेन परितक्म्या'। "कस्मै द्दितिः का परितक्म्यासीत् (ऋ० सं० ८, ६, ५, १)" ॥

(२८) सुविते। सुपूर्वादितेः क्तप्रत्ययः। 'षुङ् प्राणिगर्भमोचने'—इत्यस्माद्वा क्ते छान्दसत्वादिडागमः, उवङ् च। सप्तमी

धयवनम्। शोभनं गम्यते यत्र स्वर्गादौ तत्, प्रसूते प्रजा या। "सुषिते मायाः ( य० वा० सं० ५, ५ )" ॥

(२६) दयते। 'दय दानगतिरक्षणहिंसादानेषु ( भ्वा० आ० )' अनेकार्थत्वात् विभागदहनगमनेष्वपि वर्तते। "महोधनानि दयमानः ( ऋ० सं० २, १, ११, २ )"—इति दाने। "तेन पूर्वं दयमानाः स्याम ( निरु० ४, १७ )"—इति रक्षणे। "य एक इद्विदयते ( ऋ० सं० १, ६, ६, २ )"—इति दाने विभागे वा। "दुर्वर्तुर्भीमो दयते वनानि ( ऋ० सं० ४, ५, ८, ५ )"—इति दहने। "विदद्वसुर्दयमानो वि शत्रून् ( ऋ० सं० ३, २, १५, १ )" —इति हिंसायाम्। "मां वायसो दोषा दयमानो अबूबुधत् ( निरु० ४, १७ )"—इति गतिकर्मा ॥

(३०) नूचित्। (३१) नूच। अनयोः पदद्वयोः। "अधा चिन्नूचित्तदपो नदीनाम् ( ऋ० सं० ४, ७, २, ३ )"—"नूच पुरा च सदनं रयीणाम् ( ऋ० सं० १, ७, ४, २ )" ॥

(३२) दावने। ददातेः 'आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च ( ३, २, ७४ )'—इति व्यत्ययेन कर्मणि वनिप्। ततः षष्ठ्यर्थे द्वितीयार्थे वा चतुर्थी ( २, ३, ६२ वा० ), अल्लोपाभावश्छान्दसः ( ६, ४, १३४ )। देयस्य देवं वेत्यर्थः ॥

(३३) अकूपारस्य। 'पॄ पालनपूरणयोः ( जु० प० )'। घञ्। पारः पालनं पूरणं वा। अकुत्सितं पालनं पूरणं वा यस्य तद् अकुपारं सत् कोर्दीर्घत्वेनाकूपारम्। तस्य दावने इति सम्बन्धः। "अकूपारस्य दावने ( ऋ० सं० ४, २, ६०, २ )"। आदित्य-

समुद्रावप्यकूपारौ। पूर्ववत्। कच्छपोऽप्यकूपारः। कूपशब्दे कर्मण्युपपदे अर्तेः कर्मण्यण्। न कूपारः अकूपारः। कच्छपो हि सति सम्भवे ह्रदं गच्छति न कूपमल्पोदकत्वात्। त्रयाणां निगमाः पर्यप्याः ॥

(३४) शिशीते। 'शो तनूकरणे' दिवादिः परस्मैपदी। व्यत्ययेन शपः श्लौ ओकारस्येत्वमात्मनेपदञ्च। श्यतीत्यर्थः। 'शिशीते शृङ्गे रक्षसे विनिक्षे ( ऋ० सं० ३, ८, १५, ३ )" ॥

(३५) सुतुकः। सुपूर्वात्तकतेर्गतिकर्मणः 'गेहे कः ( ३, १, १४४ )'—इति बाहुलकात् कप्रत्ययोऽकारस्योकारश्च। सुपूर्वाद्वा तुच्छब्दस्याकार उपजनः चकारस्य उकारस्य वा ककारभावश्च। सुगमनः सुप्रजा वा। "अग्निः सुतुकः सुतुकेभिरश्वैः ( ऋ० सं० ७, ५, २१, ७ )" ॥

(३६) सुप्रायणाः। सुप्रपूर्वादयतेर्ल्युट्। 'उपसर्गस्यायतौ ( ८, २, १९ )'—इति लत्वाभावश्छान्दसः। सुप्रगमना इत्यर्थः। "सुप्रायणा अस्मिन् यज्ञे विश्रयन्तामृतावृधः ( ऋ० वा० सं० २८, ५ )"

(३७) अप्रायुवः। प्र आ-इत्युपसर्गद्वयपूर्वात् 'यु मिश्र( अदा० प० )'—इत्यस्मात् 'गेहे कः ( ३, १, १४४ )'—इति बाहुलकात् कप्रत्ययः, उवङि कृते अन्त्यस्याकारस्य लोपे जसि रूपम्। 'सुपां सुलुक् ( ७, ३, ३९ )'—इति जसः स्सुः। प्रायुवोऽप्रायुवः। अप्रगतमनस्काः प्रमाद्यन्त "अप्रायुवो रक्षितारो दिवे दिवे ( ऋ० सं० १, ६, १५, १ )"

(३८) च्यवानः। मन्त्राणीनिच्यर्थात् च्यवतेः 'युन् बहुलम् (उ० २, ७४)'—इति युचि पूर्वस्य बाहुलकाद्दीर्घः। देवान् प्रति स्तोमानां च्यावयिता गमयिता स्तोतेत्यर्थः। कर्दित्यादिमसङ्गनिवृत्तिः। "युवं च्यवानं सनयं यथारथम् (ऋ० सं० ७, ८, १५, ४)"। च्यवनस्य तु "च्यवनो भार्गवः शार्याती मानवमभिषिषेच (ऐ० ब्रा० ८, ४, ७)"—"भनयानवन् च्यवनवन् भृगुवन्"—इत्यादिर्निगमः प्रसिद्धः॥

(३९) रजः। व्याख्यातं द्यावापृथिवीनामसु (३३४ पृ०)॥

(४०) हरः। उदकनामसु (१७६ पृ०) व्याख्यातम्। रजस्तु ज्योतिरुदकलोकासृगह्निनाम्वाचकम्। भनुरञ्जयति ह्येतत् सर्वं स्वेन स्वेन व्यापारेण सर्वप्राणिनः। "या ते अग्ने रजःशया (य० वा० सं० ५, ८)"—"सुधो यज्ञस्य रजसश्च नेता (ऋ० सं० ७, ६, ४, ६)"—"त्वया हतानि सुमतो रजांसि (ऋ० सं० ४, ७, २, ३)"—"त्रिरात्रेण रजस्वला शुचिर्भवति"—"पिपर्तै रजसी धेनाभिः (ऋ० सं० ४, ५, ११, १)"—इति क्रमेण निगमाः॥ हरो ज्योतिरुदकलोकवाचकम्। ज्योतिर्हरति तमसम्, उदकं वहत् हरति सर्वं लोकेषु, ह्रियन्ते सर्वा एव कालेन मृत्युनाभ्रियन्ते। "प्रत्यग्ने हरसा हरः शृणीहि (ऋ० सं० ८, ४, ६, ५)"—इति ज्योतिषाम्। उदकलोकविनिगमौ पर्येष्यौ॥

(४१) जुहुरे। जुहोतेः 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः (३, ४, ६)' इति लिट्, 'इरयोरे (६, ४, ७६)'—इति रे, जुहति। यद्वा,

यथाप्राप्तो लिट् जुह्विरे हुतवन्तः। "जुह्वरे वि चितयन्तः (ऋ० सं० ४, १, ११, २)" ॥

(४२) व्यन्तः। व्यन्त इत्येषोऽनेककर्मा (निरु० ४, १६)'। 'वी व्यन्त इत्यत्र य एष धातुः स द्यतिवदनेकार्थ इत्यर्थः। 'वी गतिप्रजननकान्त्यशनखादनेषु (अदा० प०)'। अनेकार्थत्वात् पश्यत्यर्थोऽपि ॥

(४३) क्राणाः। करोतेर्लटः शानचि विकरणव्यत्ययेन लुक्। "गोभिः क्राणा अभूषत (निरु० ४, १६)" ॥

(४४) घासी। व्याख्याते घासनामसु (६७पृ०)। यद्वा, घासी-शब्दश्छेदनद्रव्यविशेषवचनः, तस्य सकारस्य शकारेण व्युत्पत्तिः। "घासोभिस्तक्षतास्मन्मयीभिः (ऋ० सं० ८, ५, १६, ४)" ॥

(४५) विपुणः। विगमशब्दस्य अकारस्योकारो मकारस्य णकारश्च। विगमः। "सशार्दर्यो विपुणस्य जन्तोः (ऋ० सं० ५, ३, ३, ५)" ॥

(४६) जामिः। व्याख्यातमङ्गुलीनामसु (२१२ पृ०)। अतिरेकपातिसमानजातीयानां वाचको जामिशब्दः। अति-रेकः पुनरुक्तमुच्यते, पुनर्जायमानत्वात्। "जामि वा एतद् यज्ञे क्रियते (ऐ० ब्रा० ३, ५, २)"। बालिशो मूर्खः। स कस्मैचित् पुरुषायालम्। अत्र निगमः पर्येष्यः। समानजातीय भगिनीलक्षणोऽर्थः। समानाभ्यां मातापितृभ्यां जातत्वात् जाशब्देनैवाभिधातुं शक्यमिति मिशब्द उपजनः। "यत्र जाम कृणवन्न जामि (ऋ० सं० ७, ६, ७, ५)" ॥

(४७) पिता। 'नप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षत्तृहोतृपोतृभ्रातृजामातृमातृपितृदुहितृ (उ० २, ८८)'—इत्यादिना पातेः केवलकात् ण्यन्ताद्वा तृच्प्रत्ययान्तो निपात्यते। पतिशब्दत्वेन च नामार्थो व्याख्यातः (२०१ पृ०)। "द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र (ऋ० सं० २, ३, २०, ३)"॥

(४८) शंयोः। शाम्यतेः क्विप् शम्। 'यु पृथग्भावे' इत्यस्मात् विच्। अन्ये पदद्वयमिति वर्णयन्ति। 'शमनं रोगाणां यावनं च भयानाम्'। "अथानः शंयोररपो दधात (ऋ० सं० ७, ६, १७, ४)"। प्रसङ्गेन श्रुतिसारूप्यात् भाष्ये 'अथापि शंयुर्बार्हस्पत्यः (निरु० ४, २१)'—इत्युक्तम्॥

(४९) अदितिः। पृथिवीनामसु व्याख्यातम् (११ पृ०)। ऐतिहासिकानां मते देवमाता, नैरुक्तानां मते अदीनादिगुणः अध्यात्मपक्षे प्रकृतिः। "अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम् (ऋ० सं० १, ६, १६, ५)"॥

(५०) परिरे। प्रोपसर्गार्थपृरथाङ्पूर्वात् 'ईर गतौ (धु० प०)'—इत्यस्माल्लिटि प्रत्ययेरे च। प्रेरितवन्त इत्यर्थः। "यमेरिरे भृगवो विश्ववेदसम् (ऋ० सं० २, २, १२, ४)"॥

(५१) जसुरिः। 'जसु ताडने (चु० प०)'। 'जसिसहोरुरिन् (उ० २, ६१)'—इति उरिन्प्रत्ययः। यद्वा, अस्यतेर्बाहुलकादुरिन्प्रत्यये तुडागमश्च धातोः। ताडितो बद्धमुक्तो हननाधान्तो जसुरिः। "नीयायमानं जसुरिं न श्येनम् (ऋ० सं० ·, ४, ११, ५)"॥

(५२) जरते। नैरुक्तधातुः। यद्वा, 'गॄ स्तुतौ (क्र्या० प०)'—इत्यस्य गकारस्य जकार इति स्कन्दस्वामी। "इन्धान एनं जरते स्वाधीः (ऋ० सं० ७, ८, २८, १)" ॥

(५३) मन्दिने। मन्दतेः स्तुतिकर्मणो घञि मन्दः स्तुतिः। छान्दसत्वादत इनिठनौ नेष्यते हि एकाक्षरात्, ततो जातै, सत्त्वाच्च। "प्र मन्दिने पितुमदर्चता वचः (ऋ० सं० १, ७, १२, १)" ॥

(५४) गौः। व्याख्यातं रश्मिनामसु (५२ पृ०)। "अत्राह गोरमन्वत (ऋ० सं० १, १, ७, ५)" ॥

(५५) गातुः। व्याख्यातं पृथिवीनामसु (३६ पृ०)। अत्र भावे तुन् गमनमित्यर्थः। "गातुं यज्ञाय गातुं यज्ञपतये (निरु० ४, २१)" ॥

(५६) दंसयः। दंस इति कर्मनामसु व्याख्यातम् (१३० पृ०)। अत्र तु 'सश्च इः (उ० ४, १३४)' असु। दंसयः कर्माणि दंसयत्स्येनानि। "कुत्साय मन्मन्नह्यश्च दंसयः (ऋ० सं० ८, ७, २६, १)" ॥

(५७) सूताव। सवतेर्वृद्धिकर्मणो लिटि णलि 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य (६, १, ७)'। "स सूताव नैनमश्नोत्यंहतिः (ऋ० सं० १, ६, ३०, २)" ॥

(५८) चयसे। 'चय गतौ' भ्वादिरात्मनेपदी। अत्र चातयतेर्नाशनार्थस्यार्थे वर्तते। यद्वा, चातयतेरेव विकृतं रूपम्। "वृहस्पते चयस इत् पियारुम् (ऋ० सं० २, ५, १२, ५)" ॥

(५९) वियुते। द्यौरिव पृथग्भावार्थो वियुर्वः। "समान्या वियुते दूरे अन्ते (ऋ० सं० ३, ३, २५, २)"॥

(६०) ऋधक्। अव्ययमिदं पृथग्भावस्य वाचकम्। "यदिन्द्र दिवि पार्ये यदृधक् (ऋ० सं० ६, ७, १२, ५)"। अथाप्यृध्नोत्यर्थे दृश्यते, तदा 'ऋधु वृद्धौ (स्वा० प०)' अस्मात् 'प्रथः किन् (उ० १, १३०)'—इति बाहुलकादजिमत्ययः किच। ऋध्नुवन् ऋद्धं कुर्वन्। "ऋधगया ऋधगुताशमिष्ठाः (य० वा० सं० ८, २०)"॥

(६१) अस्याः। (६२) अस्य। शब्दान्तरेणानादिष्टस्य सन्निधिविशिष्टपदार्थलक्षणस्याभिधेयस्योच्चारणं प्रथमादेशः आदिष्टतमस्य तस्योच्चारणमन्वादेशः। तत्र प्रथमादेशविषयस्याद्युदात्तं पदद्वयं तीव्रार्थतरमतिस्फुटप्रयोजनम्, अन्यानादिष्टस्यार्थत्वात्। अन्वादेशविषयतामस्यादनुदात्तं पदद्वयमल्पीयोऽर्थतरमतिशयेनास्फुटप्रयोजनम्, अन्यादिष्टस्यार्थत्वात्। "अस्या ऊ षु ण उप सातये भुवः (ऋ० सं० २, २, २, ४)"—"दीर्घायुरस्या यः पतिः (ऋ० सं० ८, ३, २७, ४)"॥ "अस्य वामस्य पलितस्य होतुः"—"तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्य (ऋ० सं० २, ३, १४, १)"॥

इति द्विपदिः पदानि॥ १॥

सलिलम् (१)। वाहिष्ठः (२)। दूतः (३)। वावशानः (४)। वार्य्यम् (५)। अन्धः (६)।

असश्चन्ती (७)। वनुष्यति (८)। तरुष्यति(६)।
भन्दनाः (१०)। आहनः (११)। नदः (१२)।
सोमो अक्षाः (१३)। श्वात्रम् (१४)। ऊतिः (१५)।
हासमाने (१६)। पड्भिः (१७)। सस्नम् (१८)।
द्विता (१६)। व्राः (२०)। वराहः (२१)।
स्वसराणि (२२)। शर्य्याः (२३)। अर्कः (२४)।
पविः (२५)। वक्षः (२६)। धन्व (२७)।
सिनम् (२८)। इत्था (२६)। सचा (३०)।
चित् (३१)। आ (३२)। द्युम्नम् (३३)।
पवित्रम् (३४)। तोदः (३५)। स्वञ्चाः (३६)।
शिपिविष्टः (३७)। विष्णुः (३८)। आघृणिः (३६)।
पृथुज्रयाः (४०)। अथर्युम् (४१)। काणुका (४२)
अध्रिगुः (४३)। आङ्गूषः (४४)। आपान्त-
मन्युः (४५)। श्मशा (४६)। उर्वशी (४७)।
वयुनम् (४८)। वाजपस्त्यम् (४६)। वाजग-
न्ध्यम् (५०)। गध्यम् (५१)। गधिता (५२)।

फीरयाणः (५३)। तीरयाणः (५४)। अह्रयाणः (५५)। हरयाणः (५६)। आरितः (५७)। ग्रन्दी (५८)। निष्पपी (५६)। तूर्णाशम् (६०)। क्षुम्पम् (६१)। निचुम्पुणः (६२)। पदिम् (६३)। पादुः (६४)। वृकः (६५)। जोषवाकम् (६६)। कृत्तिः (६७)। श्वघ्नी (६८)। समस्य (६६)। कुटस्य (७०)। चर्षणिः (७१)। शम्बः (७२)। केपयः (७३)। तूतुमाकृषे (७४)। अंसत्रम् (७५)। काकुदम् (७६)। बीरिटे (७७)। अच्छ (७८)। परि (७६)। ईम् (८०)। सीम् (८१)। एनम् (८२)। एनाम् (८३)। सृणिः (८४)। इति चतुरुत्तरमशीतिः पदानि॥२॥

(१) सस्निम्। 'ष्णा वेष्टने (अदा० प०)', 'ष्णा शौचे (अदा० प०)'। 'आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च (३, २, १७१)'—इति किन्प्रत्ययः। लिड्वद्भावाद् द्विर्वचनादिः। 'आतो लोप इटि च (६, ४, ६४)'। अववेष्टयिताभिरन्तःस्थिताभिः शोधितो वा मेघः सस्निः। "सस्निमविन्दच्चरणे नदीनाम् (ऋ० सं० ८, ७, २७, ७)"।

(२) वाहिष्ठः। वोढृशब्दात् 'तुश्छन्दसि (५, ३, ५९)'—इति इष्ठनि 'तुरिष्ठेमेयस्सु (६, ४, १५४)'—इति तृचो लोपः। वाहिष्ठ इति उपधादीर्घश्छान्दसः। अतिशयेन वोढा वाहिष्ठः। "वाहिष्ठो वां हवानाम् (ऋ० सं० ६, २, २६, १)" ॥

(३) सुतः।

(४) वावशानः। 'वश कान्तौ (अदा० प०)' 'वाशृ शब्दे (दि० आ०)'। 'लिटः कानज् वा (३, २, १०६)'। द्विर्वचनादिः। 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य (६, १, ७)'। 'न वशः (६, १, २०)'—इति यङि लिटि सम्प्रसारणनिषेधात् चिन्प्रत्यये कानच्यपि न भवति, वाश्यतेरुपधाह्रस्वत्वञ्च व्यत्ययेनैव। यङ्लुकि शानचि रूपमिति श्रीनिवासः। "समस्मनूर्णायावशानः (ऋ० सं० ७, ५, ३३, ५)" ॥

(५) वार्यम्। 'वृञ् वरणे (स्वा० उ०)'। 'एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप् (३, १, १०९)'—इति क्यपि प्राप्ते 'कृत्यल्युटो बहुलम् (३, ३, ११३)'—इति ण्यत्। 'क्यब्विधौ वृ-ग्रहणे वृञो ग्रहणमिष्यते न वृङः'—इति वैयाकरणाः। अथवाऽऽवश्यकार्थो ण्यत्प्रत्ययो द्रष्टव्यः। वार्यं वरणीयम्, अतिशयेन वरं श्रेष्ठं वा। "तद् वार्यं वृणीमहे (ऋ० सं० ६, २, २२, २)" ॥

(६) अन्धः। व्याख्यातमन्नामसु (२१६ पृ०)। "आमत्रेभिः सिञ्चता मद्यमन्धः (ऋ० सं० २, ६, १३, १)" ॥ समोऽन्धुप्यन्धः। अत्र ध्यायतिर्नञ्पूर्वः अविद्यमाने ध्याने दर्शनमस्मिन् आलोकाभावात्। वसुहोत्रे अकारान्तमिदम्

"पश्यदक्षण्वान्न वि चेतदन्धः ( ऋ० सं० २, २, १७, १ )"—इति चक्षुर्हीनस्य ॥

(७) असश्चन्ती। सश्चतिर्गतिकर्मा, अत्र सश्चतिरप्यनेनैवार्थे वर्तते। शतरि ङीपा नञ्समासः। परस्परेण सम्मिलिते अभयन्त्यौ। भवश्चित्यन्त्या वाश्रिते वा द्यावापृथिव्या उच्येते। "असश्चन्ती भूरिधारे पयस्वती ( ऋ० सं० ५, १, १४, २ )" ॥

(८) वनुष्यति। व्याख्यातं कुध्यतिनामसु (२५३ पृ०)। अत्र तु हन्त्यर्थः। "वनुयाम वनुष्यतः ( ऋ० सं० २, १, २१, १ )" ॥

(९) तरुष्यति। नैरुक्तधातुर्गत्यर्थः। 'मृत्युं तरति' 'अश्नुवन्त्याभुत्तरन्ति'। विनाशयन्ति व्यपोहन्तीति हन्त्यर्थे ततः प्रयोगदर्शनात् तरतेरुकारपकारायुपजनावित्याहुः। "इन्द्रेण युजो तरुषेम वृत्रम् ( ऋ० सं० ५, ४, १५, २ )" ॥

(१०) मन्दना:। मदन्तेः स्तुतिकर्मणः 'युच् चंचुलम् ( उ० २, ७४ )'—इति युच् टाप् शस्। मन्दना स्तुतिरित्यर्थः। "समन्दना उदियर्ति प्रजावतीः ( ऋ० सं० ७, ३, २०, १ )" ॥

(११) आहनः। आहन्तेरसुनि आहनन्ति आहनाः सम्बुद्धौ आहनः असाहायवनादाहन्तुः। "अन्येन मदाहनो याहि तूयम् ( ऋ० सं० ७ ६, ७, ३)" ॥

(१२) नदः। व्याख्यातं स्तोतृनामसु ( ३४७ पृ० )। "नदस्य मा रुधतः काम आगन् ( ऋ० सं० २, ४, २२, ४ )" ॥

(१३) सोमो अक्षाः। अक्षोतेर्लुङि सिचि 'उदितो वा ( ७, २, ५६ )'—इति अनिट् पक्षे आडागमे च आट् ति, इट्पक्षे आशिष्टेति

प्राप्ते व्यत्ययेन तस्य स्थाने सिपि पस्य कादेशो आकार इतश्चविसर्जनीयौ। क्षियतेर्वा अक्षेत्ममिति प्राप्ते व्यत्ययेन वर्तमाने लुङ्, तिपः स्थाने सिप्, च्लेरङ्, धातोष्टिलोपः, दीर्घश्च, इतश्च विसर्जनीयौ। क्षियतीत्यर्थः। "अनूपे गोमान् गोभिरक्षाः (ऋ० सं० ७, ५, १३, ४)" ॥ 'क्षर सञ्चलने (भू० प०)' अक्षारीदिति प्राप्ते तिपि सिचि वृद्धौ बहुलश्छन्दसीतीडभावे इतश्च लोपे संयोगान्तस्य लोपे रात्सस्येति सलोपे रेफस्य विसर्जनीयः आडागमः क्षरतीत्यर्थः। "सोमोदुग्धाभिरक्षाः (ऋ० सं० ७, ५, १३, ७)"। 'सर्वे क्षियतिनिगमाः'—इति शाकपूणिर्निर्णयाह उक्तः ॥

(१४) श्वात्रम्। व्याख्यातं धननामसु (२३८ पृ०)। इह क्षिप्रनाम। "श्वात्रमभिरकृणोज्ञातवेदाः (ऋ० सं० ८, ४, १०, ४)" ॥

(१५) ऊतिः। अवतेः 'ऊतियूतिजूतिसातिहेति (३, ३, ९७)'—क्तिन्नुदात्तो निपात्यते। ज्वरत्वरेत्यूठ्। अत्रावनं रक्षणं तर्पणं वा। "आ त्वा रथं यथोतये (ऋ० सं० ६, ५, १, १)" ॥

(१६) हासमाने। हासतिः स्पर्धायां हर्षणे वा वर्तते। स्पर्धमानौ परस्परं हृष्यन्तौ वा। "अश्वे इव विषिते हासमाने (ऋ० सं० ३, २, १२, १)" ॥

(१७) पद्भिः। पिबतेः स्पाशयतेर्वा बन्धनार्थात् स्पृशतेर्वा 'सर्त्तेरटिः (उ० १, १३३)'—इति बाहुलकादटिप्रत्ययो धातूनां पकारभावश्च। पानैः सोमस्य। यद्वा, स्पाशनैर्बन्धनैः स्पर्शनैः

स्तुतिलक्षणैर्गुणानाम्। "यप्रकः पङ्क्तिरुपसर्पदिन्द्रम् (ऋ० सं० ८, ५, १५, ६)" ॥

(१८) ससम्। 'षस स्वप्ने (अदा० प०)'। पचाद्यच् (३, १, १३४)। स्वपितीति ससम्, माध्यमिकं ज्योतिरुच्यते, पर्याप्त्यतिरिक्तकालेऽदर्शनात् स्वापव्यपदेशः। "ससं न पक्वमविदच्छुचन्तम् (ऋ० सं० ८, ३, १४, ३)" ॥

(१९) द्विता। द्विशब्दात् 'सङ्ख्याया विधार्थे धा (५, ३, ४२)। धकारस्य तकारेण व्युत्पत्तिः। द्विधेत्यर्थः। "द्विता च सत्ता स्वधया च शम्भुः (ऋ० सं० ३, १, १७, ५)" ॥

(२०) ग्राः। 'वृञ् वरणे (स्वा० उ०)'। 'गेहे कः (३, १, १४४)'—इति बाहुलकात् कः, यणादेशः, जस्। वरितारोऽन्वेष्टारो मृगादीनाम्। व्रात्यस्थानीयाः लुब्धकादयः। "मृगं न व्रा मृगयन्ते (ऋ० सं० ५, ७, १८, १)" ॥

(२१) वराहः। व्याख्यातो मेघनामसु (८३ पृ०)। निगमोऽपि तत्रैव दर्शितः ॥

(२२) स्वसराणि। अहर्नामसु व्याख्यातोऽयं शब्दः (७४ पृ०) निगमोऽपि तत्रैव दर्शितः ॥

(२३) शर्याः। अङ्गुलीनामसु व्याख्यातः (२०१ पृ०)। अत्र इयच उच्यन्ते। "शर्याभिर्न भरमाणो गभस्त्योः (ऋ० सं० ७, ५, २२, ५)" ॥

(२४) अर्कः। अर्चतेः 'कृदाधारार्चिकलिभ्यः कः (उ० ३, ४०) कः। अर्चति जीवयतीत्यत्र मन्त्रम् इति शत्ये।

त्यमुदाहरणम्। अतएव केचित्र पठन्त्यत्र अर्कम्। वृक्षे- प्यर्चेति। "अर्कपर्णे जुहोति"॥

(२५) पविः। व्याख्यातो वाङ्नामसु (१८ पृ०)। रथनेमिश्च पविः। "उत पव्या रथानाम् (ऋ० सं० ४, ३, ६, ४)"। पक्षस्य दर्शितः॥

(२६) पक्षः। पहतेः 'पहः सुट् च'—इत्यसुन्। मध्यं काय उपरि कायस्य प्रान्तं प्रापितं चेत्यर्थः। उर इत्युच्यते। "उपो अदर्शि शुन्ध्युवो न वक्षः (ऋ० सं० २, १, ७, ४)"॥

(२७) धन्व। व्याख्यातमन्तरिक्षनामसु (४६ पृ०)। स एष निगमः॥

(२८) सिनम्। व्याख्यातमन्ननामसु (२२३ पृ०)। स एव निगमः॥

(२९) इत्था। इदंशब्दात् 'था हेतौ च छन्दसि (५, ३, २६)'—इति हेतौ प्रकारवचने थाल्प्रत्ययः। एतेर्वा थाल् 'प्रत्नपूर्वविश्वेमात्थाल् छन्दसि (५, ३, १११)'—इति इवार्थे थाल् विहितो व्यत्ययेन प्रकृतिभूतादिदंशब्दादपि भवति। अनेन हेतुना, अनेन प्रकारेण, अयमेवेति चार्थः। "इत्था चन्द्रमसो गृहे (ऋ० सं० १, १, ७, ५)"॥ 'अमुथा (निरु० ५, ५)'—इत्थोऽमुथा कथमिति निरूपणीयम्, इत्थायितीति छन्दस्याः प्रत्ययः निरूपणीयः॥

(३०) सचा। सहार्थेऽयं निपातः। "आदित्यैरिन्द्रैर्वसुं सचा भुवः (ऋ० सं० १, ३, १७, १)"॥

(३१) चित्। निपातो नाम च। निपातोऽनुदात्तः। "चिदित्येषोऽनेककर्मा"—इत्यादिना व्याख्यातः (निरु० १, ४)। "चतुरश्चिद्ददमानात् (ऋ० सं० १, ३, २३, ४)"—इत्युपमायाम्। अथ कुत्सनादिष्वपि निगमा अन्वेष्याः। नाम तु चिनोतेश्चिनोतेर्वा क्विपि चिदिति भवति। चिती भागी क्षीरादिभिः चित्या वा सोमक्रयण्युच्यते। "चिदसि मनासि धीरसि (य० वा० सं० ४, १९)"॥

(३२) आ। 'आ इत्यर्वागर्थे'—इत्युपसर्गो व्याख्यातः (निरु० १, ३)। "परा याहि मघवन्ना च याहि (ऋ० सं० ३, ३, १६, ५)"—इत्युपसर्गस्य। "जार आ भगम् (ऋ० सं० ७, ६, १०, १)"—इत्युपमायाः "आमेन्यस्य रजसो यदभ्र आँ अपः (ऋ० सं० ४, ३, २, १)"—इत्यध्यर्थस्य॥

(३३) द्युम्नम्। व्याख्यातं धननामसु (२४० पृ०)। अत्र यशोऽन्न' चाभिधीयते। "अस्मै द्युम्नमधिरत्न' च धेहि (ऋ० सं० ५, ३, ६, ३)"॥

(३४) पवित्रम्। पुनातेः 'पुवः सञ्ज्ञायाम् (३, २, १८५)'—'कर्त्तरि चर्षिदेवतयोः (३, २, १८६)'—इतीत्रप्रत्ययः। मन्त्ररश्म्यापोऽग्निवायुसोमसूर्येन्द्राश्चाभिधेयाः। मन्त्रादिषु करणसाधनः अग्न्यादिषु कर्मसाधनः। "येन देवाः पवित्रेण
१ २ ३ २ ३ १ २ ३
(सा० सं० २, ५, २, ८, ४)"—इति मन्त्रस्य। "गभस्तिपूतो नृभिरद्रिभिः सुतः (ऋ० सं० ७, ३, १८, ४)"—पवित्रवन्तः परि

विभासते ( ऋ० सं० ७, २, २१, ३ )"—इति च रश्मीनाम्।
शतपवित्राः स्वधया मदन्तीः ( ऋ० सं० ५, ४, १४, ३ )"
—इत्यपाम्। "अग्निः पवित्रं स मा पुनातु वायुः सोमः सूर्य इन्द्रः
पवित्रन्ते मा पुनन्तु ( निरु० ५, ६ )"—इत्यग्न्यादीनाम्॥

(३५) तोदः। तुद्यते पुत्रपौत्रादिभिः स्वसमीहितसाधनाय।
तुदेर्घञ्। यद्वा, 'देवसेवमेवादयः पचादौ द्रष्टव्याः'—इति
पचाद्यच्। तुदति प्रेरयति कार्येषु कर्मकारानिति तोदो गृहस्थः।
"तोदस्येव शरण आ महस्य ( ऋ० सं० २, २, १६, १ )"॥

(३६) स्वञ्चाः। सुपूर्वादञ्चतेरसुन्। सुगमन इत्यर्थः।
"आ जुह्वानो घृतपृष्ठः स्वञ्चाः ( ऋ० सं० ८, २, ८, १ )"॥

(३७) शिपिविष्टः। (३८) विष्णुः। एते विष्णोरादित्यस्य
नामनी। शिपिविष्टशब्दोऽत्र सामर्थ्याद्दस्तर्णीतोपमानार्थः।
'यादृशः शेपो निर्वेष्टितः तादृश इति, शेप इव वेष्टनस्यगुचिवर्जितः'
—इति श्रीभोजनिवासः। उदितमात्रत्वादप्रतिपन्नरश्मिः।
अपिवा, 'उपमानयोगात् कुत्सितार्थीयमिदम्'—इत्यौपमन्यवः।
पृषोदरादित्वाद्रूपसिद्धिः अर्थसङ्गतिश्च। 'प्रशंसानाम'—इत्याचार्यः।
शिपिभिः रश्मिभिः आविष्टः शिपिविष्टः उपात्तरश्मिः॥
विष्णुशब्दो व्याख्यातो यज्ञनामसु ( ३५१ पृ० ) अर्थोऽनुगुणः।
"किमित्ते विष्णो परि चक्ष्यं भूत् प्रयद् ववक्षे शिपिविष्टो अस्मि
( ऋ० सं० ५, ६, २५, ६ )"—इत्युभयोर्निगमः॥

(३९) आघृणिः। घृणिशब्दो ज्वलन्नामसु ( १३६ पृ० )
क्रोधनामसु ( २४८ पृ० ) च व्याख्यातः। आगतदीप्तिरागतक्रोधः

था।  "आघृणे संसनामहे (ऋ० सं० ४, ८, २१, १)" —इति दीप्तिनामत्वे निगमः। क्रोधवचने स्वेम्य उदाहरणं कर्त्तव्यम्।

(४०) पृथुज्रयाः। 'ज्रि अभिभवे'-(भ्वा० प०)'। असुनि बाहुलकात् ककारस्य रेफः। ज्रयो वेगः। पृथुः ज्रयो यस्य सः। वेगेनान्यानभिभविता महाजवः इत्यर्थः। "पृथुज्रया अमिनादायुर्दस्योः (ऋ० सं० ३, ३, १३, २)" ॥

(४१) अथर्युम्। अततेः। 'जनिमनियजिदमिभ्यः'—इति बाहुलकात् युस्प्रत्ययो धातोरथरादेशश्च सकार इत्संज्ञकः। अततं गमनमथर्युशब्देनोच्यते मत्वर्थीयस्य लुक् गमनवन्तमित्यर्थः। "दूरे दृशं गृहपतिमथर्युम् (ऋ० सं० ५, १, २३, १)" ॥

(४२) काणुका। कान्तकान्तहतशब्दानां काणुभावः। तत्र स्वार्थे कः। शसि 'शेश्छन्दसि बहुलम् (६, १, ७०)'—इति शेर्लुक्। कान्तानि प्रियाणि, क्रान्तानि आहवनीयं प्रति गतानि, ऋत्विक् प्रति हृतानि, ऋत्विग्भिः संस्कृतानि सरांसि विशिष्यन्ते। (यद्वा, काणुकेति इन्द्रविशेषणम्। सोमस्य कान्तः वल्लभः। यद्वा, कणेशब्दः 'कणेमनसी श्रद्धा प्रतिघाते'—इति, तस्य काणुकेति रूपं क्रियाविशेषणञ्च। "इन्द्रः सोमस्य काणुका (ऋ० सं० ६, ५, २१, ४)" ॥

(४३) अध्रिगुः। अधिकृतो गौर्यस्मिन् मन्त्रे सोऽध्रिगुः। अधिकृतशब्दस्याध्रिभावः, गोशब्दश्चात्र पशुमात्रोपलक्षकः। छागादिष्वधिकृतत्वात्। यद्वा, अधिग्धादिशब्दपरत्वादध्रिगुः।

प्रथिवप्रभृतीनामधिगोर्मुखत्वात्प्रधिगुशब्देनाभिधानम् । अधि-
रिन्द्रश्चाधिगुशब्देनोच्यते । अधृतगमनः सर्वत्राप्रतिहतगतिरि-
त्यर्थः । अत्राधृतशब्दस्याधिभावः । गमनं गौः । "अध्रिगोशमीध्वं
(पै० ब्रा० २, १, ७)"—सुत्यं श्लोकस्त्यध्रिगो शचीवः ( ऋ० सं०
३, १, २१, ४ )"—"अधीयमायाध्रिगयमोहम् ( ऋ० सं० १, ४,
२७, १ )"—इति क्रमेण निगमाः ॥

(४४) आङ्गूषः । आङ्पूर्वात् घुषेर्वम् । आघुष्यते आघोषः ।
घोकारस्य ङ्गूकारमावः । 'आङोऽनुनासिकश्छन्दसि ( ६, १,
१२६ )'—इत्यनुनासिको व्यत्ययेन । स्तोमोऽभिधेयः । "प ना-
ङ्गूषेण वयमिन्द्रयन्तः ( ऋ० सं० १, ७, २३, ४ )" ॥

(४५) आपान्तमन्युः । आपादितमुत्पादितं संस्कारेण
मन्युर्दीप्तिर्यस्य । आपादितशब्दस्यापान्तभावः, मन्युशब्दो व्याख्यातः
क्रोधनामसु ( २५० पृ० ) । सोम उच्यते । इन्द्रश्चापान्तमन्युः ।
उत्पादितदीप्तिर्यस्य उत्पादितक्रोधो वा । "आपान्तमन्युस्तृ-
पलप्रभर्मा ( ऋ० सं० ८, ४, १४, ५ )" ॥

(४६) श्मशा । श्म शरीरमश्नुते व्याप्नोति । श्मशब्दोपपदात्
अश्नोतेः पचाद्यच् । उदकवाहिनी कुल्या नाडी वाऽन्नरसवाहिनी
या श्मशोच्यते । श्म अश्नुते इति निर्वचनं स्कन्दस्वामिग्रन्थे
नास्ति श्रीनिवासमते तु श्मशब्दोपपदात् अश्नोतेः पूर्ववद्च्,
स्वं ग्रासती श्मशा, धकारस्य मकारः । "आच श्मशा रुधत्
( ऋ० सं० ८, ५, २६, १ )" ॥

(४) उर्वशी । उरुशब्दोपपदात् अश्नोतेर्वष्टेर्वा 'इन् स

धातुभ्यः (उ० ४, ११४)'—इतिन्प्रत्यये 'कृदिकारात् (४, १, ४५ वा०)'—ङीप् वस्तुत्तरपदे उकारस्य वलोपश्च । उरु महत् स्थानं यशो वा व्याप्नोति । उरुभ्यां वा अश्नुते सम्भोगकाले कामिनं वशीकरोति, शिल्पोपचारकुशलेत्यर्थः । उरुर्वा वशः कामो यस्याः महेच्छेत्यर्थः । व्यधिकरणो बहुव्रीहिः । बहु कामो यस्याः, बहूनां वा कामो यस्याः । "उर्वश्या ब्रह्मन् मनसोऽधिजातः (ऋ० सं० ५, ३, २४, १)" ॥

(४८) वयुनम् । व्याख्यातं प्रज्ञानामसु (२६१ पृ०)। कान्तिः प्रभा वाभिधेया । "स इत्तमोऽवयुनं ततन्वत् सूर्येण वयुनवच्चकार (ऋ० सं० ४, ६, ११, ३)" ॥

(४९) वाजपस्त्यम् । वाजशब्दो व्याख्यातोऽन्ननामसु (२२० पृ०), पस्त्यशब्दो गृहनामसु (२१५ पृ०) वाजश्च पस्त्यञ्च पूर्णमेतद्द्वयमस्माकमिति मन्यमाना यस्मिन् देवाः पतन्ति तम्। सोम उच्यते । "सनेम वाजपस्त्यम् (ऋ० सं० ७, ४, २४, ६)" ॥

(५०) वाजगन्ध्यम् । 'गन्ध अर्दने' चुरादिरात्मनेपदी । अत्र मिश्रणार्थः । 'अचो यत् (३, १, ९७)' । गृह्णातेर्गन्ध्यादेशो यत्प्रत्ययश्चेति केचित् । गृह्यमाणस्य मिश्रीभावात् गन्ध्यं मिश्रयितव्यमित्यर्थः । "अश्याम वाजगन्ध्यम् (ऋ० सं० ७, ४, २५, ६)" ॥

(५१) गध्यम् । गृह्णातेः अघ्न्यादित्वात् (उ० ४, १०८) यत्प्रत्ययो धातोर्गध्यादेशश्च । 'ग्राह्य' गृह्यमाणस्य मिश्रीभावात्

आत्मना मिश्रयितव्यं मशयितव्यमित्यर्थः। सोम उच्यते। "अद्रा वाजं ॥ गव्यं युयूषत् ( ऋ० सं० ३, ५, १६, १ )" ॥

(५२) गधिता। ग्रहेः के ग्रहस्य गधादेशः। "आगधिता परिगधिता" ( ऋ० सं० २, १, ११, ६ )"। आगृहीता, भव-यवैर्गाढ़ं परिष्वक्ता सतीत्यर्थः। परिगधिता, सर्वतोऽन्तर्बहिश्च मिश्रितः आलिङ्गनचुम्बनपुरःसरं प्राप्तप्रजनना सती सानुरागं सम्भोगाय परिगृहीता च सतीत्यर्थः॥

(५३) कौरयाणः। कौशब्दः कृतशब्दपर्यायः। शत्रून् प्रति कृतमेव यानमायानं नित्यं कृतमनः। यद्वा, हस्त्यश्वो रथ इत्यादिसङ्ग्रामे कृतं कल्पितं प्रयाणाभिमुखं यानं वाहनं यस्य स कौरयाणः। "पाक स्थामा कौरयाणः ( ऋ० सं० ५, ७, २१, १ )" ॥

(५४) तौरयाणः। तूर्णशब्दस्य तौरभावः। तूर्णयानः क्षिप्रगमन इत्यर्थः। "स तौरयाण उपयाहि यज्ञम् ( ऋ० सं० ३, ३, १६, ३ पा० )" ॥

(५५) अहयाणः। हीतशब्दस्य हभावः। अहीयमाणः अलज्जितमानः यो हविर्भ्यो दातुं न शक्नोति, स हीतो गच्छति, तद्वस्य नास्ति, अतः श्लाघ्यगमन इत्यर्थः। "अनुष्टुपा कृणुहा-हयाणः ( ऋ० सं० ३, ४, २५, ४ )" ॥

(५६) हरयाणः। हरतेः पचाद्यचि हरः। शत्रूणां जीवितैश्वर्यादिहन्तृ यानं यस्य सः। शत्रुजीवितादीनां हर्त्तेत्यर्थः। "रजतं हरयाणे ऋ० सं० ६, २, २५, २ )" ॥

(६३) पत्रिम्। 'पतॢ गतौ (भू० प०)'। 'इन् सर्वधातुभ्यः (उ० ४, ११४)'। पत्रिः पक्षी। आकाशे ह्यसौ नित्यं पत्यते गच्छति। "सुशीजयेव पत्रिमुत्सिनानि (ऋ० सं० २, १०, २)"॥

(६४) पादुः। पद्यतेः 'छन्दसीणः (उ० १, २)'–इति बाहुलकादुण् वृद्धिः। पदनं पादुः। "स पादुरस्य निर्णिजो न मुच्यते (ऋ० सं० ७, ७, १६, ४)"॥

(६५) वृकः। व्युपसर्गार्थविशिष्टाद् वृणोतेः 'सृवृभूशुषिमुषिभ्यः कित् (उ० ३, ३१)'—इति कप्रत्ययः। वृकश्चन्द्रमाः। विवृतं स्पष्टज्योतिष्मत्वात् विवृत इत्युच्यते, न हि नक्षत्राणामिवाव्यक्तमस्य ज्योतिः। विरतविक्रान्तशब्दयोर्वृकभावः। विरतत्वं ज्योतिषः शीतत्वात् ह्रासवृद्धिभ्यां वा। विक्रान्तत्वं ज्योतिषो दिगन्तरगमनात्। "अरु णो मा सकृद्वृकः (ऋ० सं० १, ७, २३, ३)"। यद्वा, 'वृजी वर्जने' अदादिः। अनेकार्थत्वादावृणोत्यर्थः। पूर्वसूत्रेण बाहुलकात् को नकारजकारलोपश्च। आदित्य उच्यते। आवृङ्क्ते आवृणोति जगत् प्रकाशेन, आवृणोति चोदकानि रश्मिभिः सम्भजत इत्यर्थः। यद्वा, वृणक्तेर्वधकर्मणः पूर्ववद्रूपम्। विनाशयति तमांसि। "आमो यत्सोममुश्नुतं वृकस्य (ऋ० सं० १, ८, १६, १)"। विविधं हन्तति उरणादीनि विकर्त्ता सन् वृकश्च। विपूर्वात् हन्ततेः पूर्ववद्रूपसिद्धिरन्वेया। "वृकश्चिदस्य वारण उरामथिः (ऋ० सं० ६, ४, ४१, ३)"। अपि वा शृगाली शिवेति प्रसिद्धा

ा पृथगुच्यते। "शतं मेषान् वृक्ये चक्षदानम् (ऋ० सं० १,
, ११, १)" ॥

(६६) जोषवाकम्। 'जुषी प्रीतिसेवनयोः (तु० आ०)'
र्मणि घञ्, घचेर्भावे। जोषयितव्यं वचनम्। विस्पष्टाय
ोषयितव्यं वचनम्। अविस्पष्टं वचनमित्यर्थः। "जोषवाकं
दतः पज्रहोषिणा (ऋ० सं० ४, ८, २७, ४)" ॥

(६७) कृत्तिः। कृन्ततेः रूपम्। यशोऽन्नं वा। यशो हि
ंगतः कृन्तति दुर्भक्तं यान्नं मायादि मोचकारम्। "मही च कृत्तिः
रण्या न इन्द्र (ऋ० सं० ६, ६, १३, ६)"। शरीरात् कृन्तति
र्मेमध्यपि कृत्तिः। मृगमध्यपि कृत्तिः शरत्तुवरत्नखण्डमथितत्वात्
र्तेनसामान्यात्। कृत्तिरिव कृत्तिः चन्द्रोच्यते। "कृत्तिं वसान
ाचर (य० वा० सं० १६, ५१)" ॥

(६८) श्वघ्नी। श्वशब्दे कर्मण्युपपदे भूतेऽर्थे 'कर्मणि हनः
३, २, ८६)'—इति णिनिप्रत्ययः। स्वं धनं हतवान् स्वघ्नासी
नन् श्वघ्नी कितवः। श्वशब्दः श्वघ्नेत्यत्र (१४०, पृ०) व्याख्यातः।
"कृतं न श्वघ्नी विचिनोति देवने (ऋ० सं० ७, ८, २४, ५)" ॥

(६९) समस्य। समशब्दः सर्वपर्यायः सर्वनामसु पठ्यते
'त्वत्वसमसिमनेमेत्यनुदात्तानि (फि० ४)'—इति सर्वानुदात्तः।
"मा नः समस्य दूढ्यः (ऋ० सं० ६, ५, २०, ४)"। "उप-
व्याणो मघवनः समस्मात् (य० वा० सं० ३, २६)"। "उत
समस्मिन्नाशिशीहि नो वसो: (ऋ० सं० ६, २, २, ३)"।
"नमस्तामन्यके समे (ऋ० सं० ६, ३, २२, १)" ॥

(७०) कुटस्य। (७१) चर्षणिः। कृतशब्दस्य कुटभाव
कुटधातोः कुटेः कप्रत्यय इत्यन्ये। चर्षणिशब्दो व्याख्या
पश्यतिकर्मसु (३३३ पृ०)। "पिता कुटस्य चर्षणि ( ऋ० स
१, ३, ३२, ४ )" ॥

(७२) शम्बः। व्याख्यातं शम्बर इति मेघनामसु (८३ पृ०)
"उग्रो यः शम्बः पुरुहूत तेन ( ऋ० सं० ७, ८, ६३, २ )" ॥

(७३) केपयः। कुशब्दोपपदात् पुनातेः 'अविपुणकुविभ्य
यण्'—इति बाहुलकात् क्यप्, कोः कादेशः। कपूयः कुपूय
दुःशोध्यः दुःकामेत्यर्थः। कपूयेन सहन्तोऽपि कपूयाः, अकारो
मत्वर्थीयः। कुत्सितकर्माण उत्थापितपापकर्माणो वोच्यते।
कपूयाः सन्तः केपयः। "ई मीवते न्यविशन्त केपयः ( ऋ० सं०
७, ८, २७, १ )" ॥

(७४) तूतुमाकृषे। 'तुतुमेत्यस्य शीघ्रगत्यर्थस्य तूर्णमित्य-
र्थमः'—इति स्कन्दस्वामी। निर्वाहो निरुपणीयः। करो-
तेर्लेटि 'थासः से (३, ४, ८०)' उप्रत्ययस्य 'बहुलं छन्दसि (२,
४, ७३)'—इति लुक् कुरुष इत्यर्थः। "एता विश्वा सवना
तूतुमा कृषे ( ऋ० सं० ८, १, ६, ६ )" ॥

(७५) अंसत्रम्। आङ्पूर्वाद्धन्तेरसुनि टिलोप आकारस्य
ह्रस्वत्वं च। आहन्तीत्यंहः पापम्। पापेन चात्र तत्फलभूत-
प्रहारादिकं लक्ष्यते। अंहसस्त्रायते। 'आतोऽनुपसर्गे कः
(३, २, ३)'—इत्यंहसस्त्रं सदंसत्रम्। धनुर्वा कवचं वा।
"अंसत्रकोशं सिञ्चता नृपाणम् ( ऋ० सं० ८, ५, १६, १ )" ॥

(७६) काकुदम्। कौतेः शब्दकर्मणो यङि, पचाद्यचि, 'यङोऽचि च (२, ४, ७४)'—इति यङ्लुकि, द्विर्वचनादौ, 'न धातुलोप आर्द्धधातुके (१, १, ४)'—इति गुणनिषेधः। कोकूयते पुनः पुनः शब्दं करोतीति काकुर्जिह्वा। कोकूयाधानं सद्व वर्णस्वरादिना काकुदं तालु। कोकूयमाना तुदतीति वा। कोकूयतेर्नुदेर्वा काकुदम्। "अनुक्षरन्ति काकुदम् (ऋ० सं० ६, ५, ७, २)" ॥

(७७) बीरिटे। भियो वा नक्षत्रादीनां वाभासस्तस्मिंस्ततं यस्मिन्। तत् भीततं भास्ततनं वा सत् बीरिटमन्तरिक्षम्, मनुष्यगणो वा अनालम्बेऽन्तरिक्षे हि भीतिः कस्य न जायते, पृथ्वीकेन्द्रो यतो हि तस्मात्तत्रापि तद् भयं। "आ विध्यतो च बीरिटे इयाते (ऋ० सं० ५, ४, ६, २)" ॥

(७८) अच्छ। निपातः। अव्ययम्। आभिमुख्यार्थे वर्तते। आप्तुमित्यर्थार्थ इति शाकपूणिः ॥

(७९) परि। (८०) ईम्। (८१) सीम्। इति व्याख्यातानि प्राक् सिद्धे निपातप्रकरणे (नि० १, ३ पृ०) अनेकार्थत्वा-दिहोपन्यासः। तत्रोदाहरणानि प्रदर्शितानि ॥

(८२) एनम्। (८३) एनाम्। एतच्छब्दस्य सम्बन्धे अन्वादेश-केन पदयुग्मेन 'उदात्तम् प्रथमादेशे, अनुदात्तमन्वादेशे'—इत्येव व्याख्यातम् (नि० ४, ३०)। अनेकार्थत्वादुपन्यासः। "किम एनमाहुः" —इत्येवमादीन्युदाहरणानि ॥

(८४) सृणिः। 'सृ गतौ (भ्वा० प०)'। 'घृणिपृश्निपार्ष्णि-चूर्णिभूर्णयः किन्'—इति निप्रत्ययः। तद्विभक्ते अपि सत्यात्

सृणिशब्देनात्र दात्रमभिप्रेतम् ॥ "नदीय इत्सृण्यः पक्वमेत
(य० वा० सं० १२, ६८)" ॥

इति चतुरशीतिः पदानि ॥ २ ॥

आशुशुक्षणिः (१) । आशाभ्यः (२) । काशिः (३) । कुणारुम् (४) । अलातृणः (५) । सललूकम् (६) । कत्पयम् (७) । विस्नुहः (८) । वीरुधः (९) । नक्षद्दाभम् (१०) । अस्कृधोयुः (११) । निशृम्भाः (१२) । वृचदुक्थम् (१३) । ऋदूदरः (१४) । ऋदूपे (१५) । पुलुकामः (१६) । असिन्वती (१७) । कपना (१८) । भाऋजीकः (१९) । रुजानाः (२०) । जूर्णिः (२१) । ओमना (२२) । उपलप्रक्षिणी (२३) । उपसि (२४) । प्रकलवित् (२५) । अभ्यर्धयज्वा (२६) । ईक्षे (२७) । क्षोणस्य (२८) । अस्मे (२९) । पाथः (३०) । सबीमनि (३१) । सप्रथाः (३२) । विदथानि (३३) । श्रायन्तः (३४) । आशीः (३५) । अजीगः (३६) ।

प्रमूरः (३७)। शशमानः (३८)। देवोदेवाच्या-
कृपा (३९)। विजामातुः(४०)। ओमासः(४१)।
सोमानम् (४२)। अनवायम् (४३)। किमीदिने
(४४)। अमवान् (४५)। अमीवा (४६)।
दुरितम् (४७)। अप्वे (४८)। अमतिः(४९)।
श्रुष्टी (५०)। पुरन्धिः (५१)। रुशत् (५२)।
रिशादसः (५३)। सुदत्रः (५४)। सुविदत्रः
(५५)। आनुषक् (५६)। तुर्वणिः (५७)।
गिर्वणाः (५८)। असूर्ते सूर्ते (५९)। अम्यक्
(६०)। यादृश्मिन् (६१)। जारयायि (६२)।
अग्रिया (६३)। चनः (६४)। पचता (६५)।
शुरुधः (६६)। अमिनः (६७)। जज्झतीः (६८)।
अप्रतिष्कुतः (६९)। शाशदानः (७०)। सप्रः
(७१)। सुशिप्रः (७२)। रंसु [illegible] द्विवर्हाः
(७४)। अक्र (७५) [illegible]
(७७)। [illegible]

(८०) । कुलिशः (८१) । तुञ्जः (८२) । वर्हणा (८३) । ततनुष्टिम् (८४) । इलीबिशः (८५) । कियेधाः (८६) । भृमिः (८७) । विप्पितः (८८) । तुरीपम् (८९) । रास्पिनः (९०) । ऋञ्जतिः (९१) । ऋजुनीती (९२) । प्रतद्वसू (९३) । हिनोत (९४) । चोष्कूयमाणः (९५) । चोष्कूयते (९६) । सुमत् (९७) । दिविष्टिषु (९८) । दूतः (९९) । जिन्वति (१००) । अमत्रः (१०१) । ऋचीषमः (१०२) । अनर्शरातिम् (१०३) । अनर्वा (१०४) । असामि (१०५) । गल्दया (१०६) । जल्हवः (१०७) । बकुरः (१०८) । बेकनाटान् (१०९) । अभिधेतन (११०) । अंहुरः (१११) । बतः (११२) । वाताप्यम् (११३) । चाकन् (११४) । रथर्यति (११५) । असश्चाम् (११६) । आधवः (११७) । अनवब्रवः (११८) । सदान्वे (११९) । शिरिम्बिठः (१२०) । पराशरः (१२१) । क्रिविर्दती (१२२) ।

करूलती (१२३)। दनः(१२४)। शरारुः (१२५
इदंयुः(१२६)।कीकटेषु (१२७)। बुन्दः (१२८
वृन्दम् (१२९)। किः (१३० । उल्बम्(१३१
ऋबीसम् (१३२)। ऋबीसमिमिति द्वात्रिंशच
पदानि ॥ ३ ॥

जहासत्रिमाशुशुक्षणिस्त्रीणि॥

इति निघण्टौ चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ॥ ४

(१) आशुशुक्षणिः। शुचेर्ज्वलतिकर्मणः क्विपि शुक्
क्षणिर्हिंसार्थः, 'इन् सर्वधातुभ्यः (उ० ४, ११४),-इतीन्, क्ष
इन्। आशु शुचा दीप्त्या क्षणिता हिंसिता तमसो
सम्भक्ता वा पाके शाकप्रकाशनादेः स्वव्यापारस्य। अग्निर
यद्वा, आङ्पूर्वाच्छुचेरन्तर्णीतण्यर्थात् सनि आशुशुक्ष इति
'आङि शुचेः सनः'—इति विहितः अनिप्रत्ययो बाहुलकाच्
भवति। 'आङि शुचेः—इत्येव वा तत्र पाठः। आशु शो
मादीपयितुमिच्छा, तस्या कर्त्ता आशुशुक्षणिः आदीपयितुमि
"त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिः (ऋ० मं० २, ५, १३, १)"

(२) धाशाभ्यः। व्याख्यातं दिङ्नामसु (६१ पृ०)।
निगमः (ऋ० मं० २, ८, ६, २)॥

(३) काशिः। काशतेः 'इन् सर्वधातुभ्यः (उ० ४, ११८)'—इतीन्प्रत्ययः। प्रकाश्यते इति काशिर्मुष्टिः। "यत्संगृभ्णा मघवन् काशिरित्ते (ऋ० सं० ३, २, १, ५)"॥

(४) कुणारुम्। कणतेः शब्दकर्मणः 'कणेरारुः'—इति बाहुलकात् आरुप्रत्ययस्ताच्छीलिकः, णकारस्य सम्प्रसारणञ्च। शब्दनशीलः कुणारुः, तन्मेघ उच्यते। "अहस्त मिन्द्र सम्पिणक् कुणारुम् (य० वा० सं० १८, ६६)"॥

(५) अलातृणः। अलंशब्दोपपदात् तृदेर्हिंसार्थात् 'घीणस्थूण-मणभ्रूणस्थूणतूणतृणघृणादयः (उ० ३, १३)'—इति णप्रत्ययो दकारलोपो गुणाभावोऽलमोमकारस्याकारश्च निपात्यते। यद्वा, लुटि दकारस्य लोपो गुणा भावश्च पृषोदरादित्वात्॥ अलं पर्याप्तमातर्दनं हिंसा यस्य, बहुदकदानात् मेघो विशिष्यते। "अलातृणोबल इन्द्र व्रजो गोः (ऋ० सं० ३, २, २, ५)"॥

(६) सलल्दूकम्। सम्पूर्वाल्लुभेर्निष्ठायां 'लुभो विमोहने (७, २, ५४)'—इतीडागमः। यद्वा, सर्तेः 'मण्डूकोलूकोलूक-शुकशम्बूकयूकयकारूकादयः (उ० ४, ४०)'—इत्यूकप्रत्यये गुणे रपरे कृते अर्त्यस्य द्विवचनरेफयोर्लत्वापत्तिश्च निपात्यते। सरणशीलमत्यन्तदूरं नष्टमित्यर्थः। वक्षो विशिष्यते। "आ कीमत सलल्दूकं चकर्थ (ऋ० सं० ३, २, ४, २)"॥

(७) कत्पयम्। कमिति सुखनाम। तस्य मकारस्य तकारः पयसश्च सल्लोपः। कत्पयं सुखपयसमित्यर्थः। मेघोऽभिधेयः। "स्यश्रिर्दिव्या कत्पयं शयानम् (ऋ० सं० ४, १, ३५, ६)" ॥

(८) विगृहः। विपूर्वान् ग्रहतेः क्विप्। विविधं ग्रहणानि

विस्रुहः आपः। "वया इव रुरुहुः सप्त विस्रुहः (ऋ० सं० ४, ५, १, ६)" ॥

(९) वीरुधः। विपूर्वात् रुहेः क्विपि वेर्दीर्घो हकारस्य धकारश्च। मूलविभुजादित्वात् के विरुहाः सत्यः वीरुधः। विविधं रोहन्तीति ओषधय उच्यन्ते। "वीरुधः पारयिष्णवः (ऋ० सं० ८, ५, ८, ३)" ॥

(१०) नक्षद्दाभम्। नक्षतेर्गतिकर्मणो व्याप्तिकर्मणो वा शतरि नक्षन्, दभ्नोतीति दभ्नोतेर्वधकर्मणः कर्मण्यणि नकारलोपश्छान्दसः, वृद्धिः। युद्धार्थमभिगच्छतां व्याप्नुवतां च शत्रूणां हन्तारमित्यर्थः। "नक्षद्दाभं ततुरिं पर्वतेष्ठाम् (ऋ० सं० ४, ६, १३, २)" ॥

(११) अस्कृधोयुः। दीर्घायुरित्यर्थः, चिरस्थायी पुत्रपौत्रान्वित इति यावत्। कृधिरिति ह्रस्वनामसु व्याख्यातम् (३०५ पृ०)। नञ्पूर्वम् धातोः सकार उपजनः, युशब्दस्य धोभावः। यद्वा, नञ्पूर्वात् करोतेर्निष्ठायामकृतशब्दस्याच्छभावः, दधातेर्ध्रियतेर्वा 'इणो णित्'—इति बाहुलकात् उसिप्रत्ययः, णित्वात् युगागमः, धकारस्य धोभावः। अकृतदानो यादृशो न कस्मैचिदपि दत्तपूर्वं इत्यर्थः। अकृतपानो वा अनुत्कपूर्वः केनचिदित्यर्थः। धनविशेष उच्यते। "यो अस्कृधोयुरजरः स्वर्वान् (ऋ० सं० ४, ६, १३, ३)" ॥

(१२) निश्रृम्भाः। निपूर्वात् 'श्रथि शैथिल्ये (भ्वा० आ०)'—इत्यस्मात् घञ्। निर्गतः श्रथः शैथिल्यं यस्याः सा निश्र

(२३) उपलप्रक्षिणी। उपलस्थोपपदात् क्षिणोतेः क्षिणोतेर्वा 'सुप्यजातौ (३, २, ७८)'—इति णिनिप्रत्यये व्यत्ययेन टिलोपः। उपलेषु प्रस्तरेषु वालुकासु यवान् क्षिणोति हिनस्ति मृद्नातीत्यर्थः, उपलेषु यवान् प्रक्षिपति चूर्णयतीत्यर्थः। सक्तुकारिकाभिधेया। "उपलप्रक्षिणी नना (ऋ० सं० ७, ५, २५, ३)" ॥

(२४) उपसि। उपस्थशब्दस्य। "आसीन ऊर्ध्वे मुपसि क्षिणाति (ऋ० सं० ९, ७, १७, ३)" ॥

(२५) प्रकलवित्। प्रकर्षेण कलाः मानोन्मानप्रतिमानादिविषयाः मरकताद्यगणितरत्नपरीक्षादिका वेद विजानाति। 'सत्सूद्विष (३, २, ६१)'—इत्यादिना क्विपि 'ङ्यापोः सञ्ज्ञाच्छन्दसोर्बहुलम् (६, ३, ६३)'—इति ह्रस्वः। प्रकलविद् वणिग् भवति। "दुर्मिमासः प्रकलविन्मिमानाः (ऋ० सं० ५, २, २६, ५)" ॥

(२६) अभ्यर्धयज्वा। 'ऋधु वृद्धौ (दि० प०)'। णिजन्तात् पचाद्यचि णिलोपे अभ्यर्ध, यजेर्दानार्थात् 'सुयजोर्ङ्वनिप् (३, २, १०३)' अल्पानपि रसान् अभ्यर्धयन् मरुद्भ्यो ददाति धनं वा स्तोतृभ्यो यो ददाति सः। पूषा विशेष्यते। "सिषक्ति पूषा अभ्यर्धयज्वा (ऋ० सं० ४, ८, ८, ५)" ॥

(२७) ईक्षे। 'ईश ऐश्वर्ये (अदा० आ०)'। 'थासः से (३, ४, ८०)'। व्यत्ययेन ईशासे न भवति। "ईक्षे हि वस्व उभयस्य राजन् (ऋ० सं० ४, ६, ८, ५)" ॥

(२८) क्षोणस्य। 'क्षि निवासगत्योः (तु० प०)'। 'कृत्यल्युटो बहुलम् (३, ३, ११३)'—इति कर्त्तरि ल्युट्। क्षयणस्येत्यत्र

कारस्योकारे 'आद्गुणः (६, १, ८७)'। निवसितुरित्यर्थः। 'महः क्षोणस्याश्विना कण्वाय (ऋ० सं० १, ८, १४, ३)'॥

(२१) अस्मे। अस्मदः। जसादीनां शे प्रगृह्यं, लुवेव शे। जसादिषु सुबन्तेषु क्रमेणोदाहरणानि,—"अस्मे ते बन्धुः (य० वा० सं० ४, २२)" "अस्मे यातं नासत्या सजोषाः (ऋ० सं० १, ८, १६, ६)" "अस्मे समानेभिर्वृषभ पौंस्येभिः (ऋ० सं० २, ३, २५, २)" "अस्मे प्रयन्धि मघवन्नृजीषिन् (ऋ० सं० ३, २, २०, ५)" "अस्मे आराच्चिद्द्वेषः सनुतर्युयोतु (ऋ० सं० ४, ७, ३२, ३)" "ऊर्ध्वं इव पप्रथे कामो अस्मे (ऋ० सं० ३, २, ४, ४)" "अस्मे धत्त वसवो वसूनि (य० वा० सं० ८, १८)"॥

(२०) पाथः। पथतेः पन्यतेर्वा गत्यर्थादसुनि धातूनां पाथ इत्ययमादेशः। पथ्यते गम्यते पक्ष्यादिभिरन्तरिक्षयायिभिर्वा पाथः। अन्तरिक्षम्। "श्येनो न दीयन्नन्वेति पाथः (ऋ० सं० ५, ५, ५, ५)"। उदकमपि पाथः। 'पिबतेर्थुक्च'—इत्यसुन्। पीयते ह्युदकम्। अन्ने पिबतिरभ्यवहारार्थः। "आवद आस पाथो नदीनाम् (ऋ० सं० ५,३, २५,५)"—इत्युदकस्य। "देवान पाथ उप प्रविद्वान् (ऋ० सं० ८, २, २२, ४)"—इत्यन्नस्य॥

(२) सर्वाणि। 'षु प्रसवैश्वर्ययोः' (धा० पा०)। 'इ धृषुस्तृशृम्य इमनिच् (उ० ४, [illegible] प्रस [illegible]

शब्दस्य [illegible] वस्य घ

(३२) सप्रथाः। प्रथनेरसुन्। सर्वतःशब्दस्य समासः। सर्वतः पृथुः। "त्वमग्ने सप्रथा असि (ऋ० सं० ४, १, ५, ४)"॥

(३३) विदथानि। विदेरथक् (उ० ३, ११५)। वेदनानि विज्ञानानीत्यर्थः। "विदथानि प्रचोदयन् (ऋ० सं० ३, १, २१, २)"॥

(३४) श्रायन्तः। 'श्रिञ् सेवायाम् (भ्वा० उ०)'। शतरि शपि गुणे प्राप्ते व्यत्ययेन वृद्धिः। समाश्रयन्तः। यद्वा, भूते लुट्। समाश्रिताः। "श्रायन्त इव सूर्य्यम् (ऋ० सं० ६, ७, ३, ३)"॥

(३५) आशीः। आङ्पूर्वात् श्रयतेः शृणातेर्वा 'क्विब्वचि-प्रच्छि (३, २, १७८ वा० १)'—इत्यत्र 'धातोः प्रत्ययनिर्देशादि-दृसिद्धिः (भा०)'—इत्युक्ते क्विपि प्रकृतेः शीरादेशः। यद्वा, एतयोरर्थे वर्त्तमानात् शृणातेः क्विपि शीरशब्दे निर्वाहः। आङ् ईपदर्थद्योतकः आश्रयणात् होमार्थस्य सोमस्य श्रपणं दध्युच्यते। "इन्द्राय गाव आशिरम् (ऋ० सं० ६, ५, ६, १)"। 'आङः शासु इच्छायाम्' इत्यस्मात् क्विपि। "सा मे सत्याशीर्देवान् गम्यात्" रेफान्तसकारान्तयोरपि साधारणं पाठः समाम्नाये॥

(३६) अजीगः। 'गिरतिर्निरुक्तधातुर्निगरणार्थो वा ग्रहणार्थो वा। लङि, सिपि, श्लौ च लोपे, 'रात्सस्य (८, २, २४)'—इति सलोपः, रेफस्य विसर्जनीयः। अवगिरति, गृह्णाति वा। भक्षयतीत्यर्थः। "आदिद्द्रप्सिष्ठ ओषधीरजीगः (ऋ० सं० २, १२, २)"॥

(३७) अमूरः। 'मुह वैचित्त्ये (दि० प०)'। निष्ठायाम् उत्वम्, 'हुत्वढलोपदीर्घाः, ढकारस्य रेफः, नञ्पूर्वः सम्मुढो

प्रमूर। अमूढेत्यर्थः। "मूरा अमूर न वयं चिकित्वः (ऋ० सं० ३, ५, ३२, ४)" ॥

(३८) शशमानः। व्याख्यातोऽर्चतिकर्मसु (३३८ पृ०)। स निगमः (ऋ० सं० २, २, २१, २) ॥

(३९) देवोदेवाच्या कृपा। देवशब्दोपपदात् अञ्चतेः 'ऋत्विग् (३, २, ५९)'—इत्यादिना क्विन्, 'अनिदिताम् (६, ४, २४)'—इति नलोपः 'अचः (६, ४, १३८)'—इत्यकारलोपः, (६, ३, १३८)'—इति दीर्घे 'अञ्चतेश्चोपसङ्ख्यानम् (४, १, ६, वा०)'—इति ङीपि 'विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्‍च तावप्रत्यये (६, ३, ९२)' न भवति, 'कृपू सामर्थ्ये (भू० आ०)' क्विपि। देवान् प्रति गतया स्तुत्येत्यर्थः। "देवोदेवाच्या कृपा (ऋ० सं० २, १, १२, १)" ॥

(४०) विजामातुः। धनादन्ये कुलीनत्वादयो विगता आमातगुणा यस्मात्, सोऽयमप्राप्तगुणो विजामाता कन्यापतिरुच्यते। ततः पञ्चमी। "विजामातुरुत वा घा स्यालात् (ऋ० सं० १, ७, २८, २)" ॥

(४१) ओमासः। अवतेः पालनार्थस्य तर्पणार्थस्य वा कर्तरि कर्मणि वा 'अविसिविसिशुषिभ्यः कित् (उ० १, १४१)'—इति मन्प्रत्यये 'ज्वरत्वर (६, ४, २०)'—इत्यादिना ऊठि ऊमास इति प्राप्ते व्यत्ययेन गुणः। जस्। 'आज्जसेरसुक् (७, १, ५०)'। रक्षितारस्तर्पयितारस्तर्पणीयाः। [illegible] (ऋ० सं० १, १, ६, १)" ॥

(४२) सोमानम्। सुनोतेर्मनिन्प्रत्ययः। अभि सोमानम् सोतारम्। अभिषोतारं सोमानाम्। "सोमानं स्वरणम् (ऋ० सं० १, १, ३४, १)"॥

(४३) अनवायम्। (४४) किमीदिने। अनवयवशब्दस्यानवायभावः। अनवयवं सकलमित्यर्थः। किमिदानीं कस्य किञ्चिदिति चरति, किमिदं चरतीति इति वा चरति। साधुजनवैरी सदा पिशुनबुद्धिः पिशुनोऽभिधेयः। किमिदंशब्दस्य वाक्यस्य वा किमीदिनभावः। "द्वेषो धत्तमनवायं किमीदिने (ऋ० सं० ५, ७, ५, २)"॥

(४५) अमवान्। अमा सहार्थाव्ययम्। तस्य मतुपि रूपम् ससहायः। यद्वा, 'अम रोगे (चु० प०)'। 'पुंसि संज्ञायां घः (३. ३. ११८)'। अमो रोगः कर्त्तव्यः शत्रूणां, रोगैस्तद्वान्, दस्यूनां रोगभूत इत्यर्थः। आत्मशब्दस्य वा अमभावः। यद्वा 'आत्मा अंशे यत्ने फलौ मनौ धातपि—इति निघण्टुः। "याति राजे वामवाँ इभे न (ऋ० सं० ३, ४, २३, १)"॥

(४६) अमीवा। 'अम रोगे (चु० प०)'। 'अमेरीपः'—इति ईपप्रत्ययः। टाप्। अमीवा रोगः हिंसिता वा। यद्वा, 'शेवयह्वजिह्वाग्रीवाप्वामीवाः (उ० १, १५२)'—इति वन्प्रत्ययान्तो निपात्यते। "यस्ते गर्भममीवा (ऋ० सं० ८, ८, २०, २)"॥

(४७) दुरितम्। दुर्गतिप्रापकं कारणभूतम्। 'पापकं कर्म दुरितमुच्यते'। "अग्निष्टामस्तो दुरितानि विश्वा (निरु० ६, १०)"। दुःशब्दोऽत्र दुर्गतौ वर्त्तते। 'इणस्त्रियगृभ्यः क्तः' इति धातुलक्षणात् करणे क्तः। दुर्गतिर्गम्यते येन तत् दुरितम्॥

(४८) अप्वे। अपपूर्वात् वेप्धातोरन्तर्णीतण्यर्थात् 'अन्येष्वपि दृश्यते (३, २, १०१)'—इति डप्रत्यये अपेत्यस्यान्त्यलोपश्छा-न्दसः। टाप्। अपवयति अपगमयति सुखं प्राणांश्चेत्यर्थः। 'दीयपहजिह्माशीषाप्वामीवा (उ० १, १५२)'—इति वनप्रत्यये वेञो लोपोऽपशब्दस्यान्त्यलोपश्च निपात्यते। व्याधिर्वा भयं वा अप्वा। 'गृहाणाङ्गान्यप्वे परे हि (ऋ० सं० ८, ५, २३, ६,)"॥

(४९) अमतिः। अमाशब्द आत्मवचनः। आत्ममयी तति र्मतिर्वा अमतिः। तन्यत इति ततिर्दीप्तिः। मतिरपि प्रकाश रूपत्वात् दीप्तिः। आत्मप्रकाशमयी ततिर्मतिर्वा अमति र्दीप्तिरभिधेया। अमाततिशब्दस्य आत्ममतिशब्दस्य वा अम तिभावः। सवितृविशेषणस्यादात्मप्रकाशमयी ततिर्मतिर्व

३ २उ ३ २ ३ १ २उ ३

अमतिरित्युपपद्यते। 'उदुष्या यस्या मतिर्भा अदिद्युतत् (सा० छ आ० ५, २,३, ८)"॥

(५०) श्रुष्टी। (५१) पुरन्धिः। अश्नोतेः 'इगुपिकर्षिचि मुषिशासुभ्यश्चिशाशम्यः क्तिन्'। 'कृदिकारादक्तिनः (४, १, ४ ग० वा०)'—इत्यत्र स्त्रियां विहितस्य ग्रहणात् विकल्पो ङीप् श्रु अष्टि व्याप्तिरत्र श्रुष्टी। पुरुशब्दो बहुनाम। धीरिति कर्मनाम प्रज्ञानाम वा। बहुकर्मा बहुप्रज्ञो वा पुरुधिः सन् पुरन्धिः पुराणि दारयतीति वा पुरन्धिः। चेञो डिन्—इति बाहुलका डिदिन्प्रत्ययः, दकारस्य धकारः, नकार उपजनः। भृगो वर इन्द्रश्च पुरन्धिः। "श्रुष्टी भगं नासत्या पुरन्धिम् (ऋ० सं० ५,

(४२) सोमानम्। सुनोतेर्मनिन्प्रत्ययः। अमि सोमन सोताम्। अभिषोतारं सोमानाम्। "सोमानं स्वरणम् (ऋ० १, १, १८, १)"॥

(४३) अनवायम्। (४४) किमीदिने। अनवयवशब्दस्यानव भावः। अनवयवं सकलमित्यर्थः। किमिदानीं कस्य किञ्चि चरति, किमिदं वर्त्तत इति वा चरति। साधुजनवैरी सदा विल बुद्धिः पिशुनोऽभिधेयः। किमिदंशब्दस्य वाक्यस्य वा किमीदिन भावः। "द्वेषो धत्तमनवायं किमीदिने (ऋ० सं० ५, ७, ५, २)"॥

(४५) अमवान्। अमा सहार्थाव्ययम्। तस्य मतुपि ह्रस्व ससहायः। यद्वा, 'अम रोगे (चु० प०)'। 'पुंसि संज्ञायां घः (३, ३, ११८)'। अमो रोगः कर्त्तव्यः शत्रूणां, रोगैस्तद्वान् दस्यूनां रोगभूत इत्यर्थः। आत्मशब्दस्य वा अमभावः। यद्वात्र 'आत्मा जीवे यत्ने कलौ मनौ वातपि—इति निघण्टुः। "यासि राजे वामर्थों इभे न (ऋ० सं० ३, ४, २३, १)"॥

(४६) अमीवा। 'अम रोगे (चु० प०)'। 'अमेरीवः'—इति ईवप्रत्ययः। टाप्। अमीवा रोगः हिंसिता वा। यद्वा 'शेवयह्वजिह्वाग्रीवाप्वामीवा (उ० १, १५२)'—इति वन्प्रत्ययान्तो निपात्यते। "यस्ते गर्भममीवा (ऋ० सं० ८, ८, २०, २)"॥

(४७) दुरितम्। दुर्मतिप्रापकं कारणभूतम्। 'पापकं कर्म दुरितमुच्यते,। "अतिक्रामन्तो दुरितानि विश्वा (निरु० ६, १२)"। दुःशब्दोऽत्र दुर्गतौ वर्त्तते। 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' इति बाहुलकात् करणे कः। दुर्गतिर्गम्यते येन तद् दुरितम्॥

(४८) अपूवे। अपपूर्वात् धेञ्धातोरन्तर्णीतण्यर्थात् 'अन्येष्वपि
दृश्यते (३, २, १०१)'—इति डप्रत्यये अपेत्यस्यान्त्यलोपश्छा-
न्दसः। टाप्। अपधयति अपगमयति सुखं प्राणांश्चेत्यर्थः।
'शेवयह्वजिह्वाग्रीवाप्वामीवा ( उ० १, १५२ )'—इति वन्प्रत्यये
धेञो लोपोऽपशब्दस्यान्तलोपश्च निपात्यते। व्याधिर्वा भयं वा
अप्वा। "गृहाणाङ्गान्यप्वे परे हि (ऋ० सं० ८, ५, २३, ६,)" ॥

(४९) अमतिः। अमाशब्द आत्मवचनः। आत्ममयी ततिः
र्मतिर्वा अमतिः। तन्यत इति ततिर्दीप्तिः। मतिरपि प्रकाश
रूपत्वात् दीप्तिः। आत्मप्रकाशमयी ततिर्मतिर्वा अमति
दीप्तिरभिधेया। अमाततिशब्दस्य आत्ममतिशब्दस्य वा अम
तिभावः। सवितृविशेषणत्वादात्मप्रकाशमयी ततिर्मतिव

३ २उ ३ २ ३ १ २उ ३

अमतिरित्युपपद्यते। 'ऊर्ध्वा यस्या मतिर्भा अदिद्युतत् (सा० छ
आ० ५, २,३, ८ )" ॥

(५०) श्रुष्टी। (५१) पुरन्धिः। अश्नोतेः 'हृपिषिरुहिवृति
मुनिशासुश्ववशिश्याभ्यः क्तिन्'। 'कृदिकारादक्तिनः ( ४, १, ४
ग० घा० )'—इत्यत्र स्त्रियां विहितस्य ग्रहणाम् विकल्पो ङीप्
श्रु अष्टि व्याप्तिरत्र श्रुष्टी। पुरुशब्दो बहुनाम। धीरिति कर्मना
प्रज्ञानाम वा। बहुकर्मा बहुप्रज्ञो वा पुरुधिः सन् पुरन्धिः
पुराणि दारयतीति वा पुरन्धिः। 'वेञो डिन्'—इति बाहुलका
डिदिन्प्रत्ययः, दकारस्य धकारः, नकार उपजनः। भगो व
इन्द्रश्च पुरन्धिः। "श्रुष्टी मघं नामत्या पुरन्धिम् ( ऋ० सं० ५,

६, ४ )" । श्रुष्टीशब्दः सुखस्याभिधायको धान्यशलाकायाश्च। "श्रुष्टीवरीर्भूत नास्मभ्यमापः ( ऋ० सं० ७, ७, २६, १ )"—इति सुखस्याभिधायकः । "श्रुष्टी सहरा असहाः"—इति धान्यशलाकायाः ॥

(५२) रुशत् । 'रुच दीप्तौ (भू० आ०)' । 'संश्चत्पद्वेहत् (उ० २, ७३)'—इति अतिप्रत्ययो गुणाभावश्च चकारस्य शकारश्च निपात्यते । रोचते रुशत् वर्णविशेषो ज्वलनाविर्भूतप्रकाशरूपोऽभिधीयते । यद्वा, रुशोर्हिंसार्थात्तुदादेः रोचत्यर्थे वर्तमानाल्लट् शतरि । "समिद्धस्य रुशददर्शि पाजः (ऋ० सं०३, ८, १२, २)" ॥

(५३) रिशादसः । 'रिश हिंसायाम्' तुदादिः । अन्तर्णीतण्यर्थः । लटः शतरि छान्दसो दीर्घः । अस्यतेर्विच् । रिशतां शत्रूणां वा असितारः क्षेप्तारः नाशयितार इत्यर्थः । "असति हि वः सजात्यं रिशादसः ( ऋ० सं० ६, २, ३२, ५ )" ॥

(५४) सुदत्रः । सुपूर्वात् ददातेः ष्ट्रन्, ष्ट्रनि धातुलकारह्रस्वत्वम् । सुदानः । "त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायः ( ऋ० सं० ५, ३, २७, २ )" ॥

(५५) सुविदत्रः । सुपूर्वात् 'विद ज्ञाने ( अदा० प० )'—इत्यस्मात् 'अमिषजिपधिपतिकलिनिशिभ्योऽत्रन्'—इति धातुलकादत्रन्प्रत्ययो गुणाभावश्च । सुविद्यत इत्यर्थः । "आग्नेयाभिः सुविदत्रे भिरर्वाङ् ( ऋ० सं० ७, ६, १८, ३ )" ॥

(५६) आनुषक् । अनुपूर्वात् 'षञ्ज सङ्गे ( भू० प० )'—इत्यस्मात् क्विपि 'अनिदिताम् ( ६, ४, २४ )'—इति नलोपः,

वनोरकारस्य दीर्घश्छान्दसः । अनुषक्तमुपर्युपरि लग्नमित्यर्थः । "स्तृणन्ति बर्हिरानुषक् ( ऋ० सं० ६, ३, ४२, २ )" ॥

(५७) तुर्वणिः । तूर्णशब्दोपपदात् वनोतेः 'इन् सर्वधातुभ्यः ( उ० ४, ११५ )'—इतीन् । तूर्णं वनोति सम्भजते । तूर्णवनिः । "स तुर्वणिर्महाँ अरेणु पौंस्ये ( ऋ० सं० १, ४, २१, ३ )" ॥

(५८) गिर्वणाः । गीःशब्दोपपदात् वनोतेर्ण्यन्तात्स्तुति वनेर्घटादित्वेन मित्संज्ञकत्वात् ह्रस्वत्वम् । गिर्वण इति प्राप्ते दीर्घाभावश्छान्दसः । निघण्टुकारपठितगीर्वाणशब्देन समानार्थः । अतो देवोऽभिधेयः । स्तोतुरभिमतप्रदानादात्मानं स्तोतृभिः सम्भाजयति । भाष्ये तु ( निरु० ६, १४ ) 'गीर्भिरेनं वनयन्ति'—इत्यर्थनिर्वचनमिति स्कन्दस्वामी । श्रीनिवासस्तु ण्यर्थे णिच् । गीर्भिरेनं वनयन्ति । "जुष्टं गिर्वणसे बृहत् ( ऋ० सं० ६, ६, १२, ७ )" ॥

(५९) असूर्ते सूर्ते । असुशब्दपूर्वस्य सुशब्दपूर्वस्य च 'ईर गतौ ( अदा० आ० )'—इत्यस्य निष्ठायां छान्दसत्वादिडभावे ईकारस्य पूर्वसवर्णे पूर्वत्र दीर्घश्छान्दसत्वात् । सप्तम्येकवचनम् । असुः प्राणः । प्राणश्च वातः । वातसमीरिता मरुदादयो हि रिश्याः । सूर्ते इति रजस्यस्य विशेषणम् । सुसमीरिते सुष्ठु प्रेरिते विसर्जिते रजसि अन्तरिक्षलोकेऽपीत्यर्थः । "असूर्ते सूर्ते रजसि निषत्ते ( ऋ० सं० ३, १, ७, ४ )" ॥

(६०) अम्यक् । मायाशब्दे द्वितीयैकवचन उपपदे अञ्चतेः क्विन् मकारलोपे मायाशब्दस्य ह्रस्वो द्रष्टव्योऽकारोपजनेन च । मायम्

मातुधाम्ना शक्तिरभिधेया विना सती मां प्रति इव गन्ता यद्वा, अभिपूर्वादञ्चतेः क्विनि अभ्यक् सती मकारस्य मकारापत्त्य अभ्यक्। शत्रून् प्रत्यभिगता। यद्वा, अभाशब्दः सहार्थे निपातः। अभाक् सती अभ्यक् सहमुना। "अभ्यक् सा त इन्द्र ऋष्टिरस्मे (ऋ० सं० २, ४, ८, ३)"॥

(६१) यादृश्मिन्। यादृशे इत्यर्थः "यादृश्मिन् धायि तमपस्यया विदत् (ऋ० सं० ४, २, २४, ३)"॥

(६२) जारयायि। उषोविशेषणम्। तेन व्यत्ययेन नपुंसकत्वापगमः। ततश्चेदं नाख्यातम्। जार इत्यस्य वा धातोरेवम्भूतस्याख्यातस्यासम्भवात्। निघातप्रसङ्गश्च। अन्ये तु जनेरपत्याभिगतमाख्यातमेतदिति गम्यते। ततश्च जारयायि अजायतेत्यवगमः इत्युक्त्वा मन्त्रव्याख्याने निघातप्रसङ्गस्य भिन्नवाक्यत्वेन वाक्यादित्वादुदात्तप्रतिपादनेन परिहृतत्वात् अजायतेत्येव स्कन्दस्वामिनोऽप्यवगमः। उषोविशेषणवादिना जारश्चासौ यायीति जारयायि। गवां यौवनस्य जरयितृत्वाज्जारत्वम् गवामभिगमनात् यायित्वम्। "उषः पितेव जारयायि यज्ञैः (ऋ० सं० ४, ५, १४, ४)"॥

(६३) अग्रिया। अग्रशब्दोपपदात् यातेः गेहे कः (३, १, १४४)'—इति बाहुलकात् कः। आकारस्येकारः। तृतीयैकवचनस्याकारः। यद्वा, अग्रमर्हतीति 'छन्दसि च (५, १, ६७)'—इति यप्रत्यये इकार उपजनः। अर्हार्थो वा घनि घस्य इयादेशो विभक्तेराकारः। अग्राहा। यद्वा, अग्रा एवाग्रिया।

अग्रभूताग्र्या । "विश्वे अग्नियोत याजाः ( ऋ० सं० ३,
७, ३, ३ )"॥

(६४) चनः । (६५) पचता । पचतेर्ल्युट् 'कृत्यल्युटो बहु-
लम् (३, ३, ११३)'—इति कर्मणि ल्युटि पच्यत इति पचनम् ।
पचनशब्दस्य पकारलोपेनान्ते सकारोपजनेन चनः । अन्नम् ।
यद्वा, चायेरसुनि बाहुलकात् नोऽन्त्यादेशः । पचतेः 'मृद्गृशिय-
जिपचिवच्यमि' 'भूतेऽपि दृश्यन्ते (३, ३, २)'—इति पचनात्
भूते द्रष्टव्यः । विभक्तेराकारः । पक्तः पक्तौ पक्ता इति यावगमः ।
पदान्तस्य बहुलसमर्थ्याद् विशेषनिश्चयः । "वनो दधिष्व
पचतोत सोमम् ( ऋ० सं० ८, ६, २१, ३ )"—इति बहुवचनस्य ।
"तमीन्द्रस्तः प्रति पचताग्रभीणाम् ( निरु० ६, १६ )"—इति
द्विवचनस्य । "पुरोला अग्ने पचतः ( ऋ० सं० ३, १, ३१, २ )"
—इत्येकवचनस्य ॥

(६६) शुरुधः । शुचं दीप्तिं तापं वा रुधन्त्यः । 'अन्येभ्योऽपि
दृश्यन्ते (३, २, ७५)'—इति क्विप् । शुग्रुधः शुरुधः । "ऋतस्य
हि शुरुधः सन्ति पूर्वीः ( ऋ० सं० ३, ६, १०, ३ )" ॥

(६७) अमिनः । 'माङ् माने ( अदा० प० )' । निष्ठा क्तः ।
'द्यतिस्यतिमास्थाम् (७, ४, ४०)"—इति इत्त्वम् । मितः
परिच्छिन्नः । न मितः अमितः सन्नमिनः अपरिमाण इत्यर्थः,
अपरिगणितकालो वा । यद्वा, मिनोतेर्वधकर्मणः 'इणसिञ्-
जिदीङुष्यविभ्यो नक् ( उ० ३, २)'—इति बाहुलकान्नक् ।
नञ्समासः । अमिनः अहिंसितः केनचित् । यद्वा, के एव

प्रत्ययः। अमिनोऽमितो वा मन् अमिनः। "उत द्विब
अमिनः सहोभिः (ऋ० सं० ४, ६, ७, १)" ॥

(६८) जज्झती। जज्झतीरापो भवन्ति शब्दकारिण्य इति
जत्। पूर्वसवर्णः। "मरुतो जज्झतीरिव (ऋ० सं० ४, ३, १, ६)"

(६९) अप्रतिष्कुतः। 'ष्कुञ् आप्रवणे (स्वा० उ०)'
आप्रवणमागमनम्। स्कयतेर्गत्यर्थात्सुया निष्ठा। अर्थान्तरे
व्यत्ययेन षत्वम्। अन्येनाप्रतिगतः अप्रतिष्कुतः। युद्धे अन्ये
नाप्रतिहतपूर्वं इत्यर्थः अप्रतिस्खलितपूर्वो वा। अत्र पक्षे
स्खलितशब्दस्य ष्कुतभावः। "असमष्वमप्रतिष्कुतः (ऋ० सं०
१, १, १४, १)" ॥

(७०) शाशदानः। 'शद्लृ शातने (भू० प०)'। अस्माद्
यङ्लुगन्ताद् व्यत्ययेन शानच्। पुनः पुनरसुरांस्तनूपुराणि वा
शातयन्तः "प्रस्त्यां मतिमतिरच्छाशदानः (ऋ० सं० १, ३, ३, ३)" ॥

(७१) सृप्रः। शिप्रे इत्यत्र (३६२ पृ०) सृप्रशब्दो व्याख्यातः।
"सृप्रकरस्नमूतये (ऋ० सं० ६, ३, २, ५)"। सृप्रौ करस्नौ य
यस्य होमेन तर्पणाय पालनाय चात्मनः सर्पिस्तैलमपि सृप्र
सर्पणात्। निगमः पर्येष्यः ॥

(७२) सुशिप्रः। शिप्रे व्याख्याते (३६२ पृ०)। शोभनत्व
विशिष्टत्वमत्र विशेषः। सुहनुः सुनासो वा सुशिप्रः। "वाजे
सुशिप्र गोमति (ऋ० सं० ६, २, २, ३)"। कचिच्छिप्रशब्दे
शिरस्त्राणमुच्यते। शिप्राः शीर्षसु वितता हिरण्ययीरिति सुशिप्रः
सुशिरस्त्राण इत्यर्थः सम्भवति ॥

(७३) रंसु। रमतेर्विच्। सप्तमीबहुवचनम्। रमणीयेष्वित्यर्थः। रमणीयशब्दस्य रम्भावः। "स चित्रेण चिकिते रंसु भासा (ऋ० सं० २, ४ २४, ५)" ॥

(७४) दिवयर्हाः। दिवशब्दे सप्तम्यन्ते उपपदे 'वृहु वृद्धौ (भू० प०)'—इत्यस्मादसुन्। द्वयोः स्थानयोर्वीर्येण परिवृद्धः इन्द्रः। न ह्यन्तरिक्षे वीर्येणापरिवृद्ध शक्नोति वर्षितुं नापि दिवि आदित्याद्रसान् परिगृहीतुं दिवः सर्वदेवतासाधारणत्वात् देवराजत्वेन च प्रसिद्धिरितिहासेषु दिवयर्हा उच्यते। "उत दिवयर्हा अमिनः सहोभिः (ऋ० सं० ४, ६, ७, १)" ॥

(७५) अक्रः। आङ्पूर्वात् क्रमेः 'अन्येष्वपि दृश्यते (३, २, १०१)'—इति डः, आङो ह्रस्वत्वम्। आक्रामति सर्वमित्यक्रमाकाशमाक्रम्यते वा। "अक्रो न बभ्रिः समिथे महीनाम् (ऋ० सं० २, ८, १५, २)" ॥

(७६) उराणः। उरु कुर्वाण इति प्राप्ते कवर्णादिलोपादिना वाक्यार्थः। उराण इति पदवचनम्। "दूत ईयसे प्रदिव उराणः (ऋ० सं० ३, ५, ७, ३)"। स्वल्पमपि हविः उरु बहु कुर्वाण'। तथाच श्रुतिः। "यद्वै देवो ओषत हविस्तत हिमोनं वर्द्धते भयोऽयमपरिमितः"—इति ॥

(७७) स्तियानाम्। स्त्यायतेः सङ्घातार्थात् 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (३, २, ७५)'—इति क्विप्। दृशिग्रहणस्य प्रयोगानुसरणार्थत्वान्निरुपपदादपि भवति। इकार उपजनः। षष्ठीबहुवचनम्। हिमभावेन संहता आप उच्यन्ते। "वृषा सिन्धू

नां वृषभः स्तियानाम् (ऋ० सं० ४, ७, २०, १)" ॥

(७८) स्तिपाः। स्तियाः पातीति विच्। स्तियापाः स्तिपाः। यद्वा, उपस्थितपाः सन् अनेकवर्णलोपादिना स्तिपा अग्निरुच्यते। स ह्याहुतिद्वारेण पालयिता, अङ्गभावोपगमने चोपस्थितानां कर्त्तव्यतया ज्योतिष्टोमादीनाम्। "स नः स्तिपा उत भवा तनूपाः (ऋ० सं० ८, २, ११, ७)" ॥

(७९) जबारु। जवमद्भिर्जरमद्भिर्गरवद्भिर्वा रश्मिभिर्यद्वारोहति तदादित्यमण्डलमुच्यते। जवमज्जरमद्गरमच्छब्दानां जवभावः, आङ्पूर्वाद्रुहेश्च डुमत्ययौ निपात्यते। "अग्ने रूप आरुपितं जबारु (ऋ० सं० ३, ५, २, २)" ॥

(८०) जरूथम्। गृणातेः स्तुतिकर्मणो जरतेर्वार्चतिकर्मणः 'जॄ वृञ्भ्यो रूथन्'—इति भावे करणे वा रूथन्। बाहुलकाद् गकारस्य जकारः। स्तवनं स्तूयतेऽनेनेति वा जरूथं स्तोत्रम्। "जरूथं हन्यक्षि राये पुरन्धिम् (ऋ० सं० ५, २, १२, ६)" ॥

(८१) कुलिशः। वज्रनामसु व्याख्यातम् (२२७ पृ०)। स निगमः (ऋ० सं० १, २, ३६, ५) ॥

(८२) तुञ्जः। तुञ्जतेर्दानकर्मणो भावे घञ्। दानमित्यर्थः "तुञ्जे तुञ्जे य उत्तरे (ऋ० सं० १, १, १४, २)"। पश्चोऽपि तुञ्ज स्तत्रैव व्याख्यातः ॥

(८३) बर्हणा। वृहेर्वृद्ध्यर्थस्य 'कृत्यल्युटो बहुलम् (३. ११३)'—इति भूते कर्त्तरि ल्युट्। परिवृद्धः। हिंसाकर्मणो

वा भावे। हिंसा वर्हणा। तृतीयैकवचनस्थाने डादेशः। "वृहदुक्था असुरो वर्हणा कृतः ( ऋ० सं० १, ४, १७, ३ )" ॥

(८४) ततनुष्टिम्। 'तनिमृङ्भ्यां किच्च ( उ० ३, ८९ )'— इति तनोतेः तन्प्रत्ययः, नुदेर्निष्ठायां नुन्नं नुष्टिभावः। यद्वा, तत्नशब्दस्य ततन्भावः, वशेर्वा बाहुलकात् कर्तरि क्तिन्वि सम्प्रसारणे उष्टिः। तद्धर्मसन्तानादग्निहोत्रादेः कर्मणो नुन्नः प्रेरितः ततनं भोगसन्तानं वष्टि ततनुष्टिः, नलोपाभावः। ततनुष्टिम्। "अपाप शक्रस्ततनुष्टिमूहति ( ऋ० सं० ५, २, ३, ३ )" ॥

(८५) इलीबिशः। इलाशब्द उदकशब्दपर्यायः। इला अन्नम्, अन्नाप्तिहेतुभूते उदके वर्तते। बिले दरे शेते इति 'अधिकरणे शेतेः ( ३, २, १५ )'—इत्यच्। इलाबिले शयो यस्य। निपातनाद्ध्रस्वः। मेघ उच्यते। इलाबिलशयः सन् इलीबिशः। "न्याविध्यदिलीबिशस्य दृळ्हा ( ऋ० सं० १, ३, ३, २ )" ॥

(८६) कियेधाः। कियच्छब्दे क्रममाणशब्दे चोपपदे दधातेर्विच्। कियदर्थं विज्ञायमानपरिमाणं स्वबलं धारयति, क्रममाणं वाभिमुखं परबलं धारयति निरुणद्धीति। कियद्वा क्रममाणधा वा सन् कियेधाः। इन्द्रविशेषः। "वृत्राय वज्रमीशानः कियेधाः ( ऋ० सं० १, ४, २१, २ )" ॥

(८७) भृमिः। 'भ्रमेः सम्प्रसारणञ्च ( उ० ४, ११७ )'— इसीन्प्रत्ययः। अग्निरुच्यते। भ्रमिता। स्वयं त्रिष्वपि लोकेष्वप्रतिहतगतिरित्यर्थः। अन्तर्णीतण्यर्थो वा भ्रमिः। भ्रामयिता। "भृमिरस्यृषिकृन्मर्त्यानाम् ( ऋ० सं० १, २, ३५, १ )" ॥

(५८) विस्रिनः। विस्रायास्य विस्रिनभावः। य
विस्रेत्र्यन्यर्थात् मः, इकारपकारायुपजनौ। विस्नीर्ण इत्यर्थ
"पार्श्वं मो अस्य विस्रिनस्य पर्वन् ( ऋ० सं० ५, ५, २, १ )" ॥

(५९) तुर्गाणम्। तूर्णं त्यागं शील्यस्य जिनिः। तुर्णा
सन् तुर्गाणम्। उदकमभिप्रेयम्। "तत्र स्तुर्गाणमद्गुनम् ( ऋ०
सं० २, २, ११, ४ )" ॥

(६०) शम्पिनः। रपतेर्वा रमतेर्वा कर्मणि भावे वा घञ्।
रापो रासो वा शब्दा यस्य तद्वापि रासि वा सन् सकारपकारो-
पजनेन शाम्पिशब्दो यहदकं स्तोत्रं योच्यते। तदस्यास्तीत्यर्थे
आदित्यादय् प्रकृतिभावश्च द्रष्टव्यः। दण्डिमतां शालेति यथा।
अतश्च शब्दवदुदकं तद्वान्मेघोऽभिधेयः। उच्चार्यमाणेन स्तोत्रेण
स्तोता वा। "प्रमातरा शम्पिनस्यायोः (ऋ० सं० २, १, १, ४)" ॥

(६१) मत्रतिः। धातुनिर्देशात् 'मर्जी मर्जने' मूयादिस्त
प्रसाधनकर्मविषयस्य समीकरणं प्रसाधनमात्मसात् करणं तद-
स्येत्यर्थः। "यजिष्ठम्त्रसे गिरा ( ऋ० सं० ३, ५, ८, १ )" ॥

(६२) सूनृतनीती। "ऋजुनीती नो वरुणः ( ऋ० सं० १, ६,
१७, १ )" ॥

(६३) प्रतद्वसू। प्राप्तवसुनौ। पकारलोपह्रस्वत्वतकारो-
पजनैः प्रतद्वसू। हरी विशेष्यौ। "हरी इन्द्र प्रतद्वसू अभिस्वर
( ऋ० सं० ६, १, १२, २ )" ॥

(६४) हिनोत। 'हि गतौ ( स्वा० प० )'। लोटि थस्य
: 'छन्दस्युभयथा ( ३, ४, ११७ )'—इत्यार्द्धधातुकत्वात् ङित्वा-

…ये गुणः प्रहिणुत्यर्थः। "हिनोता नो अध्वरं देवयज्या ( ऋ० सं० ७, ७, २६, १ )" ॥

(९५) चोष्कूयमाणः। (९६) चोष्कूयते। 'ष्कुञ् आप्रवणे ( स्वा० उ० )' इह दानार्थः, क्वचिद् व्युदसनार्थश्च। यङि पूर्वत्र लट् शानच्, उत्तरत्र व्यत्ययेन षत्वम्। "चोष्कूयमाण इन्द्र भूरि वामम् (ऋ० सं० १, ३, १, २)। अत्यर्थं ददिदित्यर्थः। "चोष्कूयते विश इन्द्रो मनुष्यान् ( ऋ० सं० ४, ७, ३३, १ )"। अत्यर्थं व्युदस्यति ॥

(९७) सुमत्। स्वयमित्यर्थे वर्त्तमानो निपातः। "उपप्रागात् सुमन्मे धायि मन्म ( ऋ० सं० २, ३, ८, २ )" ॥

(९८) दिविष्टिषु। दिविशब्दोपपदात् इषेर्गत्यर्थाद्विच्छार्थाद्वा करणे क्तिन्। दीप्यते प्रार्थ्यते वा याभिस्ताः। "कुत्सकुत्स्य दिविष्टिषु ( ऋ० सं० ५, ७, २२, ४ )" ॥

(९९) दूतः। जवतेर्द्रवतेर्वारयतेर्वा 'दुतनिभ्याम् ( उ० ३, ८२, ८५ )'—इति बाहुलकात् क्तप्रत्ययो धातूनां दूभावश्च। गच्छति हि सः, द्रवते वा शीघ्रयान, वारयति हि स्वसामर्थ्यादिभिः परम्। "सोमो दूतोऽद्ध्वरा ( ऋ० सं० ६, २, २१, १)" ॥

(१००) जिन्वति। जिविः प्रीणनार्थो भ्वादिः इदित्वान्नुम्। "भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति ( ऋ० सं० २, २, २३, ५ )" ॥

(१०१) अमत्रः। अमात्रशब्दस्य ह्रस्वः। मात्रा परिमाणमपरिमाणोऽस्यामितो वा महिमा सर्वत्र। मित्रशब्दस्य मत्रभावः। महाँ अमत्रो वृजने विरप्शी ( ऋ० सं० ३, २, ११, ४)" ॥

(१०२) ऋचीषमः। 'ऋच स्तुतौ (तु० प०)'। इत्यस्य 'कृदिकारात् (४, १, ४५ ग० धा०)'—इति ङीष्। ऋची स्तुतिः। तया समः। अधिकगुणाध्यारोपेणापि कृता स्तुतिर्नातिरिच्यत इत्यर्थः। "स्तवे वज्र्यृचीषमः (ऋ० सं० ७, ७, ६, २)"॥

(१०३) अनर्शरातिम्। अर्शशब्दोऽश्लीलवाची। रातेः क्तिनि रातिर्दानम्। अश्लीलविषया रातिर्दानं यस्य सोऽर्शरातिः पापकदानस्तद्विपरीतोऽनर्शरातिः। उत्कृष्टस्य दातेत्यर्थः। "अनर्शरातिं वसुदामुपस्तुहि (ऋ० सं० ६, ७, ३, ४)"॥

(१०४) अनर्वा। अर्तेः 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (३, २, ७५)'—इति वनिप्। नञ्समासः। 'अर्वणस्त्रसावनञः (६, ४, १२७)'—इति शतृवद्भावाभावः। अप्रत्यृतः अप्रतिगतोऽस्मिन्नन्यमनाश्रितः स्वतन्त्र इत्यर्थः। "अनर्वाणं वृषभं मन्द्रजिह्वम् (ऋ० सं० २, ५, १२, १)"। अनर्वाणमप्रतिगतमन्यं प्रत्याश्रितं तथा अपराश्रितमित्यर्थः॥

(१०५) असामि। असामीत्यनवगतम्। अत्र तु सामिशब्द एवानवगतः। यत आह—'सामि प्रतिषिद्धम् असामि (निरु० ६, २३)'—इति। सामि कस्मात्। स्यतेः समाप्त्यर्थस्येति केचित्। तेन सामि समाप्तं चोच्यते। तस्य नञ्प्रतिषेधः। ततश्च असामि असमाप्तमित्यर्थः। अथवा न सामीति। किन्तर्हि। असुसमाप्तमिति। पाठान्तरेणार्थमाह उदाहरणम् (निरु० ६, २३)—"असाम्योजो बिभृथा सुदानवः (ऋ० सं० १,

३, १६, ५)"। असामि असमाप्तमनन्तमित्यर्थः। सुष्ठु वा असमाप्तं पूर्ववदित्यर्थः। 'स्यतेः कित्'—इति धातुरूकात् मिन्प्रत्ययः। साम्यर्धमसामिसमग्रमित्यस्य भाष्ये (निरु० ६, २३) द्रष्टव्यम् ॥

(१०६) गल्दया। गल्दाशब्दो गालनपर्यायः। गल्दया गालनेन क्षारणेन प्रदानेन पूरणेन तृप्तमेत्यर्थः। "मा त्वा सोमस्य गल्दया (ऋ० सं० ५, ७, १२, ५)" ॥

(१०७) जल्हवः। ज्वलतेः क्विपि ज्वलनं ज्वल्, ज्वल्नं जहातीति 'मृगय्वादयश्च (उ० १, ३६)'—इति कुप्रत्ययः पूर्वपदस्य जल्भावश्च निपात्यते। ज्वलनेनाग्निना हीना इत्यर्थः। "नारायासो न जल्हवः (ऋ० सं० ६, ४, ३७, ६)" ॥

(१०८) बकुरः। भास्करशब्दस्य भासमानद्रविणशब्दस्य वा बकुरभावः। "अभि दस्युं बकुरेणाधमन्त (ऋ० सं० १, ८, १७, १)"। बकुरेण भास्करेण दीप्तेन भयङ्करेण वा भासमानगमनेन वा सामर्थ्यात् स्वेनायुधेन ज्योतिषा वा ॥

(१०९) बेकनाटान्। बेक इति द्विशब्दस्यार्थे वर्तुशो दृष्टः। एकं कार्षापणमापणिकाय प्रयच्छन् द्वौ मह्यं प्रदातव्यावित्येवमभिनायनं दर्शयन्ति। ततो द्विशब्दाद्बेकशब्दात्प्रत्ययतेश्च बेकनाटाः। एतद्देनैनाटाः द्विगुणकारिणो वा द्विगुणदायिनो वा द्विगुणं कामयन्ते इति चेति। द्व्येकयोर्नाटा नटनं तद्वन्तो बेकनाटाः। मत्वर्थीयस्य लुक्। नटेर्घञि नाटः। द्व्येकशब्दस्य बेकभावः। वार्द्धुषिका अभिधेयाः। "इन्द्रो विश्वान् बेकनाटाँ अहर्दृशः (ऋ० सं० ६, ४, ४६, ५)" ॥

(११०) अभिधेतन। धापेर्लोण्मध्यमबहुवचनम् 'तप्तनप्तनथनाश्च (७, १, ४५)'—इति तनबादेशः। धापरस्मै धेमापः। अभिधावत। "आपान्तो अभिधेतन (ऋ० सं० ६, ४, ५१, ५)"॥

(१११) अंहुरः। आङ्पूर्वाद्धन्तेः मृगय्वादिभ्यश्च (उ० १, ३६) कुप्रत्ययः। आङो ह्रस्वत्वं रुगागमश्च निपात्यते। आ हन्ति श्रेयसो वियन्त्यनेनाभि अंहः पापं, रो मत्वर्थीयः अंहुरः। अंहस्वान्। "तासामेकामिदभ्यंहुरागात् (ऋ० सं० ७, ५, ३३, ६)"॥

(११२) वनः। सत्ययार्चा प्रथमान्तः। वन्वादयन्ति इति वाक्यस्यार्थे पदम्। वन्वशब्दाद्वतेर्निष्ठायां च वन्नोऽतः सन् वनः दुर्बल इत्यर्थः। वन निपातोऽसत्यवचनोऽप्ययम्, वेरो दुःखमानसः, अनुकम्पा दया, तयोर्वर्तते। "वनो वातासि वन नेय ते मनः (ऋ० सं० ७, ६, ८, ३)"॥

(११३) वाताप्यम्। आङ्पूर्वादाप्यायतेरन्तर्णीतण्यर्थात् 'अन्येष्वपि दृश्यते (३, २, १०१)'—इत्यपिशब्दस्य सर्वोपाधिव्यभिचारार्थत्वात् कर्मणि डः। उदकं वृष्टिलक्षणमभिधेयम्। वातः पुरोवात एव। तत्र वृष्ट्युदकमाप्याययति वातेनाप्याय्यत इत्यर्थः। अथवा वातो यदाप्याययति कर्मोपपदात् कर्तरि प्रत्ययः। वातमाप्याययति वाताप्यम्। "पुनानो वाताप्यं विश्वश्चन्द्रम् (ऋ० सं० ७, ४, ३, ५)"॥

(११४) चाकन्। चायतेः स्वरितेरबाहुलकः शतरि यकारस्य ककारो बाहुलकात्। अनेकार्थत्वादिच्छायामपि। चायन्

कामयमानो मा। "घने न घायो न्यधायि चाकन् (ऋ० सं० ०, ७, २२, १)" ॥ शाकल्यपदे चाकन्नित्याख्यातम्। तत्र अटि मिपंस्य कत्वं 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि (६, ४, ७५)'। कामयते इत्यर्थः ॥

(११५) रथर्यति। रथमात्मन इच्छतीति क्यचि रथीयतीति प्राप्ते रेफ उपजनो व्यवधानादीत्वाभावः। "प्र प देवी रथर्यति (ऋ० सं० ६, ७, २०, ५)" ॥

(११६) असक्राम्। सम्पर्यात् समानपूर्वाद्वा क्रमेः 'जनसनकमगमो विट् (३, २, ६७)'। छन्दस्युपसर्गेऽपि इति हि तत्रानुवर्तते। 'विड्वनोरनुनासिकः स्यात् (६, ४, ४१)'। आतो लोपश्छान्दसः। समानस्य छन्दस्यमूर्द्धः (६, ३, ४)'—इति समानशब्दस्य सभावः। न सक्रा असक्रा तां यावज्जीवमनपायिनीमसत्सज्जातेरप्राप्तपूर्वामित्यर्थः। "धेनुं न इषं पिन्वतमसक्राम् (ऋ० सं० ५, १, ४, ३)" ॥

(११७) आधवः। 'धूञ् कम्पने (स्वा० प०)'। पचाद्यच्। अन्तर्णीतण्यर्थोऽत्र धूञ्। आधावकः। कम्पयितेत्यर्थः। "विप्राणामाधवम् (ऋ० सं० ७,७, १२, ४)" ॥

(११८) अनवब्रवः। ब्रूञः। 'ऋदोरप् (३, ३, ५७)'। 'छन्दस्युभयथा (३, ४, ११७)'—इत्यपः सार्वधातुकत्वाद् वच्यादेशो न भवति। ब्रवः वचनम्। अनवक्षिप्तवचनः। 'प्रादिभ्यो धातुजस्य (१, ४, ७१, वा०)'—इति समासादिः। अप्रतिहतशासन इत्यर्थः। "विजेषकृदिन्द्र इवानवब्रवः (ऋ० सं० ८, ३, १६, ५)" ॥

(११९) सदान्वे। सदानोनुवशब्दात् सम्बुद्धौ नोनुवशब्दस्य न्वभावः। दुर्भिक्षाधिदेवता अलक्ष्मी चाभिधेया। सदाकरणतलक्षणशब्दकारिणीत्यर्थः। "गिरिङ्गच्छ सदान्वे (ऋ० सं० ८, ८, १३, १)" ॥

(१२०) शिरिम्बिठः। "शिरिम्बिठस्य सत्वभिः (ऋ० सं० ८, ८, १३, १)" ॥

(१२१) पराशरः। परापूर्वस्य शृणातेः विशरणार्थस्य हिंसार्थस्य वा 'ऋदोरप् (३, ३, ५७)'—इति रूपम्। पराशीर्णः पराशरः ऋषिः। पराशीर्णस्य स्थविरस्य लघिष्ठस्य नमा विरक्षुते शक्तौ जात इत्यर्थः। "पराशरः शतयातुर्वसिष्ठः (ऋ० सं० ५, २, २८, १)"। रक्षसां परा शातयिता पराशर इन्द्रः। "इन्द्रो यातूनामभवत् पराशरः (ऋ० सं० ५, ७, ६, १)" ॥

(१२२) क्रिविर्दती। 'कृघिघुविच्छुचिप्यचिक्रिप्यादिवि (उ० ४, ५६)'—इति विन्प्रत्ययो रिवादेशश्च निपात्यते। दयतेः शतरि 'बहुलं छन्दसि (२, ४, ७३)'—इति शपो लुक्। 'उगितश्च (४, १, ६)'—इति ङीप्। क्रिवेर्विकर्तनस्य दती। ऐष उपजनः। शतघ्नू यामायुधविशेषे वर्तते। "यथा वो दिद्युदस्ति क्रिविर्दती (ऋ० सं० २, ४, २, १)" ॥

(१२३) करूलती। कृत्तदन्तशब्दस्य करूलतीभावः। 'सुपां सुलुक् (७, १, ३९)'—इति सोर्लुक्। स्त्रीलिङ्गमतिरूपकमेतत्। 'भगः (निघ० ६, ३१)'—इति पुंलिङ्गनिर्देशात् पूर्णोध्यत इति निश्चयः। भग इति पूर्वः पक्षः। तस्मात् 'अदन्तकः पूषा

शत० ब्रा० ८, ७३ )'—इति च श्रुतिः। "धामं देवः करूलती ऋ० सं० ३, ६, २३, ४ )" ॥

(१२४) द्नः। दानमानस इत्यस्य दनस्भावः। दानमानस त्यर्थः। "दनो विश इन्द्र मृध्रवाचः (ऋ० सं० २, ४, १६, २)" ॥

(१२५) शारुः। समुपसर्गार्थविशिष्टात् शृणातेः 'शृवन्यो- ारुः (३, २, १७३)'—इति ताच्छील्यादिषु विहित आरुप्रत्ययेन च्छायां भवति। "शाशरुरभिमन्यते (ऋ० सं० ८, ४, २, ४)"। संशिशरिषुः संशयिषुर्वा दीर्घनिद्रया हि मन्यते दुष्टेनातिशयेन हि भवति ॥

(१२६) इदंयुः। इत्यनवगतम्। क्वचि मान्ताव्ययप्रति- षेधात्। 'इदं कामयमान उच्यते ( निरु० ६, ३१ )'। कर्म इदं सामान्येन प्रदर्शितम्। तथाहि लक्षितं धनादि तद् य इच्छति स इदंयुः। शंयुः कियुः धियुः इत्याद्यवगतानवगतकाजतमाश्रो- पलद्दप्रहार्थे निगमेषु पठितम्, न विशेषार्थमिति निरुक्तकाराभि- प्रायः। अतएव च सामान्यविशेषयोरुदाहरणमिदम्। तथाञ्च "वसूयवो वसुकामाः"—इत्यादि बहुधागतत्वाद् विशेषेण नेह किञ्चिन् भाष्यकारेणोदाजहार। अनेकार्थतां दर्शयन्नाह—'अथापि तद्दर्थे भाष्यते ( निरु० ६, ३१ )' प्रयुज्यत इत्यर्थः। तद्वदिति मनुप्रभृतिः सामान्येन निर्दिश्यते। तेन तद्दर्थं मत्वर्थं इत्यर्थः। "अश्वयुर्ग व्यूरथसंयुरिन्द्रः ( ऋ० सं० १, ४, ११, ४ )" ॥

(१२७) कीकटेषु। मन्त्रे सप्तम्यन्त इति तथैव निगमेषु पठ्यते। किं कृताः। किं क्रिया वा सन्तः कीकटाः किं कृताः

किमर्थमुपपादिताः भसदाचाराः। अथवा यागदानादिभिः क्रियाभिः कृताभिः पिबत स्वादतेत्येवमभिप्राया नेह येषां ते कीकटाः। "किन्ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावः (ऋ० सं० ३, ३, २१, ४)"। कीकटनाम्यनार्यनिवासो देशो। कृपणा वा कीकटाः॥

(१२८) बुन्दः। (१२९) बुन्दम्। भिन्द इति वा भयद इति वा भासमानो द्रवतीति वाक्यार्थपदचमनं विदारणभयदान-भासमानद्रवणलक्षणानामर्थेषु सम्भवान् पदलक्षणवर्णसामान्या-च्चेदमुक्तम्। 'बुङ् सम्भक्तौ (स्वा० आ०)'। 'भृतुसुकुम्यो दनूच्'—इति दनूच्प्रत्ययः। यवयोरभेदः। बाहुलकात् लुग-भावश्च। अनेकार्थत्वात् पूर्वोक्तार्थवृत्तित्वं बोद्धव्यम्। बुन्दो धन्नम्। "साधुर्बुन्दो हिरण्ययः (ऋ० सं० ६, ५, ३०, ६)"। "इन्द्रो बुन्दं स्वाततम् (ऋ० सं० ६, ५, ३०, १)"॥

बुन्देषु शत्रुविदारणभयदारणभयदानभासमानद्रवणरूपा अर्थाः सम्भवन्ति। प्रसिद्धत्वाद्विग्रमो न प्रदर्शितः॥

(१३०) किः। करोतेः 'येश्रो धयिः'—इति बाहुलकात् इन्-प्रत्ययः। कर्त्तत्यर्थः। "अयं यो होता किरु स यमस्य (ऋ० सं० ८, १, १२, ३)"॥

(१३१) उल्बम्। ऊर्णोतिर्वृणोतेर्वा। 'अलिशलोरित उच'—इति विधियमानो वप्रत्ययो बाहुलकाद् भवति, प्रकृतेरुल्भावश्च। गर्भस्याच्छादनमभिधेयम्। "महत्तदुल्बं स्थविरं तदासीत् (ऋ० सं० ८, १, १०, १)"। जरायोरन्तर्गर्भवेष्टनं श्रुतम्॥

(१३२) ऋर्धासम्। पृथ्वीत्यमिन्तेयम्। अपगतमासमित्येव-
ायाः (निरु० ६, ३५) शब्दसमाधय उत्पद्यन्ते। धात्वन्य-
त्वतो विशेषः। अपगतापचितापहतान्तर्हितशब्दानामन्यतमत्
पूर्वपदं मासशब्द उत्तरपदम्। पूर्वस्य ऋभावः, भकारस्य
वकार आकारस्य ईकारश्च॥ "ऋधीसे अग्निमश्विनावनीतम्
(ऋ० सं० १, ८, ६, ३)"॥

अध्यायपरिसमाप्तिकं द्विर्वचनम्॥

इति देवराजयज्वरचिते नैगमकाण्डनिर्वचनं समाप्तम्॥

## समाप्तश्च चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

## अथ पञ्चमोऽध्यायः।



अथ दैवताकाण्डनिर्वचनं व्याख्यायते—

### अग्निः (१)। जातवेदाः (२)। वैश्वानरः (३)

### इति त्रीणि पदानि॥ १॥

(१) अग्निः। अग्राद्युपपदात् नयतेः 'सत्सूद्विष (३, २, ६१)' इत्यादिना क्विप्। पृषोदरादित्वात् अग्निः। यद्वा, 'घेन्मो घग्निः'—इति बाहुलकादिनप्रत्ययोऽग्रशब्दस्य रेफाकारयोर्लोपश्च।

अग्रणीः। मुख्यत्वञ्च 'अग्निर्हि देवानां सेनानीः'—इति श्रुतेः। अग्रं प्रथमं यज्ञेषु कर्त्तव्येषु तादर्थ्येन प्रणीयते। अङ्गोपपदाद्वा समर्थविशिष्टात् नयतेः पूर्ववदिकारलोपश्च। अङ्गं शरीरं यज्ञस्य, ततः सन्नममानः स्वयमेव प्रह्वीभवन् हविषां पाककरणत्वेन साधनभावं प्रतिपाद्यमानो नयति। नञ्पूर्वात् क्नोपयतेः स्नेहनार्थात् क्तिन्प्रत्यये ककारनकारव्यतिरिक्तं लुप्यते, ककारस्य गकारापत्तिश्च। नञ्विशिष्टेन स्नेहनेन च तद्विपरीतं विरूक्षणञ्च लक्ष्यते, विरूक्षयतीत्यर्थः, दग्धव्यस्य पयादेः शोषणात् विरूक्षण इत्यर्थः। यद्वा, पतेरग्रमित्यादौ दर्शनादकारः। अञ्जेर्जकारस्य दहेर्हकारस्य च निष्ठायां गकारापत्तिर्द्रष्टव्येति तयोरन्यतरस्माद् कारः, नयतेः पूर्ववन्निः। ततश्च अञ्जनमभिव्यक्तं वस्तुप्रकाशकत्वात्मकत्वेन वा नयतीत्यग्निः। "अग्निमीळे पुरोहितं (ऋ० सं० १, १, १, १)" ॥

(२) जातवेदाः। जातशब्दोपपदात् विदेर्विदेर्विन्दतेर्वाऽसुन्, जातानि सर्वाणि भूतानि वेद, लोकपालत्वात्। जाते जाते सर्वस्मिन् भूतजाते विद्यते। जातं वेदो हविर्लक्षणं धनमैश्वर्यादि स्तुत्या यस्य सः। जातं वेदो विज्ञानं यस्य, वैश्वानररूपस्यापि च एतद्विचार इत्यर्थः। जातमात्र एव विद्योतने प्रज्ञानस्वभावत्वात्, जातं वेदः प्रज्ञानं वा अस्य। "प्रनूनं जातवेदसम् (ऋ० सं० ८, ८, ४५, १)" ॥

(३) वैश्वानरः। विश्वान् नरान् इमों लोकान् लोकान्तरं नयति। इदमर्थेन विश्वानराणां नेतृत्वेन सम्पत्तये वा कर्मादि-

र्णतृत्वेन सम्पादिनोऽस्य वैश्वानरः। 'अन्येषामपि दृश्यते (६, ३, १३७)'—इति दीर्घः। अपि वा विश्वान् जन्तून् अरः। 'ऋ गतौ'—इत्यस्य छान्दसत्वात् पचाद्यच् उपपदविभक्तेश्चालुक्। सर्वाणि भूतान्यरः प्रसृतः प्रतिगतः प्रविष्टः इति विश्वानरः प्राणः। तेन जन्यमानत्वात्तस्यापत्यं वैश्वानरः। 'प्राणाद्धि बलान्मथ्यमानो हि जायते'—इति ब्राह्मणम्। "वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम (ऋ० सं० १, ७, ६, १)" ॥

द्रविणोदाः(१)। इध्मः(२)। तनूनपात्(३)। नराशंसः (४)। इळः (५)। बर्हिः (६)। द्वारः (७)। उपासानक्ता (८)। दैव्याहोतारा (९)। तिस्रोदेवीः (१०)। त्वष्टा (११)। वनस्पतिः (१२)। स्वाहाकृतयः (१३)। इति त्रयोदश पदानि ॥ २ ॥

(१) द्रविणोदाः। द्रविणशब्दो व्याख्यातो धननामस्वेव (२७३ पृ०)। तस्य सकार उपजनः। ददातेरसुनि बाहुल-कादाकारलोपः। धनस्य बलस्य वा दाता द्रविणोदाः। "द्रविणोदा द्रविणसः (ऋ० सं० १, ७, ४, ३)'। ऋतुयाजप्रैषेषु सकारलोपो द्रष्टव्यः ॥

(२) इध्मः। 'ञि इन्धी दीप्तौ (धा॰ ३०)'। इध्यतेऽनेनाग्निरिति इध्मः यज्ञेध्म। समिध्यते इत्यस्ति अग्नेः समिन्धनत्वम्। उपलक्षणं येध्मः। "समिद्धो अद्य मनुषो दुरोणे (ऋ॰ सं॰ ८, ६, ८, १)" ॥

(३) तनूनपात्। नपाच्छब्दोऽपत्यनामसु व्याख्यातः (१६१ पृ॰)। इह पौत्रे वर्तते। यथा, सुतशब्दस्य नपादुभावः। पुत्रापेक्षया नीचैः सुततरां सुनो हि पौत्रः। तनोतेः 'हमृग्रिणितृचरिरसिसनितनिमसिमृजिभ्य उः'। तन्वन्त्यस्यां पयआदिभोगाः इति तनूः गोनाम। अस्याः पयो जायते। पयस आज्यमिति। आज्यं तनूनपात्। अथवा तता अन्तरिक्षे इति तन्वः आपः। ताभ्य ओषधिवनस्पतयो जायन्ते। ओषधिवनस्पतिभ्योऽग्निर्जायते इति। अग्निस्तनूनपात्। "तनूनपात्पथ ऋतस्य यानात् (ऋ॰ सं॰ ९, ६, ८, २)" ॥

(४) नराशंसः। नरैः ऋत्विग्भिः शस्यतेऽस्मिन् 'अन्येषामपि दृश्यते (६, ३, १३७)'—इति दीर्घः। यज्ञ उच्यते। नरैः प्रशस्यते स्तूयते इत्यग्निः। 'नराशंसस्य महिमानमेषाम् (ऋ॰ सं॰ ५, २, १, २)" ॥

(५) इलः। इलाशब्दो व्याख्यातः पृथिवीनामसु (३४ पृ॰) आजुह्वान ईड्यो वन्द्यश्च (ऋ॰ सं॰ ८, ६, ८, ३)" ॥ "होतारमिलः यमं यजत्यौ (ऋ॰ सं॰ २, ८, २२, ३) ॥

(६) बर्हिः। व्याख्यातं महन्नामसु (३१३ पृ॰)। बर्हिरे- ... । यद्वा, 'बृही उद्यमने (धा॰ प॰)'—इत्यस्मा-

दीप्तिः। पयसोरभेदादुक्तम्। अग्निपक्षे परिवृढत्वात् बर्हिः।
"प्राचीनं बर्हिः प्रदिशा पृथिव्या (ऋ० सं० ८, ६, ८, ४)" ॥

(७) द्वारः। जवतेर्द्रवतेर्वा गतिकर्मणः वारयतेर्वा स्यात्।
जवतेर्जकारस्य दकारः, द्रवतेः रेफलोपः, वारयतेरिडागमश्च
निपातनात्। गम्यन्ते ह्याभिर्यज्ञगृहम्, अनभिमतो हि तास्वेव
निवार्यते। अग्निपक्षे, ज्वाला आगम्यन्ते याभिः, शीतादिनि-
वारणम्। "देवी द्वारो बृहतीर्विश्वमिन्वा (ऋ० सं० ८,
६, ८, ५)"।

(८) उषासानक्ता। 'उच्छी विवासे (भू० प०)' 'वश
कान्तौ (अदा० प०)'—'इग्निरन्निमृत्युभ्यः किन्'—इति यास्कु-
लकाच्छकारस्य शकारस्य वा षकारः। 'ग्रहिज्या (६, १, १६)'
—इति सम्प्रसारणम्। उच्छति कान्ता वा उषा। नक्तशब्दो
रात्रिवचनः। 'उषासोषसः (६, ३, ३१)'—इति उषासादेशः।
द्विवचनस्याकारः। अग्निपक्षे, उषा दीप्तिः, तमसो विवासनात्,
आहुतिस्तद्युक्ता अनक्त्यग्निमिति। "उषासानक्ता सदतां नियोनौ
(ऋ० सं० ८, ६, ८, ६)" ॥

(९) दैव्याहोतारा। उभयत्राकारो द्विवचनस्य। आह्वातारौ
देवानाम्। पार्थिवमध्यमावग्नी उच्येते। "दैव्याहोतारा प्रथमा
सुवाचा (ऋ० सं० ८, ६, ९, १)" ॥

(१०) तिस्रोदेवीः। प्रथमार्थे द्वितीया। भारतीळासर-
स्वत्यः। अग्नायी पृथिवीलेति स्त्रियः इति प्रत्यक्षेण पठिताया
अपि तिस्रोदेव्यः इति सामान्येन पाठात् पृथिवीस्थानं माध्य-

कारेण ज्ञापितम्। सरस्वती मध्यमस्थाना। "आनो यज्ञं भारती (ऋ० सं० ८, ६, ६, २)"—इति निगमः॥

(११) त्वष्टा। तूर्णशब्दोपपदादश्नोतेस्तृन्निपात्यते। त्वष्टा मध्यमस्थानः। आप्रीत्यादिह समाम्नातः। तूर्णमश्नुते वायुरूपत्वात्। त्विषेर्दीप्तावामकारश्चोपधाया अनित्त्वश्चेति वा दीप्तो ह्यसौ वैद्युतत्वात्। त्वष्टा पूर्ववन्निपातनम्। अग्निपक्षेऽप्युपपद्यन्ते निर्वचनानि। "देवं त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान् (ऋ० सं० ८, ६, ६, ३)"। "उभे त्वष्टुर्बिभ्यतुर्जायमानात् (ऋ० सं० १, ७, १, ५)"॥

(१२) वनस्पतिः। वनानां पाता। वन्यते सेव्यते इति वनम्। 'पुंसि संज्ञायां घः (३, ३, ११८)'। पतिशब्दो व्याख्यात "ईश्वरनामसु (३०० पृ०)। अग्निरन्तरनुप्रविष्टोऽपि यतो न दहति अतः पातेति व्यपदिश्यते। पिबतेर्वैतद्रूपम्। यूपश्चे वनस्पतिविकारत्वाद् वनस्पतिः। पारस्करादित्वात् सुट् (६, १, १५७)। "वनस्पतिः शमिता देवो अग्निः (ऋ० सं० ८, ६, ६, १०)"। "वनस्पते मधुना दैव्येन (ऋ० सं० ३, १, ३, १)"॥

(१३) स्वाहाकृतयः। स्वाहाशब्दो व्याख्यातो वाङ्नामसु (१०१ पृ०)। अत्र स्मरणार्थमुच्यमस्य प्रयाजस्य वक्ष्यमाणदेवतासङ्कीर्तनपरत्वात्, स्वाहाकृत्यादेस्तेयं पूर्वं कतिपयाक्षरोच्चारणं वा ...र्मास्यमाणदेवतानां ताः स्वाहाकृतय उच्यन्ते। "स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवाः (ऋ० सं० ८, ६, ६, ५)"। "स्वाहाकृतानि ...यन्ते (ऋ० सं० २, ७, ६, ६)"॥

(२) शकुनिः। शक्नोतेः क्विपि शक्। उन्नयतेः 'वेञो डित्' —इति बाहुलकात् डिद्निप्रत्यये उदन्तलोपः। शक्नोत्युन्नेतुमात्मानं शकुनिः ककारस्य जश्त्वाभावः। शक्नोत्युन्नयनादिक्रियाः कर्त्तुम्। "सुमङ्गलश्च शकुने भवासि (ऋ० मं० २, ८, ११, १)" ॥

(३) मण्डूकाः। मस्जेः 'शल्मिपिण्डम्यामूकन् (उ० ४, ४२)' —इति बाहुलकादूकनि जश्त्वचुत्वाभ्यां मज्जूका इति प्राप्ते छान्दसत्वात् जकारस्य डकारापत्त्या अन्त्यात् पूर्वस्य नुमि ष्टुत्वम्। निमज्जन्ति हि ते जले। मदतेर्मृत्त्यर्थात् मन्दतेर्वा मोदत्यर्थात् पूर्ववदूकन् रूपसिद्धिश्च। नित्यमदत्वात्, नित्यहृष्टत्वात् नित्यतृप्तत्वाद्वा मण्डूकाः। मण्डतेर्वा यथाप्राप्ते ऊकनि मण्डूकाः। यद्वा, मण्डो मदतेः। 'गेहे कः (३, १, १४४)'—इति बाहुलकात् कप्रत्यये रूपसिद्धिश्च मण्ड उदकम्। हृष्यन्ति हि तत्र स्नानपानावगाहार्थिनः। मण्डे ओको निवास एषां मण्डशब्दादोकशब्दाच्च मण्डूकाः। "प्र मण्डूका अवादिषुः (ऋ० सं० [illegible], ७, ३, १)" ॥

(४) अक्षाः। अश्नोतेः 'अशेर्देवने (उ० ३, ६२)'—इति सप्रत्ययः। अश्नुवते व्याप्नुवन्ति गृह्णन्त्येनानुद्देवितारः। अतिव्याप्नुवन्त्येभिः परस्परमिति वा। "अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व (ऋ० सं० ७, ८, ५, ३)" ॥

(५) ग्रावाणः। व्याख्यातः पर्वतनामसु (७६ पृ०)। "ग्रावभ्यो वचं वदता वदद्भ्यः (ऋ० सं० ८, ४, ६, १)" ॥

(६) नाराशंसः। नरान् शंसतीति कर्मोपपदेऽण्, 'अन्येषामपि
न्ते (६, ३, १३७)'। ततः प्रज्ञादित्वात् स्वार्थिकोऽण्।
शंस एव नाराशंसः। मन्त्रोऽत्राभिधेयः। "अमन्दान्स्तोमान्
भरे मनीषा (ऋ० सं० २, १, ११, १)" ॥

(७) रथः। रंहतेर्गतिकर्मणः। 'हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः
थन् (उ० २, २)'—इति क्थन्, बाहुलकाद्नकारहकारलोपश्च।
शब्दस्यनेन। स्थिरतेर्निरुक्तधातुः। विपर्ययाक्षरः। 'पुंसि
संज्ञायां घः (३, ३, ११८)'। सकारैकारयोर्लोपः। इडागडित-
त्वात् स्थिरो हि सः। यद्वा, रमतेस्तिष्ठतेश्च द्विधातुजं रूपम्।
रममाणो यस्मिन्योऽस्मिंस्तिष्ठति रथी। यद्वा, रमतेरेव यथाप्राप्तः
क्थन्। रमणीयो हि रथः। रसतेर्वा शब्दार्थात् पूर्वसूत्रेण
बाहुलकात् क्थनि सकारलोपः। भवति हि तस्यागच्छत उप-
लब्धिः। "तया रथमुप शग्मं सदेम (ऋ० सं० ५, १, २०, ३)" ॥

(८) दुन्दुभिः। शब्दानुकरणनिमित्तकमेतन्नाम। द्रुमशब्दस्य
वा रैफान्तलोपः। भिद्देश्चाद्यन्तविपर्यय उकारश्चोपजनः।
दुन्दुभ्यतेर्वा नैरुक्तधातोर्वधकर्मणः इन्। ताड्यते ह्यसौ युद्ध-
समये। "स दुन्दुभे सजूरिन्द्रेण देवैः (ऋ० सं० ४, ७, ३५, ४)" ॥

(९) इषुधिः। इषवो निधीयन्तेऽस्मिन्। कर्मण्यधिकरणे
च (३, ३, ९३)'—इति किः। "इषुधिः सङ्काः पृतनाश्च सर्वाः" ॥

(१०) हस्तघ्नः। हस्ते हस्तसमीपे स्थितो हन्यते ज्यया शर-
पुङ्खेन वा। 'घञर्थे कविधानम् (३, ३, ५८ वा० २)'—इति कः।
"हस्तघ्नो विश्वा वयुनानि विद्वान् ( ऋ० सं० ५, १, २१, ४ )" ॥

(११) अभीशवः। व्याख्याता रश्मिनामसु (५३ पृ०)। निगमश्च दर्शितः॥

(१२) धनुः। धन्वतेर्गत्यर्थाद् वधार्थाद्वा 'अर्तिपृवपियजि-तनिधनितपिभ्यो नित् (उ० २, १३०)'—इति बाहुलकादुसिः प्रत्ययो वकारलोपश्च। धनिर्माणार्थ इति क्षीरस्वामी। यथाप्राप्त उसिः। धन्वन्त्यपनयन्त्यस्मादिषवः, घ्नन्ति वा। "धनुः शत्रो रपकामं कृणोति (ऋ० सं० ५, १, १६, २)"॥

(१३) ज्या। जयतेर्जिनातेर्वाऽन्तर्णीतण्यर्थाद् वा 'अघ्न्य-पिष्यशिक्य'—इत्यादिना यक्प्रत्ययो धातोर्जकारभावश्च निपात्यते। 'अघ्न्यादयश्च (उ० ४, १०८)'—इति निपातनम्। जयसाधनं हि ज्या। "धन्वन्नज्या इयं समने पारयन्ती (ऋ० सं० ५, १, १६, ३)"॥

(१४) इषुः। इषतेर्गतिकर्मणो वधार्थाद्वा 'इषेः किञ्च (उ० १, १३)'—इति उप्रत्ययः। गच्छति शत्रून्, हन्ति वा तान्। "तत्रास्मभ्यमिषवः शर्म यंसन् (ऋ० सं० ५, १, २१, १)"॥

(१५) अश्वाजनी। अश्वा अज्यन्ते क्षिप्यन्ते प्रेर्यन्तेऽनया। ल्युट्, 'वा यौ (२, ४, ५७)'—इतिवीभावविकल्पः, टिषधान् ङीप्। अश्वानामजनी अश्वाजनी कशोच्यते। "अश्वाजनि प्रचेतसः (ऋ० सं० ५, १, २१, ३)"॥

(१६) उलूखलम्। उरु विस्तीर्णं खलं मुखमस्य, ऊर्ध्वं वा परिभागे खलं मुखमस्य। ऊर्क् अन्नं तत् करोति। किरतेर्वा कीर्णं तत्। शब्दानुकरणनिमित्तं वा नामैतत्, यतो मुसला-

पातञ्जनिनध्यनिमुरु मेषु कुर्यादित्येवमब्रवीत्। सर्वथैव तेषु वर्णव्य·
त्यादि पाच्यम्। "उलूखलक युज्यसे (ऋ० सं० १, २, २८, ७)" ॥

(१७) वृषभः। 'वृषु सेचने (भू० प०)'। 'ऋषिवृषिभ्यां
कित् (उ० ३, १२३)'—इत्यभच्प्रत्ययः। प्रजाहेतुभूतं बीजं
वर्षति सिञ्चति। धूहेर्वा बाहुलकात् भवति हकारस्य वकारः।
अतिशयेन रेतः सेक्तुं वृहति उद्यच्छति आत्मानम्। "अमेहयन्
वृषभं मध्य आजेः (ऋ० सं० ८, ७, २०, ५)" ॥

(१८) द्रुघणः। द्रुशब्दो द्रुमशब्दपर्यायः। द्रुमविकारः
काष्ठखण्डोऽत्र द्रुशब्देनोच्यते। द्रुर्हन्यतेऽनेन। 'करणेऽयोविद्रुषु
(३, ३, ८२)'—इति हन्तेरप् घनादेशश्च। क्षुभ्नादिषु (८, ४, ३९)
पाठाण्णत्वम्, 'पूर्वपदात् सञ्ज्ञायामगः (८, ४, ३)'—इति वा।
"काष्ठायामध्ये द्रुघणं शयानम् (ऋ० सं० ८, ५, २१, ४)" ॥

(१९) पितुः। अन्ननामसु व्याख्यातम् (२२२ पृ०)। स
निगमः (ऋ० सं० २, ५, ६, १) ॥

(२०) नद्यः। (२१) आपः। व्याख्याताः (१५६ पृ०।
१४१ पृ०)। निगमौ च दर्शितौ सामान्येन। "इमं मे गङ्गे
यमुने सरस्वति (ऋ० सं० ८, ३, ६, ५)"—इति, विशेषेण।
"आपो हि ष्ठा मयोभुवः (ऋ० सं० ७, ६, ५, १)" ॥
दोषशब्दे ... धयतेः

दकारलोपो द्रष्टव्यः । "या ओषधीः पूर्वा जाता (ऋ० सं० ८, ५, ८, १)" ॥

(२३) रात्रिः । प्रोपसर्गार्थविशिष्टात् अन्तर्णीतण्यर्थात् रमतेः 'राशदिभ्यां त्रिप् (उ० ४, ६७)'—इति बाहुलकात् त्रिप्प्रत्ययो मकारस्याकारश्च रातेर्वा त्रिप्प्रत्ययो यथाप्राप्तः । प्ररमयन्ति भूतानि नक्तञ्चारीणि, उपरमयन्ति दिवाचराणि स्वव्यापारेभ्यः, प्रदीपन्तेऽस्यामवश्यायां मध्यमेन । "आ रात्रि पार्थिवं रजः (य० वा० स० ३४, ३२)" ॥

(२४) अरण्यानी । अपपूर्वात् रिणतेर्गतिकर्मणो नञ्पूर्वाद्रमतेर्वा अर्त्त्यादित्यात् (उ० ४, ११८) यत्प्रत्यये रूपसिद्धिर्निपात्यते । अपार्णमपगतं ग्रामाद्धि अरमणं वा, न हि तद्रमयति अरण्यं वनम् । अरण्यपालयित्री अधिदेवता काचित् नैरुक्ताः महदरण्यमिति वैयाकरणाः । 'हिमारण्ययोर्महत्त्वे (४, १, ११, वा० १)'—इति विधीयते। "अरण्यान्यरण्यानि (ऋ० सं० ८,८,४,१)" ॥

(२५) श्रद्धा । श्रत् सत्यम्, तस्मिन् धीयते । तथाच मन्त्रः "अश्रद्धामनृते दधातन श्रद्धां सत्ये प्रजापतिः"—इति । 'आतश्चोपसर्गे (३, ३, १०६)'—इत्यङ् । 'श्रच्छब्दस्योपसङ्ख्यानम्' त्युपसर्गसञ्ज्ञा । धर्मार्थसुखापवर्गेषु यथाशास्त्रमधिकृतः पुरुषस्य कर्मानुष्ठानहेतुभावप्रख्यानात् बुद्ध्यधिदेवता श्रद्धा । "श्रद्धाग्निः समिध्यते (ऋ० सं० ८, ८, ६, १)" ॥

(२६) पृथिवी । 'प्रथ प्रख्याने (भू० आ०)' । 'प्रथे षिवन् सम्प्रसारणञ्च (उ० १, १४६)' । 'षिद्गौरादिभ्यश्च (४, १,

१)। पृथ्वीत्यर्थः। "स्योना पृथिवि भव ( ऋ० सं० १, २,
५)" ॥

(२३) अद्या। व्याख्यातं नैगमे सनिगमम् ॥

(२४) अग्नायी। अग्नेः पत्नी। 'वृषाकप्यग्निकुसितकुसि-
दानामुदात्तः (४, १, ३७)'—इत्यैकारादेशः, पुंयोगलक्षणो ङीप्।
"अग्नायीं सोमपीतये (ऋ० सं० १, २, ६, २)" ॥

(२५) उलूखलमुसले। उलूखलं व्याख्यातम्। मुदुशब्दोपपदात्
… 'पुलोरलमुसलकुबल'—इत्यादिना कलप्रत्ययो टिलोपो
… मुसभावश्च निपात्यते। उत्क्षिप्योत्क्षिप्य निपातनात्
… सरणं मुसलं द्विर्वचनम्। "आयजी वाजसातमा ( ऋ०
सं० १, २, २६, २ )"। अत्रेष्मयम् श्रुतिरसत्यपि लिङ्गयोगे ॥

(२६) हविर्धाने। सोमलक्षणानि हवींषि विधीयन्ते ययोः।
"आ वामुपस्थमद्रुहा ( ऋ० सं० २, ८, १०, ६ )"। पूर्ववदु-
पदत्वम् ॥

(२७) द्यावापृथिव्यौ। दिवो द्युत्ययात् 'दिवेर्डिविः'—इति
… पृथिवी व्याख्याता (१२ पृ०)।

इत्यत्र 'प्राक्प्रत्ययनिर्देशादिष्टसिद्धिः'—इत्युक्ते क्विपि प्रशब्दरेफलोपादि। विविधं कूलपाटनात्, विपाशनात्। अपुत्रस्य दुःखभूततमोवृत्तेर्मुमूर्षोर्वसिष्ठस्य कण्ठे शिलाबन्धने साधनभूत पाशा अस्याम्। विविधदेशप्रापणाद्वोदकस्यापनत्वात् विपाट्। शुतुद्री शुद्राविणीत्यर्थः। आशुतुन्नद्राविणीशब्देभ्यो वा। आशुतुन्नं प्रतोदे द्रवतीति शुतुद्री। विपाट् च शुतुद्री च विपाट्छुतुद्री पूर्वसवर्णः। "विपाट्छुतुद्री पयसा जवेते (ऋ० सं० ३, २, १२, १)" ॥

(३३) आर्त्नी। अर्त्तेः रिपतेर्वा 'वहिश्रिश्रुयुद्रुग्लाहात्वरिभ्यो नित् (उ० ४, ५१)'—इति बाहुलकात् निप्रत्ययो धातोरार्त्तमापश्च। 'कृदिकारात् (४, १, ४५, वा० १)'—इति ङीष्। गते ज्यया स्पृश्यमाने सङ्कुचिते हिंसासाधने वा भवतः। "आर्त्नी इमे विस्फुरन्ती अमित्रान् (ऋ० सं० ५, १, १९, ४)" ॥

(३४) शुनासीरौ। शुशब्दार्थविशिष्टात् 'शुन गतौ (तु० ५०)'—इत्यस्मात् इगुपधलक्षणः कः (३, १, १३५)। क्षिप्रं गच्छत्यन्तरिक्षमिति शुनो वायुः। यद्वा, शुशब्दोपपदाच्छवतेर्गतिकर्मणः 'अन्येष्वपि दृश्यते (३, २, १०१)'—इति डः। भाष्ये तु शु-नसदर्थयोः निर्वचनं प्रायेण। सर्त्तेः 'हिण्डीरवानीरगभीरगम्भीरकुम्भीरशरीरकश्मीरजम्बीरकरीरशरीरादयः'—इति ईरन्प्रत्ययदीर्घोपधश्च निपात्यते। सदा सरणात् सीर आदित्यः। शुनश्च सीरश्च 'देवताद्वन्द्वे च (६, ३, २६)'—इत्यानङ्। "शुनासीराविमां वाचं जुषेथाम् (ऋ० सं० ३, ८, ३, ५)" ॥

मित्रः (१३)। कः (१४)। सरस्वान् (१५)
विश्वकर्मा (१६)। तार्क्ष्यः (१७)। मन्युः (१८
दधिक्राः (१९)। सविता (२०)। त्वष्टा (२१)
वातः (२२)। अग्निः (२३)। वेनः (२४)
असुनीतिः (२५)। ऋतः (२६)। इन्दुः (२७)
प्रजापतिः (२८)। अहिः (२९)। अहिर्बुध्न्यः (३०)
सुपर्णः (३१)। पुरूरवाः (३२)। इति द्वात्रिंशत
पदानि ॥ ४ ॥

(१) वायुः। 'वा गतिगन्धनयोः (अदा० प०)'। 'कृवा
पाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण् (उ० १,१)'। 'आतो युक् चिण्कृतो
(७,३,३३)'। यद्वा, वेतेर्गतिकर्मणो बाहुलकादण् यद्वा, 'छन्दसीण
(उ० १, २)'—इत्युणि वकारोपजनः। मध्यस्थोऽन्तरिक्षे। "वायव
याहि दर्शतेमे (ऋ० सं० १, १, ३, १)" ॥

(२) वरुणः। 'वृञ् वरणे (स्वा० उ०)'। 'कृवृदारिभ्य उनन
(उ० ३, ५०)'। अन्तरिक्षे उदकमावृणोति। "नीचीनबारं
वरुणः कवन्धम् (ऋ० सं० ४, ५, ३२, ३)" ॥

(३) रुद्रः। रौतेः क्विप्। रुतमर्दं करोति। 'आतोऽनुपसर्गे
कः (३, २, ३)'। यो रुदन् द्रवति, रौतीति वर्णं द्रावयते।
रोरूयमाणोऽत्यर्थं शब्दं कुर्वन् मेघोदरमभो द्रवतीति, रोरूयमाण-

इताश्च यज्ञनामात्तरयिता च। सर्वत्र निपातनाद्रूपसिद्धि "महान्तमिन्द्र पर्यन्तं विपञ्चुवः ( ऋ० सं० ४, १, ३२, १ )" ॥

(५) पर्जन्यः। तृपेरन्त्यान्निष्पत्त्यर्थात् क्विपि तर्पयतीति तृप् जनहितो जन्यः हितार्थे यत्। तृप् चासौ जन्यश्चेति तृप्शब्दस्य परभावः। परशब्दोपपदात् जायतेर्जनयतेर्वा अघ्न्यादित्वात् यत्, नुम्, परशब्दातो लोपश्च निपात्यते। परः प्रकृष्टो जेताजनयिता वा। प्रसशब्दोपपदादर्जयते वा अघ्न्यादित्वान्निपातनत्वेन पर्जन्यः प्रकर्षेणोपार्जयिता सङ्ग्रहीता रसानाम्। "यत् पर्जन्यस्तनयन् हन्ति दुष्कृतः ( ऋ० सं० ४, ४, २७, २ )" ॥

(६) बृहस्पतिः। बृहच्छब्दो व्याख्यातो महन्नामसु (३०८ पृ०) पतिशब्दस्तु ईश्वरनामसु (३०१ पृ०)। अत्र पिबतेरपि बाहुलकात् पतिः। बृहतः सोमरसस्य धाय्यात्मना पाता पालयिता रक्षिता वा। पिता रक्षयिता महतो जगतो वा। "बृहस्पतिर्विरवेणा विकृत्य ( ऋ० सं० ८, २, १८, २ )" ॥

(७) ब्रह्मणस्पतिः।

(८) क्षेत्रस्य पतिः। 'क्षि निवासगत्योः ( तु० प० )'। 'गुधृवीपचिवचियमिमनितनिसदिशदिभ्यस्त्रन् (उ० ४, १६२)'— इति त्रन्प्रत्ययः। निवसन्ति हि येन च हेतुभूतेन, तस्य पाता। "क्षेत्रस्य पतिना वयम् ( ऋ० सं० ३, ८, ६, [illegible] )" ॥

(९) वास्तोष्पतिः। 'वस निवासे ( भू० प० )' 'वसेस्तुन् णिच्च इति। सामर्थ्यात्तच्च वास्त्वन्तरिक्षम्, तस्य पाता विभुत्वेन। "अमी वहा वास्तोष्पते ( ऋ० सं० ५, ४, २२, १ )" ॥

यत्यन्तरिक्षे। कमिति सुखनाम, सुखो वा वृष्टिप्रदानादिना "कस्मै देवाय हविषा विधेम ( ऋ० सं० ८, ७, ३, १ )" ॥

(१५) सरस्वान्। सर इत्युक्तं, तेन तद्वान्। "ये ते सरस्व ऊर्मयः ( ऋ० सं० ५, ६, २०, ५ )" ॥

(१६) विश्वकर्मा। करोतेः कर्त्तरि मनिन्। मध्यमस्थानो वायुः। वृष्टिद्वारेण सर्वस्य कर्त्ता सर्वचेष्टानां तदधीनत्वात्। "विश्वकर्मा विमना आद्विहायाः (ऋ० सं० ८, ३, १७, २)" ॥

(१७) तार्क्ष्यः। स्तीर्णशब्दे तूर्णशब्दे चोपपदे क्षियतिक्षरति-रक्षत्यश्नातिभ्योऽघ्न्यादित्वात् ( उ० ४, १८ ) यत्प्रत्ययादि निपात्यते। स्तीर्णे विस्तीर्णेऽन्तरिक्षे क्षियति क्षरति रक्षत्यश्नाति, तूर्णं पार्थमुदकाख्यं क्षियति क्षरति वा अश्नुते वा समः। "स्वस्तये तार्क्ष्यं मिहाहुवेम ( ऋ० सं० ८, ८, ३६, १ )" ॥

(१८) मन्युः। व्याख्यातः क्रोधनामसु (२५० पृ०)। दीप्तःसुखो वा। "त्वया मन्यो सरथमारुजन्तो (ऋ० सं० ८, ३, ११, १)" ॥

(१९) दधिक्राः। व्याख्यातोऽश्वनामसु (१६१ पृ०)। दध-धारयद् वृष्ट्युदकमन्तरिक्षे क्रामति गच्छति, क्रन्दति स्तनयित्नु-लक्षणं शब्दं करोति। "आ दधिक्राः शवसा पञ्च कृष्टीः ( ऋ० सं० ३, ७, १०, ५ )" ॥

(२०) सविता। 'षु प्रसवैश्वर्ययोः ( भू० प० )'। तृचि 'स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितो वा ( ७, २, ४४, )'। सर्वकर्मणां वृष्टिप्रदानादिना सविता अभ्यनुज्ञाता। "सविता यन्त्रैः पृथिवी-मरम्णात् ( ऋ० सं० ८, ८, ७, १ )" ॥

(२१) त्वष्टा । व्याख्यातः (४५८ पृ०)। "देवस्त्वष्टा सविता
विश्वरूपः (ऋ० सं० ३, ३, २१, ४)" ॥

(२२) वातः। वातेः 'हुसिमृग्रिण्वामिदमिल्पूधूर्विभ्यस्तन्
उ० ३, ८३)'। वाति वातः। "वात आवातु भेषजम्
ऋ० सं ८, ८, ४३, १)" ॥

(२३) अग्निः। व्याख्यातः (४५३ पृ०)। इह मध्यमोऽभि-
प्रेतः। "मरुद्भिरग्न आ गहि (ऋ० सं० १, १, ३६, १)" ॥

(२४) वेनः। वेनतेः कान्तिकर्मणो पचाद्यच् (३, १, १३४)।
कान्तो दीप्तो मध्यमस्थानः। "अयं वेनश्चोदयत् पृश्निगर्भा
(ऋ० सं० ८, ७, ७, १)" ॥

(२५) असुनीतिः। असुशब्दे उपपदे नयतेः 'क्तिच्क्तौ
बहुलम् (३, ३, ११३)'—इति क्तिन्। असून् नयतीति असुनीतिः।
स च मध्यमः प्राणः। प्राणश्च वायुः। स हि शरीरादुत्क्रामन्तो-
ऽसून् नयति। विज्ञायते हि प्राणा उत्क्रामन्तः सर्वेऽनूत्क्रामन्ति।
"असुनीते मनो अस्मासु धारय (ऋ० सं० ८, १, २२, ५)" ॥

(२६) ऋतः। 'ऋ गतौ (भू० प०)'। गत्यर्थात् कर्तरि
क्तः। अर्त्ता गन्ता अन्तरिक्षे। "ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीः
(ऋ० सं० ३, ६, १०, ३)" ॥

(२७) इन्दुः। इन्धेः 'भृमृशीतृचरित्सरितनि (उ० १, ७)'
—इत्यादिना बाहुलकादुप्रत्ययो धकारस्य दकारश्च। उनत्तेर्वा
'उन्देरिच्चादेः (उ० १, १२)'—इत्युप्रत्ययः। दीप्यते उनत्ति वा
वर्षेण। "प्र सद्यो चयमस्यायेन्दवे (ऋ० सं० २, १, १७, १)" ॥

—इत्यसुन्। चन्द्रश्चासौ निर्माता। चन्द्रमानं निर्माणमात्मनः कर्मणो वास्य। यद्वा, चान्द्रं चन्द्रसम्बन्धि मानमस्य चान्द्रमाः सन् ह्रस्वत्वेन चन्द्रमाः। यद्वा, चाम्राम्रे उपपदे द्रवतेरसुनि बाहुलकाद्रूपसिद्धिः। चारु शोभनं द्रवति गच्छति मन्दगतित्वात् वा। चिरं द्रवति वा। "प्र चन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः (ऋ० सं० ८, ३, २३, ४)" ॥

(४) मृत्युः। म्रियतेरन्तर्णीतण्यर्थात् 'भुजिमृङ्भ्यां युक्त्युकौ (उ० ३, २१)'—इति त्युक्प्रत्ययः। मारयति प्राणिनः, मृतं च्यावयतीति वा। मृतमिति वर्तमानसामीप्ये आसन्नमृत्युं चरमोच्छ्वासकाले शरीरात् च्यावयति। अथवा, मृतं क्षीणायुःसंस्कार उच्यते, तम् मृतं मध्यमः प्राणः शरीरात् च्यावयतीति मृत्युः। मृतशब्दोपपदात् च्यावयतेः 'अन्यत्यादयश्च (उ० ४, १०८)'—इति उप्रत्ययः, मृतान्तलोपः, च्यावयतेस्त्युभावश्च निपात्यते। "परं मृत्यो अनु परे हि पन्थाम् (ऋ० सं० ७, ६, २६, १)" ॥

(५) विश्वानरः। 'अपि वा विश्वानर एवेति व्याख्यातम् (निरु० ७, २१)'। "अर्चा विश्वानराय विश्वाभुवे (ऋ० सं० ४, १, ६, १)" ॥

(६) धाता। (७) विधाता। व्युपसर्गार्थविशिष्टात्तदुपपदाच्च धाञस्तृच्। वर्षकर्मणा सर्वं स हि दधाति। "धाता ददातु दाशुषे (अथ० सं० ७, १, ४, २)"। "धातर्विधातः कलशाँ अभक्षयम् (ऋ० सं० ८, ८, २५, ३)" ॥

(८) मरुतः। व्याख्याताः (३५३ पृ०)। मितं रुवन्ति. स्तनयित्नुलक्षणं शब्दं कुर्वन्ति। अमितं वा बहुप्रकारं रुवन्ति। महदुच्चैर्द्रवन्ति, महदन्तरिक्षं द्रवन्तीति वा मरुतः। "आ विद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वर्कैः (ऋ० सं० १, ६, १४, १)" ॥

(९) रुद्राः। रुद्रशब्दो व्याख्यातः (४६८ पृ०)। अत्र बहुवचनम्। "आ रुद्रास इन्द्रवन्तः सजोषसः (४, ३, २१, १)" ॥

(१०) ऋभवः। ऋभुशब्दो व्याख्यातो मेधाविनामसु (१४३ पृ०) विद्युत्प्रकाशनमुरु विस्तीर्णं भाति, ऋतेन वोदकेन दीप्यन्ते, ऋतेन सत्येन वान्तःसहाया भवन्ति। "सौधन्वना ऋभवः सूरचक्षसः (ऋ० सं० १, ७, ३०, ४)" ॥

(११) अङ्गिरसः। 'देवस्य विततिं यज्ञे महतो वरुणस्य च। ब्रह्मणोऽप्सरसो दृष्ट्वा रेतश्चस्कन्द कर्हिचित्। तत् प्रतीक्ष्य समर्थेन स जुहाव विभावसौ। अङ्गारेभ्योऽङ्गिराः'। अस्। "ते अङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः परिजज्ञिरे (ऋ० सं० ८, २, १, ५)" ॥

(१२) पितरः। 'पिता पाता वा (निरु० ४, २१),— इत्यादिना व्याख्याताः। अस्। "उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः (ऋ० सं० ७, ६, १७, १)" ॥

(१३) अथर्वाणः। (१४) भृगवः। थर्वतिश्चरतिकर्मा नैरुक्त-धातुः। न थर्वणमथर्वणमगमनं ततो जसि अथर्वाणः सन्तः आथर्वणः। यद्वा, थर्वतेः 'श्वन्नुक्षन्पूषन् (उ० १, १५९)'— इत्यादिना कनिन्प्रत्ययान्तो निपात्यते। अथर्वाणोऽगतारः। भृगवः। भृज्यमानाः मद्दत्तेजस्वित्वात्। भ्रस्ज पाके (तु०

उ० )'। 'प्रथिम्रदिम्रसृजां सम्प्रसारणं सलोपश्च ( उ० १, २९ )'—इत्युप्रत्ययः, न्यङ्क्वादित्वात् कुत्वम्। "अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः ( ऋ० सं० ७, ६, १५, १ )" ॥

(१५) आप्त्याः। आप्नोतेः अघ्न्यादित्वात् ( उ० ४, १०८ ) यत्प्रत्ययः नुगागमश्च निपात्यते। आप्नुवन्ति सर्वमाप्त्या मध्यमस्थाना इन्द्रसहचारिदेवगणाः। "इनतममाप्त्यानाम् ( ऋ० सं० ८, ७, २, १ )" ॥

(१६) अदितिः। 'सर्वास्त्रियो मध्यमस्थाना पुमान् वायुश्च सर्वशः। गणाश्च सर्वे मरुत इति वृद्धानुशासनम्'। अदिति र्व्याख्याता नैगमे (३३ पृ०)। "दक्षस्य वादिते जन्मनि व्रते ( ऋ० सं० ८, २, ६, ५ )" ॥

(१७) सरमा। 'सृ गतौ ( भू० प० )'। 'कलिकर्योरम (उ० ४, ८२)'—इति बाहुलकादमप्रत्ययः। पणिभिरसुरैः गूढा गा अन्वेष्टुं प्रहिता इन्द्रेण सरमा देवशुनी। "किमिच्छन्ती सरमा प्रेदमानड् ( ऋ० सं० ८, ६, ५, १ )" ॥

(१८) सरस्वती। व्याख्याता वाङ्नामसु (१०० पृ०)। "पावका नः सरस्वती ( ऋ० सं० १, १, ६, ४ )" ॥

(१९) वाक्। व्याख्याता स्वनामसु ( ११० पृ० )। "यद्वाग् वदन्त्यविचेतनानि ( ऋ० सं० ६, ७, ५, ४ )" ॥

(२०) अनुमतिः। (२१) राका। अनुपूर्वान्मन्यतेर्बाहुलकात् कर्त्तरि क्तिन्। अनुमन्यते यदनुमन्तव्यम्। 'रा दाने अदा० प० ) स्फायितञ्चिवञ्चिशकिक्षिपिक्षुदिसृपितृपिदृपिवन्द्युन्दिश्वितिवृत्यजिनीपदिमदिमुदिखिदिछिदिभिदिमन्दिचन्दिदहिदसिदम्भिवसिवाशिशीङ्हसिसिधिशुभिभ्यो रक्'—इति कप्रत्ययः।

यते हि तस्यां देवेभ्यो हविः। मध्यमस्थाने देवपत्न्यौ (११, ८)'—इति नैरुक्ताः। पौर्णमास्याविति याज्ञिकाः। "अन्विदनुमते त्वम् (य० वा० सं० ३४, ८)"। "राकामहं सुहवां सुष्टुती हुवे (ऋ० सं० २, ७, १५, ४)"॥

(२२) सिनीवाली। देवपत्न्याचमावास्ये वा। सिनमन्नामस्य व्याख्यातम् (२२३ पृ०)। वालं पर्व। "सिनीवालि पृथुष्टुके (ऋ० सं० २, ७, १५, ६)"॥

(२३) कुहूः। 'गुह संवरणे (भू० उ०)' अस्मात्, कयाश्चोपपदात् भवतेर्द्वयोर्वा 'नृतिशृध्योः कुः (उ० १, ८८)'—इति बाहुलकात् ऊमत्ययो गकारस्य ककारादि च। गुह्यः, इत्याश्चन्द्रमा न भवति तस्याप्रत्यक्षत्वात्। क पुनरसाविति वितर्क्यश्च चन्द्रमा भवति। 'कुहूमहं सुकृतं विद्मनापसम् (तै० ब्रा० ३, ३, ११)"॥

(२४) यमी। यमेन व्याख्याता (४३१ पृ०)। 'इन् सर्वधातुभ्यः (उ० ४, ११४)'—इतीन्। 'कृदिकारात् (४, १, ४५ पा०)'—इति ङीप्। "अन्यमूषुत्वं यम्यन्य उ त्वाम् (ऋ० सं० ७, ६, ७८, ४)"॥

(२५) उर्वशी। व्याख्याता (४१२ पृ०)। उर्वश्नुते इत्यादि यथानुसन्धानं योज्यम्। "प्रोर्वशी तिरत दीर्घमायुः (ऋ० सं० ३, ५, २, ४)"॥

(२६) पृथिवी। व्याख्याता (४७ पृ०)। इह मध्यमामिधेया। "इत्थं विभर्षि पृथिवि (ऋ० सं० ४, ४, २१, १)"॥

(२७) इन्द्राणी। 'इन्द्रवरुण (४, १, ४९)'—इति ङीप्
नुक् च। मध्यमस्थाना इन्द्रस्य पत्नी वा। "इन्द्राणीमासु
नारिषु (ऋ० सं० ८, ४, ३, १)" ॥

(२८) गौरी। (२९) गौः। (३०) धेनुः। व्याख्याता वाङ्नामसु
(१५, १४, १११ पृ०)। "गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षति (ऋ० सं०
२, ३, २२, १)"। गौरीर्मिमेतु वत्सं मिषन्तम् (ऋ० सं० २, ३,
२१, ३)"। "उपह्वये सुदुघां धेनुमेताम् (ऋ० सं० २, ३, २१, १)" ॥

(३१) अघ्न्या। व्याख्याता गोनामसु (२५४ पृ०)। "अघ्नि

(३५) इला। व्याख्याता वाङ्नामसु ( ६४ पृ० )। "अ[illegible]
न इला यूथस्य माता (ऋ० सं० ४, २, १६, ४)" ॥

(३६) रोदसी। व्याख्याता द्यावापृथिवीनामसु (३७३ पृ०)
अत्र पुंयोगलक्षणो ङीष् ( ४, १, ४८ )। रुद्रस्य मध्यमस्थान[illegible]
पत्नी माध्यमिका वाक्। "सचा मरुत्सु रोदसी (ऋ० सं० [illegible]
३, २०, ३)" ॥

इति मध्यस्थानदेवताः ॥ २ ॥

अश्विनौ (१)। उषाः (२)। सूर्या (३)। वृषाकपायी (४)। सरण्यूः (५)। त्वष्टा (६)। सविता। (७) भगः (८)। सूर्य्यः (६)। पूषा (१०)। विष्णुः (११)। विश्वानरः (१२)। वरुणः (१३)। केशी (१४)। केशिनः (१५)। वृषाकपिः (१६)। यमः (१७)। अजएकपात् (१८)। पृथिवी (१६)। समुद्रः (२०)। दध्यङ् (२१)। अथर्वा (२२)। मनुः (२३)। आदित्याः (२४)। सप्तऋषयः (२५)। देवाः (२६)। विश्वेदेवाः (२७)। साध्याः (२८)। वसवः (२६)। वाजिनः

(३०)। देवपत्न्यः(३१)। देवपत्न्य इत्येकत्रिंशत्पदानि ॥ ६ ॥

## इति निघण्टौ पञ्चमाध्यायः समाप्तः ॥ ५ ॥

(१) अश्विनौ। अश्वशब्दो व्याख्यातोऽश्वनामसु (१६८पृ०)। भासा सर्वं जगद् व्याप्नुतः। अथश्यायरसेन मध्यमः, तेजसोत्तमः। द्यावापृथिव्यावहोरात्रे सूर्याचन्द्रमसौ वाश्विशब्दाभिधेयौ। द्यौः ज्योतिषाश्नुते, पृथिवी रसेनान्नलक्षणेन। अहर्ज्योतिषा, रात्रिरवश्यायेन। सूर्यो ज्योतिषा चन्द्रमा रसेनाह्लादादिना वा। अश्वैरश्नुवातेस्तद्वन्तौ राजानौ पुण्यकृतावित्यौर्णनाभः। "कदेदमश्विना युवम् (निरु० १२, २)" ॥ तयोः कालः ऊर्ध्वमर्धरात्रात् सूर्योदयपर्यन्तः। तस्मिन्नान्या देवता उपास्ते ॥

(२) उषाः। वष्टेर्वोच्छतेर्वा। "उषस्तच्चित्रमा भरा (ऋ० १० सं० ३४, ३३)" ॥

(३) सूर्या। व्याख्याता वाङ्नामसु (१०० पृ०)। एषैवोषाः र्या सम्पद्यते। "आरोह सूर्ये अमृतस्य लोकम् (ऋ० सं० ३, २३, ५)" ॥

(४) वृषाकपायी। वृषाकपेरादित्यस्य पत्नी। 'वृषाकप्यग्निकुसितकुसिद (४, १, ३७)'—इत्यैकारङीषौ। "वृषाकपायि ति (ऋ० सं० ८, ४, ३, ३)" ॥

(५) सरण्यूः। सैवोषा प्रभातकुदयावस्था सूर्यं प्रत्यात्मानं सरणेन नयति तदा सरण्यूरुच्यते। सर्त्तेः 'पुंसि सञ्ज्ञायां घः (३, ३, ११८)'। सरेण सरणेन नयति 'मृतिमृदिकुदिभ्यः'—इति बाहुलकाश्रयतेरुकप्रत्ययः, 'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य (६, ४, ८२)'। "अजहादुहा मिथुना सरण्यूः (ऋ० सं० ७, ६, २३, २)" ॥

(६) त्वष्टा। (७) सविता। व्याख्याते (४५८ पृ०, ४७२ पृ०) तस्य कालो यदा द्यौरपहततमस्काकीर्णरश्मिर्भवति। "विनाकमख्यत् सविता वरेण्यः (य० वा० सं० १२, ३)" ॥

(८) भगः। व्याख्यातो धननामसु (२३१ पृ०)। भजनीयो भूतानां स्वकार्यप्रयुक्तानाम्। त्वष्टृकालानन्तरवर्त्तिज्योतिर्विशेषो भगाख्यः। प्रागुत्सर्पणादनाविर्भूतमण्डल इत्यर्थः। "प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम ( ऋ० सं० ५, ४, ८, २ )" ॥

(९) सूर्यः। व्याख्यातः सूर्याशब्देन (१०० पृ०) प्रागवस्थानः। सरति कर्मसु जगत् प्रेरयति वायुना घटाम्। सुष्ठु सर्वदैवोदयास्तमयौ प्रति ईर्यते। "दृशे विश्वाय सूर्यम् ( ऋ० सं० १, ४, ७, १ )" ॥

(१०) पूषा। 'पुष पुष्टौ (क्र्या० प०)'। 'श्वन्नुक्षन् ( उ० १, १५५ )'—इति कनिन्प्रत्यये उपधादीर्घत्वं निपात्यते। यदा रश्मिभिः परिपुष्टो भवति तदा पूषा। "भद्रा ते पूषन्निह रातिरस्तु ( ऋ० सं० ४, ८, २४, १ )" ॥

(११) विष्णुः। व्याख्यातो यज्ञनामसु ( ३५१ पृ० ) तीव्ररश्मिद्वारेण सर्वत्र ह्याविशति। विषेर्बाहुलकान्नुप्रत्ययादि।

विश्वं रश्मिभिर्व्यश्नुते वा। "इदं विष्णुर्विचक्रमे ( ऋ० सं० १, २, ७, २ )" ॥

(१२) विश्वानरः। व्याख्यातः ( ४५४ पृ० )। इह उत्तमोऽभिधेयः। "विश्वानरस्य वस्पतिम् (ऋ० सं० ६, ८, १, ४)" ॥

(१३) वरुणः। व्याख्यातः (४६८ पृ०)। "त्वं वरुण पश्यसि ( ऋ० सं० १, ४, ७, ५ )" ॥

(१४) केशी। (१५) केशिनः। केशा रश्मयः। प्रशंसायामिनिः। प्रकृष्टैः केशैस्तद्वान्, 'काशृ दीप्तौ ( भू० आ० )' काशनं काशः, तद्वान् काशी सन् केशी। तमसोमध्यगत आदित्य उच्यते। "केश्य१ग्निं केशी विषम् ( ऋ० सं० ८, ७, २४, १ )" ॥

(१६) वृषाकपिः। 'वृष सेचने ( भू० प० )'। 'कनिन्युवृषि ( उ० १, १५४ )'—इत्यादिना कनिन्। 'कपि चलने ( भू० आ० )'। 'कुण्डिकम्पोर्नलोपश्च (उ० ४, १३१)'—इतीप्रत्ययः ...जस्तो वा। अयश्च सेचयिता, अवश्यायादीन् कम्पयंश्च चरति, ...वा वर्तीनि भूतानि भयात् कम्पयतीति वा। 'तत्पुरुषे कृति ...लम् ( ६, ३, १४ )'—इति बहुलवचनादलुक्। "पुनरेहि वृषा... ( ऋ० सं० ८, ४, ४, ३ )" ॥

(१७) यमः। व्याख्यातः ( ४७१ पृ० )। सद्गच्छमे रश्मि...ति अस्तमयायम्य आदित्य उच्यते। "देवैः सच्छियते यमः ...० सं० ८, ७, २३, १ )" ॥

(१८) अजएकपात्। अस्तमायम्य आदित्य उच्यते। ...पर्दं ...। अजनैः पचायन्ति बाहुलकात्, वीमामयामाः। एकश्च

पादः कस्य प्रमाणः। बुन एतत् विमाने हि अग्निः पादः, वायुः पादः, आदित्यः पादः, दिशः पादः, इति। तेनाजभ्रासायैकपा- दैति। 'संख्यापूर्वस्य (५, ४, १४०) – इत्यत्रसुद्याहादपि पाद- स्याकारलोपः। एकेन पादेनांशेन सर्वमिदं जगत् ज्योतिरात्मना प्रविश्य पाति, एकेनांशेन उदकं सर्वस्य जगतः पिबति, क्विपि टकारोपजनः। एकोऽस्य पाद इत्ययथाप्रातः पादान्त्यलोपः। "पावीरवीतन्यतुरेकपादजः (ऋ० सं० ८, २, ११, ३)" ॥

(१६) पृथिवी। व्याख्यातः (५७ पृ०)। इह धौरुच्यते। "यदिन्द्राग्नी परमस्यां पृथिव्याम् (ऋ० सं० १, ७, २७, ३)" ॥

(२०) समुद्रः। व्याख्यातोऽन्तरिक्षनामसु (५१ पृ०)। निर्वचनेषु योऽयम्। उत्तमोऽभिधेयः। "महः समुद्रं वरुण- स्तिरोदधे (ऋ० सं० ७, २, २१, ३)" ॥

(२१) दध्यङ्। ध्यानं ज्ञानं लोकहत्याहस्यविषयं लोकपा- लयान्। ध्यानं प्रतिगत प्रत्यक्तमस्मिन् ध्यानमिति वा। ध्यानशब्दोपपदात् अञ्चतेः क्विनि पृषोदरादित्वात् ध्यानशब्दस्य दधिभावः, 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः (८, २, ६२)' ॥

(२२) अथर्वा। व्याख्यातोऽथर्वाण इत्यत्र (७७३ पृ०)। इह तु उत्तमो वाच्यः। न ह्ययं स्वाधिकारं व्यभिचरति, रसा- दानादिकं नित्यमनुतिष्ठतीत्यर्थः ॥

(२३) मनुः। मन्यतेर्मननार्थादर्चतिकर्मणो वा 'शृस्वृस्निहित्र- प्यसिवसिहनिक्लिदिबन्धिमनिभ्यश्च (उ० १, १०)'—इत्युप्रत्ययः। मननात् स्वाधिकारादेः, अर्च्यते इति वा मनुरादित्यः।

"यामथर्वा मनुष्पिता दध्यङ् धियमत्नत (ऋ० सं० १, ३१, ६ )" ॥

(२४) आदित्याः । आङ्पूर्वात् दातेर्दीप्यतेर्वा अघ्न्यादित्वा (उ० ४, १०८) यत्प्रत्ययः । आकारेकारयोरिकारः, दाप्रस्तु दीप्यतेः पकारस्य तकारश्च निपात्यते । भुवो रसं रश्मिभिरा दत्ते । ज्योतिषां चन्द्रनक्षत्रग्रहादीनां भासमादत्ते वा, तदुदयेऽतद्भानाद्यानव्यपदेशः । आदीप्तः ज्योतिरन्तरापेक्षया हि स्वभासा । अदितेः पुत्रा वा आदित्याः 'दित्यदित्यादित्य (४, १, ८५)'—इति ण्यः । तथा च 'अदितेः पुत्रकम्'—इत्यादि ब्राह्मणम् । असि आदित्याः मित्रादयः । "इमा गिर आदित्येभ्यो घृतस्नूः ( ऋ० सं० २, ७, ६, १ )" ॥

(२५) सप्त ऋषयः । व्याख्याताः (५६ पृ०) । रश्मयः । षडिन्द्रियाणि वा मनःषष्ठानि विद्यासप्तमानि । "सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे ( य० वा० सं० ३४, ५५)" ॥

(२६) देवाः । दिव्यतिर्दानार्थो दीप्त्यर्थो वा । पचाद्य (३, १, १३४) । दातारोऽभिमतानां भक्तेभ्यः । तैजसत्व दीप्ता वा । द्युतेर्वापि बाहुलकाद्रूपसिद्धिः । अर्थः समानः दिवः सम्बन्धिनो वा देवाः । तस्येदम् (४, ३, १२०)'—इत्यर्थे पृषद्व्यमायच्छान्दसः । 'द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत् (४, २, १०१)'—इति यत्प्रत्ययो नात्र भवति । द्युस्थाना इत्यर्थः देवा रश्मय उच्यन्ते । "देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयताम् (ऋ० सं० १, ६, १५, २)" ॥

(२७) विश्वेदेवाः। सर्वे देवाः। "विश्वेदेवास आगत (ऋ० सं० १, १, ६, १)" ॥

(२८) साध्याः। व्याख्याताः रश्मिनामसु (५७ पृ०)। नैरुक्तपक्षे रश्मयः। ऐतिहासिकानान्तु कर्मभिरात्मभिरात्मसाधनात् पूर्वे देवसमूहाः, ये च किल विश्वसृजो नाम ऋषयः। "यत्र पूर्वे साध्याः सन्तिः देवाः (ऋ० सं० २, ३, २३, ४)" ॥

(२९) वसवः। व्याख्याता रश्मिनामसु (५५ पृ०)। त्रिभागेनावस्थितमिदं सर्वमाच्छादयन्ति। अत्र त्रिस्थाने छादकत्वात्। वसवो यावत् किञ्चित् पृथिवीस्थानमभिभक्ति तत् सर्वं वसुर्यैनाभिप्रेत्यैतदुच्यते,—'अग्निर्वसुभिर्वासव इति समाख्या तस्मात् पृथिवीस्थानाः (निरु० १२, ४१)'। एवमिन्द्रो वासवः, मरुतो हि वासवाः समाख्याताः, तस्मात् मध्यमस्थानाः। वसव आदित्यरश्मयो विवासमानत्वात् तस्मात् द्युस्थानाः। "अस्मै वस वसवो वसूनि (य० वा० सं० ८, १८)" ॥ "उभया अत्र वसवो रन्त देवाः (ऋ० सं० ५, ४, ६, ३)" ॥

(३०) वाजिनः। वाजिशब्दश्चाश्वनामसु व्याख्यातः (११० पृ०) रश्मयोऽभिधेयाः। देवाश्च वाजिनः। "शन्नो भवन्तु वाजिना हवेषु (ऋ० सं० ५, ४, ५, ७)" ॥

(३१) देवपत्न्यः। देवानां पालयित्र्यः पालनीया वा। "देवानां पत्नी रुशतीरवन्तु नः (ऋ० सं० ४, २, २८, ७)" ॥

अध्यायपरिसमाप्तिर्द्विर्वचनं, श्रुतिदर्शनात् ॥

अग्निर्द्रविणोदा अश्वो वायुः श्येनाश्विनौ पट्

अत्रिगोत्रश्रीदेवराजयज्वनः कृते निघण्टुनिर्वचने
पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ॥ ५ ॥

आद्यं नैघण्टुकं काण्डं द्वितीयं नैगमन्तथा ।
तृतीयं दैवतञ्चेति समाम्नायस्त्रिधा स्थितः ॥१॥
गौराद्यपारपर्य्यन्तमाद्यं नैघण्टुकं मतम् ।
जहाद्युल्बमृबीसान्तं नैगमं सम्प्रचक्षते ॥
अग्न्यादिदेवपत्न्यन्तं दैवताकाण्डमुच्यते ॥ २ ॥

तत्र च—

अग्न्यादिर्देवीऊर्जाहुत्यन्तः क्षितिगतो गणः ।
वाय्वादयो भगान्ताः स्युरन्तरिक्षस्थदेवताः ।
सूर्य्यादिदेवपत्न्यन्ता द्युस्थानदेवता इति ॥३॥
गौरादिर्देवपत्न्यन्तः समाम्नायोऽभिधीयते ॥४॥

इति निघण्टुः समाप्तः ॥

---

॥ श्रीः ॥

## निरुक्त ( निघण्टु भागस्य ) शुद्धिपत्रम्

| पत्राङ्कम् | पङ्क्तिः | अशुद्धपाठः | शुद्धपाठः |
|---|---|---|---|
| २ | ६ | निव्रं्युधता | निभ्रं्युधता |
| ३ | १७ | शुशुधा | शुद्धा |
| १० | १३ | मूर्त्याः | मर्त्याः |
| ११ | ३ | अमीशावः | अभीशवः |
| १२ | ५ | धन्नम् | धुन्नम् |
| १२ | ११ | हलते | हेलते |
| १४ | | संयत | संयत् |
| २१ | | तृतीयोऽऽयायः | तृतीयोऽध्यायः |
| २८ | | परियाजकः | परिमाजकः |
| २८ | | धार्थें | धार्थे |
| २६ | | धृष्ट्या | धृष्ट्या |
| ३७ | | प्रत्यप्रयः | प्रत्ययः |
| ३७ | | भ्रैड् | भ्रेड् |
| ३८ | | वाणिज्य | वाणिज्य |
| ३६ | १० | गच्छत | गच्छति |

| पत्राङ्कम् | पङ्क्तिः | अशुद्धपाठः | शुद्धपाठः |
|---|---|---|---|
| ३६ | १६ | ह्लियते | ह्लियतें |
| ४० | ८ | वृहदारण्यके | वृहदारण्यके |
| ४० | ८ | मात्रा मपा | मात्रामपा |
| ४१ | ११ | र्धाप्यते | र्धाप्यंते |
| ४८ | ८ | पूर्येण | पूर्येण |
| ४८ | १० | मार्गों | मार्गोंत |
| ४८ | १८ | तर्णों | तर्णों |
| ४८ | २२ | सर्गें | सर्गें |
| ४६ | | चतुर्थों | प्रथमो |
| ५१ | | तृतीयो | ॰ |
| ५१ | ६ | मयूखा | मयूखाः |
| ५१ | १६ | रस्मिः | रश्मिः |
| ५२ | ६ | ण्य्येन | ण्येन |
| ५३ | | चतुर्थो | प्रथमो |
| ५३ | ३ | योजनाऽ | योजनाऽ |
| ५३ | ५ | रश्मिमित्त | रश्मिमित्ता |
| ५४ | १५ | ॐ | ॐ, |
| ५५ | ३ | माश्च | माश्च |
| ५५ | १५ | उमया | उमयाऽ |
| ५८ | ४ | त्यर्थे | त्यर्थं |
| ५८ | १६ | उपसर्गों | उपगर्गों |

| पृष्ठम् | पङ्क्तिः | अशुद्धपाठः | शुद्धपाठः |
|---|---|---|---|
| ५१ | ४ | धेमर्च | धेमर्थं |
| ६२ | ११ | हिमायाम् | हिंसायाम् |
| ६६ | १६ | स्लंषणम् | श्लेषणम् |
| ७० | १ | स्वयैं | स्वयं |
| ७० | ७ | सर्गैं | सर्गं |
| ७१ | ६ | वर्णैं | वर्णं |
| ७१ | १७ | कर्णी | कर्णी |
| ७१ | १८ | म | ष्ट |
| ७४ | ४ | स्वार्थैं | स्वार्थं |
| ७४ | ६ | स्थ् | स्त् |
| ७४ | ६ | स्वार्थैं | स्वार्थं |
| ७४ | २१ | सत्तैं | सत्तं |
| ७५ | ७ | ध्रंस | ध्रंसः |
| ७५ | १५ | जिघत्तैं | जिघत्तं |
| ७५ | १५ | दीङ्कुः | दीङ्कु |
| ७७ | ६ | मैंघ | मेंघ |
| ७८ | ८ | स्वार्थैं | स्वार्थं |
| ७९ | ६ | वज्र | धज्र |
| ८० | १५ | फेश्वर्य्यैं | ऐश्वर्य्यं |
| ८१ | १५ | वर्षैं ण | वर्षण |
| ८२ | २ | इद | इदु |

| पत्राङ्कम् | पङ्क्तिः | अशुद्धपाठः | शुद्धपाठः |
|---|---|---|---|
| ८२ | ११ | मेंघः | मेंघः |
| ८६ | १५ | यस्य | यस्य |
| ८८ | ४ | सर्वं | मर्वं |
| ८९ | १६ | स्वर्गः | स्वर्गः |
| ८९ | २२ | त्रिन्द्रेन | त्रिन्द्रेण |
| ९० | ३ | दर्श | दर्श |
| ९० | ५ | सन्दिधम् | सन्दिग्धम् |
| ९० | २० | शास्त्र | शास्त्र |
| ९३ | १२ | क्रिय | क्रिय् |
| ९४ | ११ | यह | यह् |
| ९६ | ६ | पृषोदर | पृषोदरा |
| ९६ | १२ | त्यये | प्रत्यये |
| ९९ | २ | कर्म | कर्म |
| ९९ | २२ | हार्थेन | हार्थेन |
| १०० | १३ | स्वार्थे | स्वार्थे |
| १०१ | १ | देवाता | देवता |
| १०१ | २० | अथत्रा | अथवा |
| १०३ | १२ | निगमा | निगमाः |
| १०३ | १७ | सृण्युदकं | सृण्युदकं |
| १०४ | ११ | यडन्त | यङन्त |
| १०६ | ६ | चौं | चौं |

| पत्राङ्कम् | पङ्क्तिः | अशुद्धपाठः | शुद्धपाठः |
| --- | --- | --- | --- |
| १२३ | १२ | सर्वें | सर्वें |
| १२४ | ६ | त्रिर्णेयः | त्रिर्णेयः |
| १२५ | १० | सर्गें | सर्गें |
| ११६ | ५ | सङ्ख्या | सङ्ख्या |
| १३१ | १ | सयन्ध | सम्बन्ध |
| १३१ | १२ | स्थैर्यें | स्थैर्यें |
| १३२ | ३ | | ( |
| १३२ | ५ | प्रजन | प्रजनन |
| १३२ | ८ | मुख्यार्थों | मुख्यार्थों |
| १३३ | ८ | सर्यें | सर्यें |
| १३३ | १७ | वर्तमाने | वर्तमाने |
| १३४ | १६ | ऋषयः | ऋषयः |
| १३६ | ३ | निरस्त | निरस्तया |
| „ | ६ | गम्भीर | गम्भीरऽ |
| „ | १५ | अजधनाथ | अजधनाथऽ |
| १३१ | २२ | दर्यें | दर्यें |
| १४० | ७ | पूर्ववत् | पूर्ववत् |
| १४० | १७ | यहो | यहोऽ |
| „ | १७ | वर्तते | वर्तते |
| १४२ | ६ | „ | „ |
| [illegible] | ३ | निश्चि | निश्चि |

| पत्राङ्कम् | पङ्क्तिः | अशुद्धपाठः | शुद्धपाठः |
| --- | --- | --- | --- |
| १४३ | ८ | घर्मर्थें | घर्मर्थे |
| १४५ | ३ | त्यर्थंः | त्यर्थः |
| १४६ | १० | रुद्र | रुद्रं |
| १. | १४ | कर्मिनं | कर्मिनें |
| १४८ | ८ | ह्रैंमः | ह्रैंमः |
| १४८ | १८ | स्थैर्यं | स्थैर्यं |
| १५२ | २० | पूर्वें ण | पूर्वेण |
| १५४ | १० | म्वोपर्णीय | म्वोपर्णीयः |
| १५६ | १ | हर्द्र | हर्दं |
| " | १६ | यलं | यलं |
| १५६ | ४ | नद्या | नद्यो |
| १६० | २ | धामत्या | धामत्याऽ |
| १६० | २ | कर्पे | कर्णे |
| १६० | १८ | घम | घम् |
| १६२ | १ | चक्षुः | चक्षुः |
| १६४ | ८ | ईंषद्दः | ईंषद्दुः |
| १६४ | ८ | कृष्कार्येष | कृष्कार्येषु |
| १६५ | २१ | क्षीयतेर्वो | क्षीयतेर्वो |
| १७० | २ | युयुजे | युयुजेऽ |
| १७० | ८ | यदेतद्युक्त | यदेदयुक्त |
| १७१ | ७ | कृग | कृग<br>६६ |

| पत्राङ्कम् | पङ्क्तिः | अशुद्धपाठः | शुद्धपाठः |
|---|---|---|---|
| १७४ | १८ | शृङ्गाणिः | शृङ्गाणि |
| १८० | १८ | कर्तृन् | कर्तृन् |
| १८४ | १ | करिफत् | करिष्यत् |
| १८१ | १ | कर्त्तौं | कर्तौ |
| १९४ | | निघण्टः | निघण्टुः |
| १९५ | १ | कृपूपः | कृप्यः |
| १९८ | १२ | इत्यस्मात | इत्यस्मात् |
| २०१ | १४ | स्यौ | इत्यौ |
| २०४ | ६ | २५ | २ |
| २०७ | ५ | इपि यनि | इति यनिप् |
| २०८ | ८ | अप्रलोपः | प्रलोपः |
| २०६ | ६ | (५) | (६) |
| २०६ | ६ | निर्वचने | निर्यचने |
| २०६ | १० | | इति युच् |
| २१० | २१ | लौंपः | लौपः |
| २१२ | ६ | मिप | मिण् |
| २१३ | ८ | विसर्जनीयः | विसर्जनीयः |
| २१६ | १५, १६ | समर्यों गत | समर्यो गा ऽ |
| २१७ | १६ | हयंतः | हर्यतः |
| २२० | १४ | मर्यों | मर्यो |
| २२२ | १४ | प्रजन | प्रजनन |

| पत्राङ्कम् | पङ्क्तिः | अशुद्धपाठः | शुद्धपाठः |
| --- | --- | --- | --- |
| १६४ | २ | शृत्रुन् | शत्रून् |
| ” | ४ | ३१ | २१ |
| २६६ | १४ | धर्मं | धर्मं |
| ३०१ | ७ | नार्यँ | मार्यं |
| ३०२ | ६ | सतिः | सनितः |
| ” | १५ | स्त्रिश | त्रिश |
| ” | १५ | पष्टि | पष्टि |
| ३०८ | ४ | महत्तवम् | महत्त्वम् |
| ३०८ | ५ | वृद्धयर्थे | वृद्धयर्थं |
| ३०६ | ६ | देवा | द्वां |
| ३०६ | ७ | द्वया | द्वा |
| ३०६ | १० | इपते | ईपते |
| ३११ | १ | विभर्त्तैः | विभर्त्तः |
| ३१४ | २ | मर्यौं | मर्यौं |
| ३१४ | १० | न्येषणीय | न्येषणीयः |
| ३१६ | ४ | कमसु | कर्मसु |
| ३२१ | १८ | शन्ताने | सन्ताने |
| ३२२ | १५ | दुःस्वम् | दुःखम् |
| ” | १५ | के मि | केमि |
| ” | १६ | शशेः | शृषेः |
| ३२३ | १० | पितु | पितु |

| पत्राङ्कम् | पङ्क्तिः | अशुद्धपाठः | शुद्धपाठः |
|---|---|---|---|
| ३२१ | १६ | इनि | इति |
| ३३० | १६ | प्राप्य | प्राप्त्य |
| ३३४ | १३ | ब्रा्मणा | ब्राह्मणा |
| ३४४ | ८ | रुपम् | रूपम् |
| " | १० | स्त्रॄति | स्तौति |
| ३५० | २ | ड्रा | द्रूरा |
| ३५१ | ५ | यर्कै: | अर्कै: |
| ३५२ | १० | यर्हियैं: | यर्हियैं: |
| ३५५ | १७ | भावस्य | भावस्य |
| ३५६ | १६ | यांघ्रा | यांघ्रा |
| ३५७ | १ | ( ˙ ) | (१) |
| ३६२ | ४ | सग | सर्गं |
| ३६४ | २२ | धच्छेद्नेन | सन्धिच्छेदनेन |
| ३६७ | ८ | इं | ईं |
| ३७८ | ४ | ज्यों तिपा | ज्योंतिपा |
| " | ५ | स्यृः | स्यः |
| ३७६ | ४ | सत्त | सत्तेऽ |
| ३८२ | | निघण्टः | निघण्टुः |
| ३८४ | १६ | घम | घम् |
| ३८७ | २ | पर्त्यॉक्ष | पर्त्यॉक्ष |
| ३९४ | १ | व्रम | द्रुम |

| पत्राङ्कम् | पङ्क्तिः | अशुद्धपाठः | शुद्धपाठः |
|---|---|---|---|
| ३६४ | १ | द्रुपदे | द्रुपदे |
| " | २ | " | " |
| ४०१ | २२ | त्वयम | त्वयस्ऽ |
| ४०२ | २१ | धार्य्यम | धार्य्यम् |
| ४०५ | १७ | श्रेष्ठ | श्रेष्ठं |
| ४०६ | १३ | मन्त्लैः | मन्द्रतैः |
| ४०७ | ८ | विसजं | विसर्जं |
| ४०६ | १४ | थाल | थाल् |
| ४०६ | १५ | इयार्थं | इयार्थे |
| ४१० | ८ | सर्गो | सर्गो |
| ४१२ | १ | मुंखरव्य | मुंरव्य |
| " | २२ | (४) | (४७) |
| ४१५ | १३ | तूर्णं | तूर्णं |
| ४१६ | १३ | त्रना | घना |
| ४१७ | २२ | स० | सं० |
| ४२० | १५ | स | से |
| ४२० | २० | सर्गे | सर्गे |
| ४२१ | | चतुर्थो | चतुर्थो |
| ४२१ | ४ | घर्णस्तु | घर्णशु |
| ४२३ | ५ | अप्त्वे | अप्वे |
| ४२६ | ११ | गुणा भाव | गुणाभाव |

| पत्राङ्कम् | पङ्क्तिः | अशुद्धपाठः | शुद्धपाठः |
|---|---|---|---|
| ४२७ | ८ | दघ्नो | दघ्नो |
| ४२८ | ७ | तृप | तृम्प |
| ४३१ | | चतुर्थां | चतुर्थों |
| ४३१ | १६ | हादकम् | ह्रा दकम् |
| ४३२ | १ | सर्चतः | सर्वतः |
| ४३७ | २८ | सुष्टुः | सुष्टु |
| ४४२ | | निघण्टः | निघण्टुः |
| ४४३ | २२ | मूमि | भूमि |
| ४४६ | ११ | अर्थणत्र | अर्थणस्त्र |
| ४४६ | ११ | वचर्नी | वचनो |
| ४४८ | २२ | च्छार्थों | च्छार्थों |
| ४४६ | ८ | सम्पर्वात् | सम्पूर्वात् |
| ४४६ | ६ | सगें | सगें |
| ४५१ | १ | श्रतिः | श्रुतिः |
| ४५२ | २० | विध्रि | विधी |
| ४५४ | ११ | कारः | गकारः |
| ४५५ | १६ | लक्षपं | लक्षणं |
| ४५७ | २० | प्रथमार्थे | प्रथमार्थं |
| ४५८ | १६ | पूर्व | पूर्वं |
| ४५६ | १५ | स्याता | स्यातो |
| ४६० | १ | उग्रयतः | उग्रयतेः |

| पत्राङ्कम् | पङ्क्तिः | अशुद्धपाठः | शुद्धपाठः |
|---|---|---|---|
| ४६० | ४ | मयासिः | मयासि |
| ४६० | १८ | भस्न | भस्तु |
| ४६१ | ७ | नैं रुक्त | नैरुक्त |
| ४६२ | १८ | भग्था | भस्त्रा |
| ४६३ | १८ | शाब्द | शाब्दे |
| ४६४ | ८ | (स०) | (सं०) |
| ४६७ | २ | प्सन | प्सन् |
| ४६८ | ६ | अहियु | अहिर्यु |
| ४७२ | १० | स्तीर्पे | स्तीर्णे |
| ४७२ |  | निघण्टः | निघण्टुः |
| ४७६ | ४ | यति | द्रयति |
| ४७७ | ४ | विद्यन् | विद्युन् |
| ४७७ | ८ | विद्यत् | विद्युत् |
| ४८५ | ३ | संह्यास | संख्यासु |

इति निरुक्ते ( निघण्टु भागस्य ) शुद्धाशुद्धि पत्रम् ।

ॐ तत्सत्